ॐ

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–अष्टम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

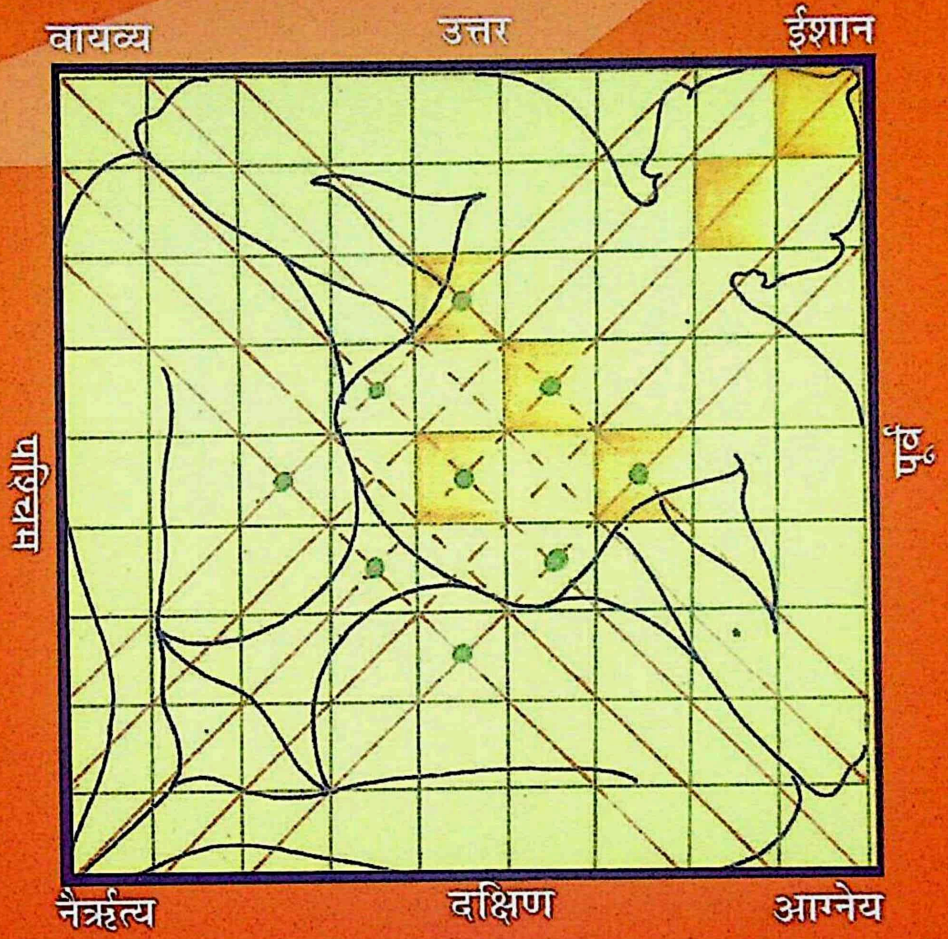

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ISSN :- 0976-4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–अष्टम पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपतिः

सम्पादक
प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष

M.Katyayana

वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली-११००१६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रकाशक–
वास्तुशास्त्र विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
वुफतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली–११००१६

ISSN :- 0976-4321

© प्रकाशक

संस्करण – २०१५

मूल्य २००/–

प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस ग्रन्थ के किसी भी अंश का अनुवाद या किसी भी रूप में उपयोग करना सर्वथा वर्जित है।

मुद्रक:
अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली–११०००९
९८७१६९९५६५, ८८०२४५१२०८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पुरोवाक्

भारतीय जनमानस वेदों को अपौरुषेय एवं अनादि मानता है। अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य वेद है, जो वास्तुशास्त्र के स्थापत्य, शिल्प एवं चित्र के अद्भुत संगम व जनोपयोगिता के कारण अत्यधिक लोकप्रिय है। आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिषशास्त्र के संहितास्कन्ध के अन्तर्गत ही वास्तुविद्या का सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। यहीं से ज्योतिष शास्त्र में वास्तुशास्त्र का वर्णन उपलब्ध होता है। इन दोनों ही शास्त्रों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ ज्योतिषशास्त्र कालविधान का गहन विचार एवं विश्लेषण करता है वहीं वास्तुशास्त्र देश, दिशा, वातावरण एवं गुरुत्वाकर्षणादि प्राकृतिक प्रभावों का अध्ययन कर मानव जीवन को सुखमय, सुविधायुक्त एवं सुरक्षित रखने का प्रयत्न कर जनमंगल की उदात्त भावना को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार दोनों का सामंजस्य ही दिग्, देश, काल एवं वातावरण आदि विषयों का विश्लेषण कर मानव जीवन को सर्वविध सुख, शान्ति, सुरक्षा एवं सुविधा प्रदान करना है।

वास्तुशास्त्र जहाँ एक ओर कला, शिल्प, आलेखरूपी भौतिकता से परिपूर्ण है, वहीं पूर्णरूप से आध्यात्मिकता से आप्लावित भी है। भारत की इस अद्भुत कला से विश्व आश्चर्य चकित है। यह कला आध्यात्मिक अनुप्राणिता के कारण मानसिक सुख, शान्ति एवं सद्विचारों से भी प्रभावित है। जहाँ वास्तुशास्त्र के विभाग स्थापत्य, शिल्प एवं चित्र तीनों भौतिक चकाचौंध से परिपूर्ण और परिमार्जित हैं वहीं आदिदैविक रूप में स्थित वास्तुपुरुष और उसमें अधिष्ठित पंचचत्वारिंशत् (45) देवता वास्तु को एक चैतन्य रूप प्रदान करते हैं। यहीं भौतिक-अभौतिक का एकीकृत रूप मानव को चतुर्वर्ग फल प्रदायक कहा गया है। यथा-

यत्प्रसादान्मया ज्ञातं वास्तुशास्त्रमिदं ततम्।
शास्त्रेणानेन सर्वस्य लोकस्य परमं सुखम्॥
चतुर्वर्गफलप्राप्तिस्सलोकश्च भवेद् ध्रुवम्।
शिल्पशास्त्रपरिज्ञानान्मर्त्योऽपि सुरतां व्रजेत्॥[1]

1. विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् 2/29-31

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भारतीय वास्तु सूक्ष्म से सूक्ष्मतम और महान् से महत्तम है। गृह चिन्तन में वह अणोरणीयान् है और ब्रह्माण्ड के चिन्तन में वह महतो महीयान् है। वास्तु भारतीय संस्कृति का बड़ा ओजस्वी अंग है। यह वह है जहाँ पार्थिव-अपार्थिव दोनो का संगम होता है। व्याख्या का यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि हमने भौतिक पक्ष को गौण माना है, वस्तुतः ऐसा नहीं है, हमने तो अध्यात्म एवं भौतिक को सदैव संतुलित रखा। भौतिक की उद्दाम गति का सदैव अध्यात्म से निरोध होना चाहिए तभी प्रक्रिया सनातन रह सकती है। अन्यथा भौतिकवादी भस्मासुर अपने जनक शिव को ही भस्म करने का प्रयास करेगा।

इस प्रकार के वास्तुशास्त्र का अध्ययन सदैव मानव व समाज के लिए अभ्युदयकारी होता है। इसी कारण विद्यापीठ में वास्तुशास्त्र के स्वतन्त्र एवं गम्भीर अध्ययन, अध्यापन एवं शोध के उद्देश्य से वास्तुशास्त्र विभाग की स्थापना की गई है। जिसका प्रमुख लक्ष्य इस शास्त्र से सम्बन्धित धीर-गम्भीर विषयों को आधुनिक वास्तुकला से जोड़कर इसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों में सामंजस्य स्थापित करना है। इसी उद्देश्य से वास्तुशास्त्र विभाग के अध्यक्ष प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी जी विगत कई वर्षों से 'वास्तुशास्त्रविमर्श' का निरन्तर प्रकाशन करते आ रहे हैं। इनके इस सारस्वत साधना के लिए मैं इन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ। वास्तुशास्त्र विमर्श का अष्टम पुष्प सुधीजनों के अध्ययनार्थ समर्पित करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। आशा है कि इस ज्ञानदीप के प्रकाश से आलोकित होकर वास्तुशास्त्र सम्बन्धी कई अन्धविश्वास एवं भ्रम नष्ट होंगे। शुभमिति।

मार्गशीर्ष पूर्णिमा, वि.सं.2071
दिनांक 25.12.2015

प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय
कुलपति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सम्पादकीय

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥[1]

भी सुखी हों, सभी निरोगी हों, सभी कल्याण को देखें और किसी को लेशमात्र भी दुःख न हो।

सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों की इसी अवधारणा ने मानव के सभी प्रकार के ख-दुःख के विषय में विचार करना प्रारम्भ किया । स्वभावतः मानव को प्रथम दृष्ट्या ख-दुःख भौतिक संसाधनों में ही दृष्टिगोचर हुआ, भौतिकता की प्रचुरता के पश्चात् ही सी का ध्यान वास्तविक सुख-दुःख प्रदान करने वाली अवधारणा आदिदैविक एवं ाध्यात्मिक की ओर गया होगा । **दुःखत्रयाभिघातात्**[2] के अनुसार सर्वविध दुःख के ारण आदिभौतिकता, आदिदैविकता एवं आध्यात्मिकता ही मानी जाती है। वैशेषिकदर्शन कहा है -**'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**[3] अर्थात् जिससे अभ्युदय (भौतिक मृद्धि) तथा निःश्रेयस (आध्यात्मिक उन्नति) की प्राप्ति हो, वही धर्म है। वास्तुशास्त्र र्ण रूप से भौतिक-अभौतिक का ही सम्मिश्रण है, क्योंकि विना अभौतिक देवत्व चिन्तन े भारतीय सनातन ज्ञान का कोई भी अस्तित्व नहीं है। परमेश्वर और उनकी ज्ञानेच्छा, क्रया व सामर्थ्य एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। इन दोनों को शिव और शक्ति के रूप में खा जा सकता है। मूलतः 'शिव' में इकार ही **'इडा'** नामक प्राणशक्ति है। विना इकार रूपी शक्ति के शिव, शव है । इ-कार रूपी शक्ति को भौतिक परिवर्तन के लिए शव भौतिकपिण्ड अथवा भौतिक पदार्थ) की आवश्यकता होती है। शक्तिहीन शिव, शव के मान निश्चेष्ट एवं जड़ है। शिव से रहित शक्ति भी निराश्रय और निरर्थक होकर टिक हीं सकती है। यही वेद की परादेवता शक्ति है। जैसे जैसे भौतिक जगत् का विकास ोता है वैसे वैसे यह आदि परादेवता नाम की शक्ति नाना रूप धारण करती है। प्रत्येक

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद 1.4.14-बृहदारण्यक उपनिषद 1.4.141.
2. सांख्यकारिका श्लोक 1
3. वैशेषिकसूत्र 1.1.2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भौतिक पदार्थ में यही शक्ति अभौतिकरूप में विद्यमान रहती है, इसीलिए भारतीय सनातन चिन्तन ने कण-कण में राम की अवधारणा को स्वीकार किया है। इस आदिभौतिक, आदिदैविक एवं आध्यात्मिक जगत में जितनी भी शक्तियाँ अनुभूत या दृष्टिगोचर होती हैं, सभी इस पराशक्ति के ही भेद हैं। इसीलिए भारतीय वैदिक सनातन चिन्तन ने देवताओं की संख्या असंख्य कही है। भारतीय सनातन चिन्तन परम्परा ने सदा भौतिक एवं अभौतिक पक्ष को सन्तुलित रखा। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद की एक ऋचा में वर्णन मिलता है कि -

अन्धः तमः प्र विंशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥[1]

अर्थात् जो मानव अविद्या (भौतिक)की ही केवल उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जाते हैं और जो केवल विद्या (आध्यात्मिक)में रमते हैं वे तो उनसे भी अधिक गहनतम अन्धकार में जाते हैं।

इस मन्त्र में ऋषि ने सारगर्भित निर्वचन किया है, जो आज के सन्दर्भ में बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है। अविद्या का अभिप्राय भौतिक विद्या, अनीश विद्या, प्रकृति विद्या, सृष्टि विद्या और जगत् विद्या तथा विद्या का अभिप्राय ईश विद्या, ब्रह्म विद्या तथा आत्म विद्या है। अतः कह सकते हैं कि अविद्या भौतिक और विद्या अभौतिक ज्ञान है। वैदिक ज्ञान ने सदा भौतिक एवं अभौतिक ज्ञान को संतुलित रखा। मात्र एक श्रेष्ठ है, यह नहीं कहा क्योंकि अभौतिक के लिए भौतिक सत्ता परम आवश्यक है। विना भौतिक सत्ता के अभौतिक को नहीं समझा जा सकता है। किसी भी आत्मतत्त्व के लिये एक शरीर की आवश्यकता होती है। विना शरीर के आत्म सत्ता नहीं रह सकती है क्योंकि शरीर ही आत्मा का अधिकरण है और आत्मा ही परमात्मा का सूक्ष्मतम रूप है। गणित शास्त्र के अनुसार आत्मा और परम-आत्मा में वही सम्बन्ध है जो शून्य और अनन्त में है।

भारतीय वास्तुशास्त्र की देवत्व भावना ही वास्तु का आदिदैविक रूप है और यहीं अभौतिक है। विना इसके कोई भी वास्तुशास्त्रीय निर्माण उपभोग के लिए उपयुक्त नहीं है। भारतीय समस्त ज्ञान के आदि स्रोत वेद ही इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं कि गृह की सुख समृद्धि का कारण वास्तोष्पति देवता हैं । अतः उनकी प्रार्थना प्रत्येक गृही को करनी चाहिए । यथा-

---

1. यजुर्वेद 40.12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रतितन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[1]

हे वास्तोस्पते! तुम हमको समझो, हमारे घर को निरोग करने वाले होवो, जो धन हम तुमसे मांगे, हमे दे दो, हमारे द्विपद् एवं चतुष्पदों के लिये कल्याणकारी होओ।

उत्तर वैदिक काल में स्थापत्य वेद के रूप में वास्तुशास्त्र की स्वतन्त्र चर्चा उपलब्ध होती है। **यथा- सर्वेषामेव वेदानामुपवेदा भवन्ति- ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः सामवेदस्य गान्धर्ववेद उपवेदोऽथर्ववेदस्य स्थापत्यवेद उपवेद इत्याह भगवान् कात्यायनः।**[2]

उत्तर वैदिक काल में जिस शास्त्र ने स्वतन्त्र रूप में प्रत्येक वस्तु का विचार कर जीवनोपयोगी संसाधनों का निर्माण एवं स्थापना की वही स्थापत्यवेद के रूप में प्रख्यात हुआ। वेद में वास्तुविषयक चर्चा बहुत स्थलों पर उपलब्ध होती है। वैदिक उपाख्यानों से स्पष्ट होता है कि यह शास्त्र वैदिक अवधारणा को लेकर ही आगे बढ़ा। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र, बृहत्संहिता एवं शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र का विस्तृत वर्णन मिलता है। वास्तुशास्त्र के स्वतन्त्रग्रन्थों में वास्तुशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत बताया गया है। यथा-

सामुद्रं गणितं चैव ज्योतिषं छन्द एव च ।
सिराज्ञानं तथा शिल्पं यन्त्रकर्मविधिस्तथा।।
एतान्यङ्गानि जानीयाद् वास्तुशास्त्रस्य बुद्धिमान्।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही वास्तुशास्त्र भारतीय समाज में अत्यन्त सम्मानित रहा है। जीवन को सुव्यवस्थित एवं सुसंस्कृत बनाने में वास्तुशास्त्र रूपी विज्ञान एवं कला का सर्वाधिक योगदान रहा है। उत्तम गृहादि का निर्माण ही सुख-समृद्धि एवं चतुर्वर्गफल प्रदान करने वाला होता है। उत्तम गृहादि निमार्ण कार्य में योग्य व कुशलस्थपति का सर्वाधिक योगदान वैदिक महर्षियों ने स्वीकार किया है। एक अच्छे शास्त्रज्ञ स्थपति के विना गृह में आनन्द, स्फूर्ति, कार्यक्षमता, सुख एवं शान्ति की कल्पना करना ही व्यर्थ

---

1. ऋग्वेद 7/54/1
2. वेदशाखापर्यालोचनम् कात्यायनकृतश्च संस्कृतव्याख्यया समलंकृतः चरणव्यूहः, पृष्ठम्-71, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, संस्करण-2001
3. समराङ्गणसूत्रधारः 44/03-04

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है। सम्प्रति समाज में उत्तम सम्यक् शास्त्रीय स्थपतियों का अभाव सर्वत्र दिखाई देता है। सैद्धान्तिक पक्ष में निपुण वास्तुशास्त्री व्यावहारिक पक्ष से अधिकांशतः अपरिचित होते हैं तथा क्रियापक्ष में निपुण शिल्पी प्रायः कला के सैद्धान्तिक पक्ष से अनभिज्ञ होते हैं। सम्प्रति संस्कृतभाषा में निबद्ध वास्तुशास्त्र के मानकग्रन्थों का अध्ययन दुष्कर होता जा रहा है। इस शास्त्र के सम्यक् शास्त्रीय ज्ञानाभाव के कारण समाज को भयंकर परिणाम भुगतने पड़ रहे हैं। अतः इस शास्त्र के सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों पक्षों के अध्ययन अध्यापन करवाने की दृष्टि से श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) का वास्तुशास्त्रविभाग निरन्तर क्रियाशील है। इसी दृष्टि से विद्वानों एवं शोधार्थियों के निबन्धों से सुसज्जित **वास्तुशास्त्रविमर्श** का प्रकाशन विगत कई वर्षों से विभाग द्वारा अनवरत किया जा रहा है।

इस **वास्तुशास्त्रविमर्श** के अष्टम पुष्प के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं सर्वप्रथम संस्कृत व संस्कृति के संरक्षक परमश्रद्धेय कुलपति महोदय प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय जी को सादर अभिनन्दनपूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके सन्मार्गनिर्देशन एवं संरक्षकत्व में वास्तुशास्त्र विभाग का यह पुष्प सुधी पाठकों के करकमलों में है। इस अवसर पर मैं पुण्यस्मरण पूर्व कुलपति स्व. प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी एवं पूर्व ज्योतिषविभागाध्यक्ष स्व. प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी को श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ, जिनके सत्प्रयासों से ही वास्तुशास्त्रविभाग पल्लवित हो रहा है। इस कार्य में कुशल प्रशासक कुलसचिव महोदय डॉ. विजयकुमार महापात्र जी का सराहनीय योगदान रहा है, एतदर्थ मैं उन्हें कृतज्ञता पूर्वक धन्यवाद देता हूँ। इसी सन्दर्भ में त्रिस्कन्धज्योतिषशास्त्र के मूर्धन्यविद्वान् प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी, पं. रामदेव झा एवं ज्योतिष विभाग के आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष प्रो. प्रेमकुमार शर्मा व विभागीय समस्त विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिनके सत्परामर्श एवं सहयोग से **वास्तुशास्त्रविमर्श** का यह पुष्प प्रकाशित हो सका। मुद्रणकार्य हेतु अमर प्रिटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृदजनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। शमिति।

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष
वास्तुशास्त्रविभाग

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शोध एवं प्रकाशन समिति

1.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी, वास्तुशास्त्र विभागाध्यक्ष	अध्यक्ष
2.	प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी	सदस्य
3.	प्रो. रामदेव झा	सदस्य
4.	डॉ. सुशील कुमार	सदस्य
5.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विषयानुक्रमणिका

1.	गृहवास्तुपरिशीलनम्	**डॉ. अशोक थपलियाल** सहायकाचार्य, ज्योतिषविभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपालपरिसर, भोपाल-462043 (म.प्र.)
2.	वास्तौ देवालयविधानम्	**डॉ. रश्मि चतुर्वेदी** सहायकाचार्या, ज्योतिषविभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16
3.	परमशायिक एकाशीति पदविन्यास	**श्री रामेन्द्र पाण्डेय** सम्पादक- स्थापत्यम्, 103, फर्स्ट फ्लोर,वर्धमान ए.सी. मार्केट, विज्ञान विहार, दिल्ली-92
4.	नगरनिर्माणार्थ भूमि चयन	**डॉ. सुधीर कुमार** निदेशक, हरियाणा संस्कृत अकादमी पंचकुला, हरियाणा
5.	शुल्बसूत्र एवं वास्तुशास्त्र में आधाराधेय सम्बन्ध	**डॉ. सुन्दरनारायण झा** सहायकाचार्य, वेद विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16
6.	मर्म स्थान	**डॉ. शिवाकान्त मिश्र** सहायकाचार्य, ज्योतिषविभाग, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
7.	सास-बहू का मन्दिर	**डॉ. उमाशंकर** सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7
8.	वास्तुशास्त्र एवं जलव्यवस्था	**डॉ. सुशील कुमार** सहायकाचार्य, ज्योतिषविभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

9.	देवप्रासाद विधान	**डॉ. कैलाश चन्द्र शर्मा** सहायकाचार्य, ज्योतिषविभाग, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
10.	वास्तुशास्त्र एवं रोग निर्धारण	**डॉ. शुभस्मिता मिश्र** सहायकाचार्य, ज्योतिषविभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर त्रिवेणी नगर, जयपुर, राजस्थान
11.	नगरविन्यास योजना	**सुश्री नीतू कुमारी** शोधछात्रा-वास्तुशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16
12.	ऋग्वैदिक वास्तु-व्यवस्था	**श्री योगेन्द्रकुमार शर्मा** शोधछात्र-ज्योतिष विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16 **डॉ. रविन्द्रप्रसाद उनियाल** शोधछात्र-ज्योतिष विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16
13.	गृहारम्भप्राक् विचारणीय कृत्य	**श्री शिवप्रसाद रैणा** शोधछात्र-वास्तुशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16
14.	देव प्रतिमा लक्षण	**श्री विजय कुमार** शोधछात्र-ज्योतिष विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर, भोपाल-462043
15.	गृह निर्माण में मुहूर्त विचार	**डॉ. नवीन राजपूत** प्रोफेशनल असिस्टेण्ट, पुस्तकालय श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली - 16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

M.Katyayana

गृहवास्तुपरिशीलनम्

डॉ. अशोकथपलियालः

मनुष्यस्य मूलभूतावश्यकतास्वावासव्यवस्थाऽन्यतमाऽस्ति। भोजनवस्त्रयोरावश्यकतायाः अनन्तरं सुरक्षादृष्ट्या सुविधाप्राप्त्यर्थञ्च मनुष्येन स्वबुद्धिकौशलेन कृत्रिमावासनिर्माणङ्कृतम्। विकासक्रमेणैव सह तस्य आवासकलेवरेऽपि महत्वपूर्णानि परिवर्तनानि जातानि। अनवरतशोधानन्तरं स्वावासस्थलानां दोषान् दूरीकरणेऽपि च तस्मिन् सुरक्षया सह सुविधानां प्रबन्धने तेन साफल्यता प्राप्ता। स्थपतयः इमां कलां भौतिकस्वरूपं प्रदत्तवन्तः परन्त्वस्माकमाचार्याः भवननिर्माणकलां शास्त्रीयकलेवरं प्रदाय नियमेषु सुबद्धं कृतवन्तः। वास्तुशास्त्रनाम्ना प्रसिद्धेयं भवननिर्माणकला तावत्येव प्राचीना यावत्येव मानवसभ्यता वर्तते।

वास्तुशब्दस्य तात्पर्यं निवासस्थानमस्ति। अस्य शब्दस्योत्पत्तिः 'वस्'धातोः, यत्तु निवासार्थे प्रयुक्तो भवति। अनेन प्रकारेण वास्तोः तात्पर्यं भवननिर्माणयोग्यभूखण्डेनास्ति। भूखण्डस्य शुभाशुभपरीक्षणं भवननिर्माणविधेश्च ज्ञानं येन शास्त्रेण भवति तदेव वास्तुशास्त्रम्। प्राकृतिकतत्त्वानां पंचमहाभूतानां च सामंजस्येन उत्तमभवनस्य निर्माणयोजनाऽतिप्राचीनकालादेव वास्तुशास्त्रस्योद्देश्यमस्ति। वास्तुशास्त्रं पंचमहाभूतैः निर्मिते जीवने एतेषां महाभूतैः निर्मितवातावरणेन साकं तस्य सामञ्जस्यं स्थापयति। एतेषां महाभूतानां संतुलेनैव प्राणिनः क्रियाशीलाः स्वस्थाश्च भवन्ति। परन्त्वेतेषामसंतुलेनैव प्राणिनः निष्क्रियाः अस्वस्थाश्च भवितुं शक्यन्ते। अतः मानवस्य शारीरिकमानसिकक्षमतासु अभिवृद्धिं कृत्वा जीवनं स्वस्थं गतिशीलं च कर्तुं वास्तुशास्त्रस्य आचार्याः मानकनियमानां सिद्धान्तानां च प्रतिपादनं कृतवन्तः।

भारते पुराकालादेव वास्तुकलायाः अद्भुतोदाहरणानि प्राप्यन्ते। भारतीयाः अस्य शास्त्रस्य विकासः स्वजीवन एतेषामुपयोगितां समभिलक्ष्य कृतवन्तः। यस्य वर्णनं वेदेषु पुराणेषु प्राचीनसाहित्येषु वास्तुशास्त्रस्य मानकग्रन्थेषु च प्राप्यते। वैदिककालस्य यज्ञमण्डप-यज्ञशाला-पर्णकुटी-गोशाला-प्रासादप्रभृतिरचनाः रामायणकालस्यायोध्या-लंकाप्रभृतिनगराणां योजना,महाभारतकालस्य मयासुरनिर्मिताः इन्द्रप्रस्थनगर-सभाभवनादयः, विश्वकर्मणा द्वारकानगरस्य योजना, सिन्धुघाटीसभ्यतायाः नगरनिर्माणयोजना, मौर्यराजवंशकालिकभवनादयः सुदर्शनजलाशयश्च, प्राचीनहिन्दूशासकैः निर्मिताः राजप्रासाद-दुर्गादिसंरचनाः मध्यकालिकराजपूतशासकानां मुस्लिमशासकानां च दुर्गादिसंरचनाः भारतीयानां दक्षतां कलाप्रियताञ्च प्रदर्शयन्ति।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्रमिदं प्राचीनवैदिककालेऽथर्ववेदस्योपवेदरूपे स्थापत्यवेदनाम्ना प्रसिद्धमासीत्। प्राचीनकाले गृहाणां निर्माणमेव वास्तोरन्तर्गतः समाविष्टः आसीत्। कालान्तरे गृहाणां विकासेन सह ग्राम-नगर-महानगरादीनां विकासः जातः। येन एते सर्वे वास्तुशास्त्र एव परिगणिता अभवन्। किंचित् कालादनन्तरं शिल्पालेखकलेऽप्यस्यान्तर्गते जाते। अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रस्य परिणाहे भवन-प्रासाद-नगर-दुर्ग-प्रतिमा-आलेखन-शयनासनादयोऽभवन्। आचार्यैः वास्तुशास्त्रस्य विभिन्नांगेष्वपरि स्वतन्त्रग्रन्थाः रचिताः। तेषु विश्वकर्मप्रकाश-मयमत-बृहत्संहिता-समरांगणसूत्रधार-मानसार-प्रासादमण्डन-वास्तु-राजबल्लभ-वास्तुसारप्रभृतयः ग्रन्थाः मानकग्रन्थरूपे सुप्रतिष्ठिताः सन्ति।

वास्तुशास्त्रस्य ज्योतिषशास्त्रेण सह सम्बन्धः -

भारतीयज्योतिषशास्त्रस्यैका समृद्धा विकसिता च शाखा वास्तुशास्त्रमस्ति। ज्योतिषशास्त्रस्य त्रयः स्कन्धाः सन्ति - सिद्धान्तः संहिता होरा चेति। एतेषु संहितास्कन्धान्तर्गतं वास्तुशास्त्रं समागच्छति। अनेन प्रकारेण वास्तुशास्त्रस्य ज्योतिषशास्त्रेण सह अंग-अंगीभावसम्बन्धो वर्तते। ज्योतिषशास्त्रं जीवने समागतानां दुःखानां कारणचतुष्टयं स्वीकरोति- वंशानुक्रमः वातावरणं कर्म कालश्चेति। एतेषु वातावरणस्य मुख्यतया विचारः वास्तुशास्त्रमेव करोति। परन्त्वन्ये त्रयः घटकाः अपि महत्त्वपूर्णाः सन्ति, येषां विचारः ज्योतिषशास्त्रं करोति। जन्मकुण्डलीमाध्यमेन जातकस्य वंशानुक्रम-कर्म-कालानां विषयेऽनुमीयते। अनेन कारणेन वास्तुविचारसमये ज्योतिषीयदृष्टिकोणेनापि विचारः आवश्यकः प्रतिभाति। वास्तुयोजनायां सर्वप्रथमं सूक्ष्मदिग्ज्ञानस्यावश्यकता भवति। यतः दिङ्मूढे हानेः सम्भावना भवति। यथोक्तं वृद्धनारदेन-

प्रासादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुण्डे विशेषतः।
दिङ्मूढे कुलनाशः स्यात्तस्मात् संसाधयेद्दिशः॥[1]

अस्य ज्ञानं तु सिद्धान्तज्योतिषशास्त्रे निगदितं वर्तते। वास्तुनिर्माणकाले शिलान्यास-गृहारम्भ-द्वारस्थापना-गृहप्रवेशादि-मुहूर्तानां परिचिन्तनं, भूमिसुखस्य कालज्ञानं, भूमिक्रयविक्रययोगज्ञानं, गृहगृहेशयोः मेलापकविचारश्चैतादृशं महत्त्वपूर्णज्ञानं ज्योतिषशास्त्रमेव प्रददाति। वस्तुतः ज्योतिषशास्त्रस्य ज्ञानं विना वास्तुशास्त्रस्य प्रयोगः पूर्णत्वं न प्राप्नोति। अतः वास्तुशास्त्रस्याध्ययनपूर्वमेतयोः ज्योतिषवास्तुशास्त्रयोः परस्परसम्बन्धविषये, विचारक्षेत्रविषये, जीवनस्य घटनाचक्रविषये च विचारोऽत्यावश्यकः। तदैव भूखण्डस्य चयनं, भवननिर्माणं तस्मिन् च निवासकर्तृणां जनानां सुखसुविधानां पूर्वानुमानं भवितुं शक्यते।

ज्योतिषशास्त्रस्य जातकग्रन्थेषु भूमिसुख-भवनसुखानां च प्राप्ति-अप्राप्तियोगायोगानां च विस्तृतविवेचनं सम्प्राप्यते। तथैव मौहूर्तिकग्रन्थेषु शिलान्यास-गृहारम्भ-द्वारस्थापना-गृहप्रवेशादिमुहूर्तानां विस्तारेण वर्णनपुरस्सरं मेलापकविषयेऽपि चर्चा मिलति। संहिताग्रन्थेषु च वास्तुवर्णनप्रसंगे मुहूर्तादीनां

1. बृ.वा.मा. दिक्सा. श्लो.1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विषये अपि कथितं वर्तते। सिद्धान्तज्योतिषग्रन्थेषु सूक्ष्मप्रकारेण दिग्ज्ञानविधिः वर्णितः दृश्यते। एतेषां सहायेन वास्तुशास्त्रं पूर्णत्वं समागच्छति।

वास्तुशास्त्रे गृहवास्तोः महत्त्वम् -

अस्माकं प्राचीनभारतीयपरम्परायामावासीयवास्तोर्महत्त्वं वर्णितं दृश्यते। मनुष्यः ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमेषु कस्मिन्नपि आश्रमे स्यात् तस्य कृते आवासस्यावश्यकता तु भवत्येव। गृहं तु स्त्रीपुत्रादिसुखं जनयति। इदं तु धर्म-अर्थ-कामप्रदं, शीत-वर्षा-आतपादिके सहायकं, सुखास्पदं च भवति। अतः वास्तुशास्त्रे गृहवास्तोः महत्त्वविषये कथितमस्ति-

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदं
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।[2]

न केवलं सुखसुविधानां दृष्ट्या अपितु धार्मिकदृष्ट्या अपि गृहस्य महत्त्वं परिलक्ष्यते । गृहं तु निर्माणसामग्रीदृष्ट्या चतुर्विधम्-तृणनिर्मितं गृहं, मृण्मयं गृहं, इष्टिकानिर्मितं गृहं तथा च पाषाणमयं गृहम्। एतेषां गृहाणां निर्माणस्य उत्तरोत्तरं पुण्यफलमधिकं वर्तते। तद्यथा-

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसंगुणम्
इष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे।।[3]

स्वनिवासाय स्वतन्त्रगृहस्य निर्माणं करणीयम्। कार्यमिदं तु धार्मिक-सामाजिकोभयदृष्ट्या लाभप्रदं प्रतिष्ठाप्रदमात्मतोषकारकं च भवति। परगृहे निवासेन मनुष्यस्य व्यक्तिगतजीवनं बाधितं भवति। सः मानसिकरूपेण दैन्यमपि चानुभवति। अस्मात् कारणात् सः धार्मिककृत्यानां व्रतोपवासश्राद्धादीनां च पुण्यफलं न प्राप्नोति। अतः वास्तुमालायां निगदितं वर्तते -

परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाशुभाः।
निष्फलाः स्युः यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[4]

एवमेव गृहस्य निर्माणस्यैव पुण्यफलमेव न भवति अपितु तस्य जीर्णे सति अनुकर्मविधानेनापि पुण्यफलं लभत एव -

---

2. बृ.वा.मा. मिश्रप्र. 4
3. बृ.वा.मा. मिश्रप्र. 5
4. बृ.वा.मा. मिश्रप्र. 7

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वापीकूपतडागादि प्रासादभवनानि च।
जीर्णान्युद्धरते यस्तु पुण्यमष्टगुणं लभेत्॥[5]

अनेन प्रकारेण स्पष्टमेव यत् वास्तुशास्त्रे गृहवास्तोः अत्यधिकं महत्त्वं वर्तते। अस्मात् कारणादेव वास्तुशब्दोच्चारणेन सर्वप्रथमं तु गृहमेव दृष्टिपथे समागच्छति। वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते वचनमिदमेव गृहवास्तोः महत्त्वप्रदर्शनेऽपर्याप्तं वर्तते। अतः देश-काल-परिस्थित्यनुसारेण वास्तुशास्त्रस्य मूलसंकल्पनानुसारेण च स्वानुकूलगृहनिर्माणं करणीयम्।

गृहवास्तुनिर्माणे केचन मुख्यसिद्धान्ताः सन्ति, येषां परिपालनेनैव वास्तुशास्त्रस्य मूलसंकल्पनानुसारेण समुचितं गृहनिर्माणं भवितुं शक्यते। वास्तुशास्त्रे वास्तुपुरुषस्य परिकल्पना वर्तते यत्तु भारतीय-चिन्तनपरम्परानुसारेण देवत्वभावनया अनुप्राणितमस्ति। अस्माकं चिन्तने किमपि कार्यं देवतत्त्वं विना न भवितुं शक्यते। एवमेवास्माकं किमपि शास्त्रं देवत्वं विना पठनीयं न भवति। संगीतशास्त्रे नादब्रह्म, नृत्यशास्त्रे नटराजः, आलेखने जगन्नाथः, ज्योतिषशास्त्रे ग्रहाः ग्रहाधिपाश्च इत्यादयः तथैव वास्तुशास्त्रे वास्तोष्पतिः वास्तुपुरुषो वा वर्तते। सृष्टिस्तु पंचभूतात्मिका वर्तते। अनेन प्रकारेण प्राणिमात्रस्य शरीरमपि पंचभूतानां समाहारेणैव निर्मितमस्ति। अतः पृथिव्या उपरि कृतं कार्यं एतैः पंचमहाभूतैः प्रभावितं भवत्येव। अपि च पृथिव्या उपरि सूर्यकिरणानां प्रभावः, ग्रहाणां गुरुत्वाकर्षणादिजनितप्रभावः, पृथिव्याः चुम्बकीयक्षेत्रं गुरुत्वबलं, वायुदिशा तेषां प्रभावादीनि एतादृशानि महत्त्वपूर्णतथ्यानि सन्ति यैः मानवजीवनं प्रभावितं भवति। एतेषां समालोडनेन उत्पन्नचैतन्यतामेव वास्तोष्पतिरूपेण अस्माकमृषयः परिकल्पितवन्तः। अतः वैदिक-ऋषि तं प्रार्थयति -

वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेषो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रतितन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥[6]

वस्तुतः भौतिककार्यमिदं तु आसुरी वर्तते। तत्र आध्यात्मिकसंयोगेन दैवत्वानुप्राणिते सति कार्यमिदं नियन्त्रितं भवति। येन गृहे सौख्यं लभते। अनेन कारणेन वास्तुपुरुषस्योपरि पंचचत्वारिंशद्देवाः प्रतिष्ठापिताः सन्ति। अतः सर्वप्रथमं तु वास्तुपुरुषस्य तदुपरिस्थितदेवानां च पूजनपूर्वकमेव गृहारम्भस्य गृहप्रवेशस्य च वर्णनं वास्तुशास्त्रीयमानकग्रन्थेषु दरीदृश्यते।

स्पष्टमस्ति यत् पृथिव्या उपरि सूर्यादिग्रहाणां प्रकाशकिरणगुरुत्वाकर्षणादिजनितप्रभावः, भूमेः चुम्बकीयक्षेत्रम् एवं गुरुत्वबलं, वायुदिशा तेषां प्रभावादयश्च एतेषां परिचिन्तनेन तदनुकूलगृहादिनिर्माणस्य सिद्धान्ताः वास्तुशास्त्रे निबद्धाः सन्ति। अतः भूखण्डचयनादारभ्य गृहप्रवेशपर्यन्तं इमे नियमाः अवश्यमेव परिपालनीयाः।

---

5. बृ.वा.मा. मिश्रप्र. 6
6. ऋग्वेद 7/54/1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तत्र भूखण्डस्य चयनार्थं तु निवासेच्छुकमनुष्यस्य कृते ग्रामदिशोरनुकूलता विजानीयात्। तज्ज्ञानार्थं काकिणीविचार-अष्टवर्गविचार-नराकृतिचक्रविचारप्रभृतयः नैके विधयः वास्तुशास्त्रे वर्णिताः सन्ति। तदनन्तरं भूखण्डस्य निकटवर्तिक्षेत्रस्यापि विचारः करणीयः। ततः भूखण्डस्यानुकूलता ज्ञानार्थं प्लव-प्रशस्ताप्रशस्तभूखण्डादिविचाराः महत्त्वपूर्णाः सन्ति। भूखण्डचयनान्तरं भूमिशुद्ध्यर्थं शल्यज्ञानं विधाय शल्योद्धारः आवश्यको भवति। ततः कियन्मितं भूखण्डस्य क्षेत्रं गृहनिर्माणार्थं शुभं भविष्यतीति ज्ञानार्थं नक्षत्रराशिकल्पनापुरस्सरम् इष्ट-आयस्यापि कल्पनां कृत्वा तद्वशात् पिण्डादीनां साधनं करणीयम्। पिण्डस्य तात्पर्यं गृहनिर्माणयोग्यं भूखण्डस्य क्षेत्रफलमस्ति। अनेन प्रकारेण आयादिविचारोपरान्तं वास्तुपदविन्यासः करणीयः। गृहनिर्माणार्थं प्रायः एकाशीतिपदवास्तुविन्यासो भवति। वास्तुपदानुसारेण भूखण्डे ब्रह्मस्थानं महामर्मादिस्थानं विजानीयात्।

तदनन्तरं वास्तुनिर्माणयोजना कार्या। भवननिर्माणे प्रयुक्तसामग्री, भवनाकृतिः, भवनस्य विस्तृति-दीर्घता-उच्छ्रायादिविचारः, शयनादिकक्षव्यवस्था, अलिन्दविचारः, प्रांगणविचारः, सोपानव्यवस्था, द्वारविचारः, गवाक्षविचारः, जलव्यवस्था, जलनिकासव्यवस्था, प्रकाशव्यवस्था, गृहसमीपे रोपणीयवृक्षप्रभृतयः विचाराः वास्तुनिर्माणयोजनासमये करणीयाः। तर्हि गृहारम्भादिमुहूर्त्तानां विचारपुरस्सरं गृहनिर्माणोपकरणानाम् इष्टिका-काष्ठ-द्रव्यादीनां प्रयोगः वास्तुशास्त्रनिर्देशानुसारेणैव करणीयः। ततः शिलान्यासपूर्वकं खातपूर्ति-भित्तिकानिर्माणादिकं कृत्वा गृहनिर्माणं करणीयम् गृहनिर्माणोपरान्तं गृहसज्जा करणीया। तत्रापि वास्तुशास्त्रस्य निर्देशानुसारेण वाटिका-जलमण्डप-धारामण्डप-उद्यानादिबाह्यसज्जापूर्वकं द्वारसज्जा-प्रकाशोपकरण-जलोपकरण-शयनासनादिवस्तुनिवेश-चित्रालेखनाद्यान्तरिकसज्जा करणीया। तदनन्तरं गृहप्रवेशमुहूर्त्तविचारपूर्वकं शुभकाले वास्तुपुरुषादिकानां पूजनोपरान्तं गृहे प्रवेशः करणीयः। एतानि कार्याणि वास्तुशास्त्रोक्तनियमानां निर्देशानुसारेण करणेनैव गृहे सौख्यादिकमवश्यमेव अनुभूयते।

गृहवास्तुनिर्माणात् पूर्वं ध्यातव्यविषयाः-

गृहवास्तुनिर्माणात् पूर्वं भूखण्डस्य चयनार्थं तु ग्रामस्य नगरस्य वा कस्यां दिशि भूखण्डः स्यात्, तत्र कीदृशः परिवेशः स्यात्, भूमेः गुणधर्मिता कीदृशी, तत्र निवासेन शुभं भविष्यति न वा, भूखण्डः शुभदायकः सुविधानुरूपः सौख्यशान्तिप्रदः अस्ति न वा एतादृशानां विचाराणां चर्चा वास्तुशास्त्रे विस्तरेण समुपलभ्यते।[7] अस्मिन् प्रसंगे निगदितमस्ति यदादौ ग्रामस्यानुकूलता विचारणीया, तदनन्तरं दिशायाः अनुकूलता ततः भूमेः अनुकूलतायाः विचारः करणीयः। तत्पश्चादेव पिण्ड-वार-नक्षत्रादीनां शास्त्रानुसारेण विचारं कृत्वा भवननिर्माणं कार्यम्। अतः सर्वप्रथमं ग्रामस्यानुकूलता विचारणीया भवति। तज्ज्ञानार्थं निम्नाष्टवर्गबोधकचक्रं[8] द्रष्टव्यमस्ति। यथा-

---

7. वास्तुरत्नाकरे 1/11
8. बृ.वा.मा.1/17

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्गः	अ	क	च	ट	त	प	य	श
वर्गसंख्या	1	2	3	4	5	6	7	8
दिशा	पूर्वा	आग्नेयी (दक्षिणपूर्वा)	दक्षिणा	नैर्ऋत्या (दक्षिण-पश्चिमा)	पश्चिमा	वायव्या (पश्चिम-उत्तरा)	उत्तरा	ईशानी (पूर्व-उत्तरा)
वर्गाधिपतिः	गरुडः	मार्जारः (बिल्ली)	सिंहः	शुनकः (कुत्ता)	सर्पः	मूषकः (चूहा)	मृगः	मेषः (मेढ़ा)
वर्गाक्षराणि	अ,इ,उ,ऋ, ए,ऐ,ओ, औ,अं,अः	क,ख,ग, घ,ङ,	च,छ,ज, झ,ञ,	ट,ठ,ड,ढ, ण	त,थ,द, ध,न	प,फ,ब, भ,म	य,र, ल,व	श,ष, स,ह,

उपर्युक्तचक्रानुसारेण निवासेच्छुकमनुष्यस्य नाम्नः आद्याक्षरानुसारेण यो वर्गः तस्मात्, ग्रामनाम्नः आद्याक्षरानुसारेण यो वर्गः, सः वर्गः यदि पंचमः स्यात् तदा वर्गयोर्मध्ये शत्रुता ज्ञेया। यथा अखिलकुमारः तस्य वर्गः गरुडः, ग्रामस्य नाम नरकाजी ततः ग्रामवर्गः सर्पः। गरुडवर्गतः पंचमे सर्पवर्गः अन्योर्मध्ये शत्रुता। अतः तद्ग्रामः निवासेच्छुकाय शुभः न स्यादिति। ग्रामानुकूलताविचारणे काकिणीविचारोऽत्यन्तप्रसिद्धः। यथा–

स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा परवर्गेण योजयेत्।
अष्टभिस्तु हरेद्भागं योऽधिकः स ऋणी भवेत्॥[9]

यथा- व्यक्तिनाम - विश्वनाथः, उपर्युक्तचक्रानुसारेण तस्य वर्गसंख्या - 7, ग्रामनाम - बेरमपुर, उपर्युक्तचक्रानुसारेण तस्य वर्गसंख्या- 6, ततः सूत्रानुसारेण -

(7×2+6)÷8=शेष 4 व्यक्तिः काकिणी। एवमेव (6×2+7)÷8= शेष 3 ग्रामस्य काकिणी।

अत्र व्यक्तिकाकिणीतः ग्रामकाकिणी न्यूना अस्ति अतः विश्वनाथाय बेरमपुरग्रामः लाभाय न भविष्यतीति। ग्रामे कस्मिन् भागे कस्यां दिशि वा के राशियुक्ताः नराः न निवसेयुः अस्मिन् विषये मुहूर्तचिन्तामणौ आचार्येण लिखितम्। यथा-

गोसिंहनक्रमिथुनं निवसेन्न मध्ये ग्रामस्य पूर्वककुभोऽलिझषांगनाश्च।
कर्को धनुस्तुलभमेषघटा तद्वद्वर्गा स्वपंचमपरा बलिनः स्युरैन्द्रयाः॥[10]

9. 1. बृ.वा.मा.1/18
10. मुहूर्तचिन्तामणि 12/02

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अशुभ ग्राम दिशा	दक्षिणा	नैर्ऋत्या	पश्चिमा	वायव्या	उत्तरा	ईशाना	पूर्वा	आग्नेयी	ग्राम-मध्ये
राशिः	कन्या	कर्कः	धनुः	तुला	मेषः	कुम्भः	वृश्चिकः	मीनः	वृषः, मिथुनः, सिंहः, मकरः

एवमेव नैकविधयः मानकग्रन्थेषु वर्णिताः सन्ति। तेषां समालोडनेन ग्रामदिशोरनुकूलता ज्ञेया।

तदनन्तरं भूखण्डं परितः क्षेत्रस्य परिवेशस्य च विचारोऽप्यावश्यकः यतोहि अस्य प्रभावः गृहस्वामिनः भवनोपरि परिवारस्योपरि च पतत्येव। अत्र केचन ध्यातव्यविषयाः सन्ति -

1. भूखण्डस्य दक्षिणे पश्चिमे नैर्ऋत्ये च उच्चभवनानि वृक्षाः पर्वतादयः शुभाः भवन्ति परन्तु एते उत्तरे पूर्वे ईशाने वा न श्रेयस्कराः भवन्ति।
2. भूखण्डस्य पूर्वे उत्तरे ईशाने वा अन्यभूखण्डं अथवा मार्गतलं दक्षिणतः पश्चिमतः नैर्ऋत्यकोणाद् वा निम्नः स्यात्तदा शुभकारकः। अनेन प्रकारेण पश्चिमतः पूर्वं प्रति अथवा दक्षिणतः उत्तरं प्रति भूमिगतजलस्रोतः नद्यादयो वा स्युः तदा लाभप्रदोऽस्ति। उत्तरे ईशाने पूर्वे च जलाशयादयः शुभाः भवन्ति।
3. भूखण्डं निकषा श्मशानादिकं शुभं नास्ति। आवासीयभूखण्डं निकषा सर्वकारकार्यालयः विद्यालयः चलचित्रप्रेक्षागारः प्रसिद्धमन्दिरं जनसम्मर्दस्थानानि च समुचितानि न भवन्ति किन्तु व्यावसायिकभवनाय एतानि श्रेयस्कराणि सन्ति।
4. आवासीयभूखण्डस्य समीपे रुग्णालयः आरक्षीस्थलं, नद्यस्तटः न्यायालयः शकटयानस्थलम् लोहपथगामियानस्य मार्गः मदिरालयादयः प्रशस्ताः न भवन्ति।
5. भूखण्डे अन्यगृहागतनिकासजलं वर्षाजलं वा शुभं न भवति। तत्र भवननिर्माणं न शुभावहम्।
6. यस्य भूखण्डस्य निकटवर्तिवातावरणं नयनाभिरामं मनोहरं च स्यात् तद्भूखण्डं शुभं ज्ञेयम्।
7. बृहत्संहितायाः[11] अनुसारेण गृहसमीपे सचिवगृहं धननाशं, धूर्तगृहं पुत्रनाशं, देवगृहं कष्टं,

11. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याये 89-90

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चतुष्पथं अपयशं, वटादिचैत्यवृक्षः ग्रहभयं, वल्मीकयुक्तभूखण्डं विपत्तिं, गर्तः तृषारोगं कच्छपाकृतिभूमिश्च धननाशं जनयति।

8. गृहसमीपे कण्टकवृक्षाः शत्रुभयं, दुग्धवृक्षाः धननाशं, फलयुक्तवृक्षाः सन्ततिनाशं जनयन्ति। तत्र अशोक-पुन्नाग-अरिष्ट-वकुल-पनस-शमी-सालादिवृक्षाः शुभाः दोषनाशकाश्च भवन्ति।

तदनन्तरं भूखण्डस्यानुकूलता परीक्षणीया भवति। तदर्थं ब्राह्मणादिवर्णानुसारेण भूखण्डस्य चयनं निम्नचक्रानुसारेण करणीयम्[12]। यथा–

क्र.	वर्णाः	भूमिप्लवदिशा	भूमिरसः	भूमिगन्धः	भूमिना संयुक्तिः	भूमिरंगः
1	ब्राह्मणः	उत्तरा	मधुरः	घृतम्	दर्भैः	श्वेतः
2	क्षत्रियः	पूर्वा	कषायः	रक्तम्	शरपतैः	रक्तः
3	वैश्यः	दक्षिणा	अम्लः	अन्नम्	दूर्वाभिः	पीतः/हरितः
4	शूद्रः	पश्चिमा	कटुः	मद्यम्	कासैः	कृष्णः

भूमेः प्लवानुसारेणापि निम्नचक्रानुसारेण[13] भूखण्डस्य चयनं करणीयम्–

प्लवदिशा	पूर्वा	आग्नेया	दक्षिणा	नैर्ऋत्या	पश्चिमा	वायव्या	उत्तरा	ईशाना
फलम्	श्रीवृद्धिः	दाहः	मरणम्	धनहानिः	पुत्रक्षयः	प्रवासः	धनलाभः	विद्यालाभः
प्रकारन्तरेण	वृद्धिः	मृत्युशोकः	गृहक्षयः	धनहानिः	कीर्तिनाशः	उद्वेगः	धनदा	श्रीसुखम्

वस्तुतः भवननिर्माणहेतुः तद्भूखण्डमेव शुभं भवति यत्र –

अनूषरा स्निग्धवती प्रशस्ता च बहूदका।
तृणोपलान्विता या सा मान्या वास्तुविधौ धरा॥[14]

अपि च वराहमिहिरः कथयति –

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा स्निग्धा समानसुखदा च मही नराणाम्
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपगतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु॥[15]

---

12. वास्तुप्रबोधिनी पृ.15
13. उद्धृतवास्तुप्रबोधिनी पृ.15
14. बृहद्वास्तुमाला1/77
15. बृहत्संहिता 52/86

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वस्तुतः यस्मिन् भूखण्डे मनसः नेत्रयोः प्रसन्नता संतुष्टिश्च जायते, तत्र अधिकविचारस्य आवश्यकता एव न भवति। गर्गादिमुनयः अपि तथैव कथयन्ति-

मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्॥[16]

तदनन्तरं भूखण्डस्याकृतिविचारोऽप्यावश्यकः। तत्र वर्गाकारः, आयताकारः, वृत्ताकारः, भद्रासनाकारश्च भूखण्डस्य आकृतिः शुभा ज्ञेया। चक्र-विषम-त्रिकोण-शकट-दण्ड-सूप-धनु-कुम्भ-व्यजन-मुरज-कूर्मवदाकृतियुक्ताः भूखण्डाः अप्रशस्ताः सन्ति[17]। एवमेव गोमुखाकारभूखण्डन्तु आवासाय शुभं भवति किन्तु व्यावसायिकोपयोगाय न शुभं भवति। सिंहमुखाकारभूखण्डं आवासाय न प्रशस्तं किन्तु व्यावसायिकोपयोगाय शुभं ज्ञेयम्। चतुष्कोणीय-अष्टभुजीय-ध्वजाद्याकृतियुक्ताः भूखण्डाः शुभाः सन्ति किन्तु अर्धवृत्त-अण्ड-तारा-त्रिशूल-पक्षिमुख-मुद्गराकारभूखण्डाः प्रायः अप्रशस्ताः सन्ति।

तत्पश्चात् भूखण्डस्य वास्तुशास्त्रोक्तविधिना शुभाशुभं जानीयात्। यथा-

खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा
हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजवर्धने।
तत्कृत्वा जलपूर्णमाशतपदं गत्वा परीक्ष्यं पुनः
पादोनार्धविहीनकेऽथनिभृते मध्याधमेष्टाम्बुभिः॥[18]

तथैव भूमेः सुप्तादिज्ञानमपि करणीयम् तद्यथा-

कर्त्ता ग्रामदिशश्चैव स्वरयुक्तं तु कारयेत्।
वह्निभिस्तु हरेद्भागं शेषांके फलमादिशेत्॥
एके जागर्ति भूमिश्च द्वितीये समता गतिः।
तृतीये राक्षसी चैव मृत्युरेतन्न संशयः॥[19]

यथा कल्पयते गृहकर्त्ता - विश्वनाथः 7, ग्रामनाम - बेरमपुर 8, दिशा स्वरांकः - पूर्वदिक्त्वात् 8 (गजशरर्तुयुगाश्वमहीगुणा द्विसहिता मघवादिशि क्रमात्[20]) तदा (7+8+8) ÷3= शेषः2 अतः भूमिः समा ज्ञेया।

---

16. बृ.वा.मा.1/93
17. उद्धृतं वास्तुप्रबोधिनी पृ. 18-19
18. बृ.वा.मा. 1/106
19. बृ.वा.मा. 1/94-95
20. बृ.वा.मा. 1/21

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तत्पश्चात् वास्तुशास्त्रोक्तविधिना शल्यज्ञानं कृत्वा शल्योद्धारः करणीयः। एकः विधिः अत्र प्रस्तूयते। यथा–

प्रश्नत्रयं वापि गृहाधिपेन देवस्य वृक्षस्य फलस्य चापि।
वाच्यं हि कोष्ठाक्षरसंस्थितेन शल्यं विलोक्य भवनेषु सृष्ट्या॥[21]

ईशानकोणः		पूर्व		आग्नेयकोणः
उत्तर	प, फ, ब, भ, म	अ, इ, उ, ऋ, लृ	क, ख, ग, घ, ङ	दक्षिण
	ष, ष, स, ह	य, र, ल, व	च, छ, ज, झ, ञ	
	त, थ, द, ध, न	ए, ऐ, ओ, औ	ट, ठ, ड, ढ, ण	
वायव्यकोणः		पश्चिमा		नैर्ऋत्यकोणः

वस्तुतः शल्योद्धारस्य सर्वोत्तमोपायस्तु भूखण्डस्य मृत्तिकां पुरुषप्रमाणं (प्रायः 6 फीटमितं) च खातं कृत्वा तं मृत्तिकां संशोध्य तस्मात् खातं प्रपूरयेत् अथवा गर्तः पाषाणैः अन्यस्थानसमानीत-शल्यरहितमृत्तिकाभिः पूरणीयः। ततः भूमिशुद्ध्यर्थं सम्मार्जनं लेपनं प्रोक्षणं खननं गवां संस्थितिं च प्रकल्पयेत्[22]। बृहत्संहितायाः[23] मतेन हलकर्षणेन अथवा बीजवपनान्तरं दिनत्रये अंकुराणां दर्शनेन अथवा गवां तत्रोपवेशनेन अथवा ब्राह्मणैः सह रात्रिपर्यन्तं तत्रोपवेशनेन भूमिः संशुद्धा भवति। ततः वास्तुशुभाशुभत्वज्ञानाय इष्टायनक्षत्रकल्पनापुरस्सरं पिण्डानयनं विधाय तेन आयादिविचारपूर्वकं भूखण्डे वास्तुपदविन्यासं कृत्वा गृहनिर्माणयोजना कार्या। तदनन्तरं शुभमुहूर्त्तं च वीक्ष्य गृहारम्भः करणीयः।

गृहवास्तुनिर्माणविधिः-

गृहवास्तुनिर्माणार्थं पूर्वोक्तप्रकारेण भूमिचयनं शल्योद्धारादिकं च कृत्वा तदनन्तरं भूमिपूजनपूर्वकं राहुमुखं विचार्य खातं कृत्वा तत्र शिलान्यासः कार्यः। शिलान्यासोपरान्तं वास्तुक्षेत्रे कर्त्तव्यताविषये नारायणभट्टः –

ज्ञात्वैवं निखनेद्गृहाधिकभुवं नत्वा जलान्तस्तरः।
यावद्वापुरुषस्ततः कपिशिरस्तुल्याश्मभिः पूरयेत्॥[24]

---

21. बृ.वा.मा. 1/171-172
22. वास्तुरत्नाकरः 1/79
23. बृहतसंहिता, 52/96
24. बृ.वा.मा.1/119

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ततः भित्तिनिर्माणं करणीयम्। भित्तिविषये आचार्येण कथितम्। यथा–

पाषाणे सर्वतो बाह्यमिष्टकायां तदर्धकम्
मृत्तिकायां पिण्डमात्रमित्युक्तं रुद्रयामले॥

कारिकायां च कथिता पिण्डाद्बहिर्भित्तिका।
पाषाणी भित्तिका ग्राह्या सर्वदा कारिकामते॥[25]

तदुपरान्तं वास्तुयोजनानुसारं वास्तुक्षेत्रे गृहनिर्माणं कार्यम्। गृहवास्तुनिर्माणसमये ध्यातव्यं यत्- अन्यवेश्मस्थितं दारु नैवान्यस्मिन् प्रयोजयेत्।[22] नूतनगृहे नूतनमेव काष्ठ-इष्टिका-लोष्ठ-पाषाण-मृत्तिका-आयस-तृण-पत्रादिकं च प्रयोक्तव्यम् अतः कथितं शारंगधरेण यत्[27]–

नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णे जीर्णं प्रशस्यते।
जीर्णे च नूतनं श्रेष्ठं नो जीर्णं नूतने शुभम्॥[28]

एवमेव समरांगणसूत्रधारस्य प्रथमखण्डस्य 48 अध्याये विस्तरेण गृहदोषाणां चर्चा मिलति। तेषां दोषाणां विचारः अपि गृहनिर्माणसमये अवश्यमेव करणीयः।[29]

---

25. वास्तुमालायाम् 1/117-118
26. बृ.वा.मा. 1/128
27. बृ.वा.मा 1/129
28. बृ.वा.मा 1/129
29. समराङ्गणसूत्रधार प्रथम खण्ड अध्याय 48

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तौ देवालयविधानम्

डॉ. रश्मिचतुर्वेदी

प्राचीनकालात् भारतवर्षे बृहदादिबृहद् देवालयनिर्माणस्य परम्पराऽऽसीदस्ति च। वास्तुशास्त्रस्य प्राचीनग्रन्थेषु देवालयानां विस्तारपूर्वकं वर्णनं प्राप्तं भवति। देवालयनिर्माणस्याभियान्त्रिकी तथा च शिल्पस्य वर्णनं शिल्पशास्त्रेषु विशद् रूपेण मिलति। देवालयानां निर्माणं समयानुसारेण राजनैतिक-सामाजिककार्थिकदशासु परिवर्तिने प्राचीनार्यावर्ते विभिन्नसंस्कृतीनामोत्थानेन पतनेन सम्मेलनेन च प्रभावितं भूत्वाऽपि वास्तुशास्त्रस्य निर्माणस्य सिद्धान्तेषु निरन्तरमेकरुपता शिल्पे च परिवर्तनं दृष्टिगोचरं भवति। उदाहरणार्थम्- वेदोत्तरकाले शकहूणादिकाले गुप्तकाले मुगलकालेऽधुना च सर्वे जैनबौद्धसनातनदेवालयेषु द्वार-गर्भगृह-स्तम्भ-वेदी-शिखराणां निर्माणं सामान्यनियमेष्वाधारितं भवति।

देवालयनिर्माणस्य प्रयोजनम्- भारतीयपरम्परायां ध्यानार्चनादीनां विधानमस्ति। देवालयस्य पवित्रपर्यावरणे ध्यानार्चनपूजादीनां माध्यमेनान्तःकरणं पवित्रं भवति। अन्तःकरणस्य पवित्रतायाः प्रभावेण मनुष्यस्य मस्तिके सदोर्जायाः प्रवाहो भवन्ति। येन मनसि स्थितनकारात्मकोर्जायाः प्रशमनं भूत्वा सकारात्मकोर्जायाः च प्रवेशो भवति। यदा चित्तं सत्येन युक्तं भवति तह्यैवानन्दानुभूतिर्भवति। यस्य परिणामस्वरूपेण मनुष्यः स्वधर्माणां (कर्तव्यानां) सम्यक्तया निर्वहनं करोति। अतः धर्मस्य यशस्य च वृद्धिहेतवे देवालयस्य निर्माणं करणीयम्। यथोक्तं-

देवतायतनं कुर्यात् यशोधर्मभिवृद्धये॥[1]

स्वशक्त्या काष्ठ-मृत्तिका-प्रस्तर-स्वर्णादिधातुभिः रत्नैश्च देवालयस्य निर्माणं करणीयम्। कैरपि पदार्थैः निर्मितेन देवालयेन धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तिर्भवति। यथोक्तम्-

स्वशक्त्या काष्ठमृदिष्टका शैलधातुरत्नाजम्।
देवतायत्नं कुर्याद् धर्मार्थकाममोक्षदम्॥[2]

देवानां भूमिः-वास्तुग्रन्थानुसारेण देवाः वनानां समीपे नदीनां पवित्रतटेषु, गिरिषु, उद्यानाद्युत्तमस्थानेषु निवासं भ्रमणञ्च कुर्वन्ति। अत एव देशस्य सुप्रसिद्धवैभवपूर्णदेवालयाः प्रायः पवित्रनदीनां सरोवराणां तटेषु, गिरिषु, जलधीनां समीपे उद्यानानां समीपे विनिर्मिताः सन्ति। अत एव देवालयस्य निर्माणं पवित्रेषु स्थानेषु करणीयम्। यथोक्तं-

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च॥[3]

---

1. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणध्याये, श्लो. 2
2. प्रासादमण्डलम्, 1-33
3. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, श्लो. 8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ब्राह्मणादिवर्णानां कृते गृहस्य निर्माणार्थं ब्राह्मणवर्णस्य भूमिः शुभा भवति। देवालयस्य निर्माणार्थेऽपि सैव भूमिः शुभा भवति। यथोक्तं–

भूमयोः ब्राह्मणदीनां या प्रोक्ता वास्तुकार्यये।
ता एव तेषां शस्यन्ते देवतायतनेष्वपि।।[4]

देवालयस्य निर्माणार्थं सर्वप्रथमं धरायाः परीक्षणं करणीयम्। यस्यां धरायां चतुर्दिक्षु जलस्य प्रवाहः प्रवहति अर्थात् चतुर्दिक्षु भूमिः निम्ना मध्यभागे चोच्चा पूर्वोत्तरेशान्दिक्षु निम्ना स्यात् तर्हि सा भूमिः प्रशस्ता भविता। अनेन प्रकारेण भूमेः परीक्षणोपरान्तं पञ्चगव्येन प्रोक्षणं कुर्यात् तथा च मणि–स्वर्ण–रजत–प्रवाल–फलैः भूमेः पवित्रीकरणं करणीयम्। यथा–

सर्वादिक्षु प्रवाहो वा प्रागुदकशङ्करप्लवाम्।
भूमिं परीक्ष्य संसिञ्चत् पञ्चगव्येन कोविदः
मणि सुवर्ण रूप्येण विद्रुमेण फलेन वा।।[5]

देवालयस्य शिलान्यासः–गृहनिर्माणस्य हेतवे शिलान्यासस्य विधौ पञ्चशिलानां स्थापनं भवति परन्तु देवालयनिर्माणे केवलं चर्तुर्णां शिलानां नन्दा–भद्रा–जया–पूर्णानामुपयोगो भवति। गृहनिर्माणे रिक्ता शिला भवति परञ्च देवालये तस्याः प्रयोगो न भवति।

यथा–

यो विधि गृहनिर्माणे शिलान्यासस्य कर्मणि।
प्रसादादिषु संज्ञेयाश्चतस्त्रस्तु शिलास्था।
नन्दा भद्रा जया पूर्णा आग्नेयादिषु विन्यसेत्।।[6]

प्रासादे शिलान्यासक्रमः–

पूर्वा

ईशानः			आग्नेयः
	4 पूर्णा	3 नन्दा	
उत्तरा			दक्षिणा
वायव्यः	3 जया	2 भद्रा	नैऋत्यः

पश्चिमा

4. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, श्लो. 8
5. प्रसादमण्डन 01.12–13
6. श्रीविश्वकर्म प्रकाशः 06/12–13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चतुःषष्टिवास्तुचक्रम्—देवालयस्य रचनाः चतुःषष्टिपदवास्तौ भवति। अस्यां चतुर्दिक्षु द्वाराणि पूर्वोत्तरभागे वास्तुपुरुषस्य शिरोभागे गर्भगृहः तथा दक्षिणपश्चिमयोर्भागे वास्तुपुरुषस्य चरणक्षेत्रे गोपुरः वा मुख्यप्रवेशद्वारं करणीयम्। यथा—

चतुः षष्टिपदं कार्यं देवतायतनं यदा।
द्वारं च मध्यमं तस्मिन् समादिकस्थः प्रशस्यते॥[7]

ई. पू. आ.

शिखी / अदितिः	पर्जन्यः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः	अन्तरिक्षः / अनिलः
अदितिः	पर्जन्यः / अदितिः	जयन्तः	इन्द्रः	सूर्यः	सत्यः	भृशः / पूषाः	पूषाः
भुजगः	भुजगः	आपवत्सः / आपः	अर्यमाः	अर्यमाः	सविताः / सावित्रः	वितथः	वितथः
सोमः	सोमः	पृथिवीः घरः	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान्	वृहत्क्षतः	वृहत्क्षतः
भल्लाटः	भल्लाटः	रुद्रः राजयक्ष्मा	मित्रः	ब्रह्मा	विवस्वान्	यमः	यमः
मुख्यः	मुख्यः	रुद्रः / राजयक्ष्मा	कुसुमः दन्तः	मित्रः	इन्द्रः / जयः	गन्धर्वः	गन्धर्वः
नागः	नागः / शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमः दन्तः	सुग्रीवः	भृङ्गराजः / दौवारिकः	भृङ्गराजः
रोगः / पापयक्ष्मा	शोषः	असुरः	वरुणः	कुसुमः दन्तः	सुग्रीवः	दौवारिकः	मृगः / पिता

उ. द.

वा. प. नै.

7. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याय, श्लो. 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कालशुद्धिः—वास्तुकार्ये सर्वप्रथमं कालशुद्धेः विचारः करणीयः येन सर्वकार्येषु सिद्धिर्भवति। यतः कालस्य माध्यमेन शुभाशुभपरिणामानां विचारः विधीयते। अतः कालातिक्रमेण दोष उत्पद्यते तथा च धनस्याप्यपव्ययमपि भवति।

आदौ कालं परीक्षेत् सर्वकार्यार्थसिद्धये।
कालो हि सर्वजीवानां शुभाशुभफलप्रदाः॥

कालातिक्रमेण दोषो द्रव्यहानिश्च जायते।
देवानामपि देवीनां विप्रादीनां विशेषतः॥

प्रासादभवनारम्भे स्तम्भस्थापनकर्मणि।
द्वारस्थापनवेलायां भवनानां प्रवेशने॥[8]

देवालयनिर्माणे कालस्य सर्वाधिकं महत्वमस्ति। अतः कालस्य शुभाशुभविचारं कृत्वा निर्माणकार्यं करणीयम्। देवालयस्य निर्माणे सर्वप्रथमं पञ्चाङ्गशुद्धिविचारः कुर्यात् तत्पश्चात् शुभलग्ने पञ्चग्रहाणां (सूर्यः चन्द्रः बुधः गुरुः शुक्रः) बलविचारः कर्तव्यः तदनन्तरं मास-संक्रान्ति—वत्सचक्रादीनां निषेधसमयं परित्यज्य देवालयस्य निर्माणारम्भः करणीयः। यथा—

शुभलग्ने सुनक्षत्रे पञ्चग्रहबलान्विते।
माससंक्रान्ति वत्सादि निषिद्धकालवर्जिते॥[9]

देवालयनिर्माणस्य प्रविधिः—देवालस्य विस्ताराद् द्विगुणं तस्य समुन्नतिः भवति। यथा देवालयस्य मध्यभागस्य विस्तारः त्रिंशद्हस्तमस्ति, तर्हि तस्य समुन्नतिः उन्नतेः तृतीयभागः कटिप्रदेशो भवति। देवालस्य विस्तारस्यार्धः गर्भगृहं भवति। गर्भमभितः भित्तिः भवति। अस्यानेकहस्तभूमिः परिक्रम णाय तथा च शेषहस्तत्रयभूमिः भित्तिनिर्माणार्थं भवति। गर्भविस्तारस्य मानस्य चतुर्थांशः भागः शाखानां कृते भवति। यदि ब्रह्मद्वारं त्रि-पञ्च-सप्त-नवशाखाभिर्युक्तः स्यात् तदा शुभं भवति। द्वयोः शाखयोरधो भागे प्रतिहारद्वयस्य प्रतिमा स्यात्। शाखानां त्रयर्धभागैराध्यात्मिकाभ्युन्नतिश्च भवति। हंसादिशुभपक्षिणा स्वस्तिकेन कलशेन स्त्रीपुरुषयोः युगलस्वरूपेण पत्रैः लताभिश्च सुशोभितं द्वारं शुभं भवति। द्वारस्य समुन्नतौ तत्र तस्याष्टमांशः हीनं कुर्यात् शेषः भागः पिण्डिकार्थं (देवस्थानस्य पीठिकार्थं) गृहीत्वा तत्र देवप्रतिमायाः स्थापना कुर्यात्। पीठिकाया सह प्रतिमायाः सम्मुनतिः भागत्रयं कुर्यात्। भागद्वयस्य तुल्या सम्मुन्नति प्रतिमायाः भागेका पीठिकायाः कृते भवति। अनेन सर्वेषु देवालयेषु चिन्तनीयम्।

---

8. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् 03/1-3
9. प्रसादमण्डन 1-11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

यो विस्तारो भवेद् यस्य द्विगुणा तत्समुन्नतिः।
उच्छ्रायाद्यस्तृतीयांशस्तेन तुल्या कटिः स्मृता।।
विस्तरार्धं भवेदगर्भो भित्तयोऽन्याः समुन्नतः।
गर्भपादेन विस्तीर्णं द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम्।।

उच्छायात् पादविस्तीर्णा शाखावद्वयवदुम्बरः।
विस्तारपादप्रमितं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम्।।

त्रिपच्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत्प्रशस्यते।
अधः शाखाचतुर्भागे प्रतिहारौ निवेशयेत्।।

शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्।।

द्वारमानाष्टभागोना प्रतिमा स्यात् सपिण्डिका।
द्वौ भागौ प्रतिमा तत्र तृतीयांश्च पिण्डिका।।[10]

देवालयस्य विस्तारः गर्भगृहमानैः बृहत्संहितायामन्यवास्तुशास्त्रग्रन्थेषु च विंशति देवालयानां उल्लेखो मिलति। यथा– 1. मेरुः 2. मन्दरः 3. कैलाशः 4. विमानच्छदः 5. नन्दनं, 6. समुद्रः 7. पद्मः 8. गरुडः 9 नन्दिवर्धनः 10 कुञ्जरः 11. गुहराजः 12. वृषः 13. हंसः 14. सर्वतोभद्रः 15 घटः 16 सिंहः 17. वृत्तं 18. चतुष्कोणः 19 षोडशाश्रिः 20 अष्टाश्रिः।[11]

देवालये कोणानुसारं शालाकल्पना–देवालयः देवानां गृहाणि वर्तन्ते। अतः देवालयं सुव्यवस्थितकरणार्थं पाकशालायाः निर्माणमाग्नेयकोणे कुर्यात्। पाकशाला कुपचत्वरसंयुता स्यात्। नैऋत्यकोणे रथ्यादिवाहनानां स्थानं स्थापयेत्। वायव्यकोणेऽङ्गवस्त्राभरणार्थं गृहस्य निर्माणं कर्तव्यम्। अनेन प्रकारेण ईशानकोणे धान्यभवनस्य तथा च मध्यभागे महागृहं कर्तव्यम्। यदुपरि मण्डपस्य निर्माणं भवेत्। वास्तुशास्त्रस्य नियमानुसारेण कक्षाणां कल्पना करणीया। यथा–

आग्नेयां पाकशाला स्यात्कुपचत्वरसंयुता।
नैऋत्यां वाहनस्थानं वायव्यां वस्त्रगेहकम्।।

---

10. बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्यायः, श्लो. 11-16
11. मेरु-मन्दार कैलास विमानच्छदनन्दनाः। समुद्गपद्मगरुडनन्दिवर्धनकुञ्जराः।।
गुहराजो वृषो हंसः सर्वतोभद्रको घटः। सिंहो वृत्तश्चतुष्कोणः षोडशाष्टाश्रयस्तथा।।
इत्येते विंशतिः प्रोक्ताः प्रासादाः सञ्ज्ञया मया। यथोक्तानुक्रमेणैव लक्षणानि वदाम्यतः।।
बृहत्संहिता प्रासादलक्षणाध्याये, तत्रैव 72.14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऐशान्यां धान्यभवनं मध्यस्थाने महागृहम्।
कल्पनं मण्डपानां वा तन्नयेतसालक क्रमात्।।[12]

देवालये प्रदक्षिणायै स्थानं स्यात् तथा च सेवाप्राप्तिस्थलमपि भवेत्। याम्ये वाऽग्रे रथ्यादिवाहनेषु आरोहणार्थे मण्डपः विर्निमेयः। यथा–

प्रदक्षिणतलस्थानं सेवाप्राप्ति स्थलानि च।
सव्ये वा पुरतो भागे वाहनारोहमण्डपः।।[13]

अतः देवालये विभिन्नप्रकाराणां शालानां निर्माणं करणीयं तथा च विविधप्रकारस्य परिकल्पनामाध्यमेन विभूषितभव्यदेवालयनिर्माणस्य प्रयत्नः करणीयः। यथा–

नानाशालासमायुक्तं नानाकल्पनभूषितम्।।[14]

देवालये प्रतिष्ठाविचारः– देवालये ब्रह्मणः विष्णोः शिवस्य च प्रतिमाः कस्यामपि दिशायां मुखं कृत्वा स्थापना कर्तुं शक्यते। सूर्यस्य इन्द्रस्य कार्तिकेयस्य च प्रतिमा पूर्वे पश्चिमदिशायां मुखं कृत्वा तथा गणेशस्य कुबेरस्य भैरवस्य चामुण्डायाः देवीनां च प्रतिमाः दक्षिणाभिमुखं स्थापयेत्। पवनपुत्रस्य प्रतिमा ईशानकोणे नैऋत्याभिमुखी स्थापयेत्। यथा–

ब्रह्माविष्णुशिवेन्द्रभास्करगुहाः पूर्वापरस्याः शुभाः।
प्राक्तौ सर्वदिशामुखौ शिवजिनौ विष्णुर्विधाता तथा।।

चामुण्डाग्रहमातरो धनपतिर्द्वैमातुरो भैरवो-
देवो दक्षिणदिङ्मुखः कपिवरो नैर्ऋत्यवक्त्रो भवेत्।।[15]

देवालये प्रतिमायाः मानम्–देवालये प्रतिमा दशाङ्गुलेभ्यः नवहस्तपर्यन्तं भवति। दशहस्तेभ्यः उच्च प्रतिमा देवालये न पूजनीया भवति। अर्थादियं प्रतिमा देवालयं विना पूजनीया भवति यथा–

तदूर्ध्वं नवहस्तान्तं पूजनीया सुरालये।
दशहस्तादितो याऽर्चा प्रासादेन विनाऽर्चयेत्।।[16]

देवप्रतिष्ठामुहूर्तः–सौम्यायने यदा जीवः शुक्रः चन्द्रश्च उदिताः स्युः तदा देवप्रतिष्ठा

---

12. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् 72/8-9
13. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् श्लो. 12
14. तत्रैव, 72/14
15. वृहद्वास्तुमाला, 72/36
16. मत्स्यपुराण 257-23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्रेष्ठाः भवति। मातृकायाः भैरवस्य वाराहस्य नृसिंहस्य त्रिविक्रमस्य महिषमर्दिनीदुर्गायाश्च प्रतिष्ठा याम्यायनेऽपि शुभप्रदा भवति। देवप्रतिष्ठा सर्वदा पूर्वाह्णे उत्तमा भवति।[17]

मासविचारः—माधवज्येष्ठमाघफाल्गुनमासेषु देवप्रतिष्ठा शुभदा भवति। मतान्तरेण पौषचैत्र-मासयोऽपि शुभदा भवति। पौषे प्रतिष्ठायां राज्यवृद्धिः, माघे सम्पत्तिः, फाल्गुने द्रव्यलाभः, चैत्रे शुभं, वैशाखे विशिष्टसौख्यं तथा च ज्येष्ठे जयं भवति। शेषमासेषु देवप्रतिष्ठा शुभप्रदा न भवति।[18]

देवविशेषस्य स्थापना—श्रावणे शिवलिङ्गस्य, आश्विने पराम्बायाः मार्गशीर्षे विष्णोः, तथा च पौषे शेषनागस्य स्थापना शुभदा भवति।[19]

पक्षविचारः—प्रतिपदां परित्यज्य शुक्लपक्षः शुभो भवति। कृष्णपक्षे प्रतिपदातः दशमीपर्यन्तं देवस्थापना शुभप्रदा भवति।[20]

तिथिविचारः—शुक्लपक्षस्य प्रतिपदा, रिक्ता, अमावस्या त्याज्यतिथयः सन्ति। शेषसर्वाः तिथयः ग्राह्याः सन्ति। देवविशेषस्य तिथयोऽपि उत्तमा भवति। यथा—तृतीयाधिपतिः गौरी तथा चतुर्थ्यधिपतिर्गणेशोऽस्ति, अतः तृतीयां गौर्यास्तथा च चतुर्थ्यां गणेशस्य प्रतिष्ठा शुभदा भवति। महाशिवरात्री-दुर्गाष्टमी- श्रीरामनवमी-श्रीकृष्णजन्माष्टम्यादिविशेषतिथिषु सम्बन्धितदेवानां प्रतिष्ठा शुभप्रदा भवति।

वासराणां विचारः—प्रतिष्ठायां भौमस्यातिरिक्तं शेषसर्वे वासराः शुभदायका भवन्ति। प्रतिष्ठायां यदि रविवासरः स्यात् तदा यशः प्राप्तिः भवति। तथैव चन्द्रवासरे कल्याणः, भौमेऽग्निभयः, बुधवासरे वृद्धिः, जीवे दृढ़ता, भृगुवासरे लक्ष्मीप्राप्तिः, मन्दवासरे च प्रतिष्ठा सुस्थिरता भवति।[21]

नक्षत्राणां विचारः—हस्त-चित्र-स्वाति-अनुराधा-शतभिषा-रेवत्यश्विनी-पुनर्वसु-पुष्य-उत्तरात्रय-रोहिणी-मृगशिरानक्षत्रेषु सर्वेषां देवानां प्रतिष्ठा शुभप्रदा भवति।[22] यस्य देवस्य यत् नक्षत्रं स्यात् तस्मिन्नैव नक्षत्रे तस्य देवस्य प्रतिष्ठा कर्तुं शक्यते। यथा आर्द्रायाः स्वामी शिवोऽस्ति, अतः आर्द्रानक्षत्रे शिवस्य प्रतिष्ठा कर्तुं शक्यते। पुष्य-श्रवण-अभिजित्-रोहिणी-ज्येष्ठा-अनुराधानक्षत्रेषु कुबेरस्कन्दयोः प्रतिष्ठा, हस्ते सूर्यस्य, मूले दुर्गादिदेवानां प्रतिष्ठा शुभप्रदा भवति। समूहे गणपति-यक्ष-भूतासुर-शेष-सरस्वत्यादिदेवीनां प्रतिष्ठा रेवत्यां शुभप्रदा भवति। श्रवणे भगवतो बुद्धस्य, लोकपालानां धनिष्ठायां,

---

17. वृहद्वास्तुमाला देवप्रतिष्ठा, विचारः 8
18. वृहद्वास्तुमाला देवप्रतिष्ठा,
19. तत्रैव, श्लो. 09
20. तत्रैव, श्लो. 10
21. तत्रैव, श्लो. 14
22. तत्रैव, श्लो. 18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा च सर्वेषां देवानां स्थापना स्थिरसंज्ञकनक्षत्रेषु शुभप्रदा भवति।

लग्नशुद्धिः—यदि लग्नकेन्द्रकोणेषु शुभग्रहाः स्युः, चन्द्रः तथा पापग्रहाश्च त्रिषडाये स्युः तर्हि शुभवेलायां प्रतिष्ठां कृत्वा प्रतिमायां प्रतिष्ठस्य देवस्य वासो भवति। अस्यां प्रतिष्ठायां पुत्रलाभसुखसम्पत्यारोग्यानां प्राप्तिर्भवति।[23]

सहस्राब्देभ्यः वर्षेभ्योऽस्माकमृषिभिः सूक्ष्मदृष्ट्या यत् चिन्तनं कृतम् तदेव वास्तुशास्त्रस्य नियमानां सिद्धान्तानां च स्थापना जाता। नियमानुसारेण देवालयनिर्माणेन सम्यक्पर्यावरणस्य प्राप्तिर्भवति। अनुकूलपर्यावरणेन शारीरिकमानसिकसुखशान्तेरनुभूतिर्भवति।

अनेन पाशबद्धजीवात्माऽपि सच्चिदानन्दं प्राप्नोति। अस्माकमृषीणां कल्पनासीत् यद् देवालयाः बहुजनहिताय बहुजनसुखाय च भवेयुः। अतः सर्वदा दोषरहितानां गुणयुक्तानां देवालायानां निर्माणं करणीयम्।

दोषहीनं गुणोपेतं कल्पयेच्छिल्पवित्गृहम्।

---

23. वृहद्वास्तुमाला देवप्रतिष्ठा, श्लो.-28

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परमशायिक एकाशीति पदविन्यास

श्री रामेन्द्र पाण्डेय

भवन निर्माण की विधा में वास्तुशास्त्रीय परम्परा भूमि चयन के उपरान्त 'पदविन्यास' की कल्पना है। भारतीयों ने अपने जीवन के सभी कार्य को आध्यात्मिकता के साथ सम्पन्न किया है और इसी क्रम में उन्होंने भवन निर्माण में भी वास्तुपुरुष एवं उसके साथ अन्य देवताओं की कल्पना की है। पदविन्यास की कल्पना आजकल आर्किटेक्ट, इंजिनीयर द्वारा बनाया गया भवन का नक्शा, Site plans ही है। भूमि को उपयोग के अनुसार निर्दिष्ट पदविन्यास द्वारा पदों में विभाजित कर निश्चित स्थान पर निश्चित भवनों का निर्माण ही पदविन्यास एवं वास्तुपुरुष की कल्पना है। वास्तुपुरुष के शरीर के अङ्गों की स्थिति विभिन्न पदों में निश्चित की गई है तथा देवताओं की स्थापना भी। पुन: देवताओं के स्थान पर निश्चित प्रकार के निर्माण का वर्णन किया गया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के निर्माण के लिए 32 प्रकार के वास्तुमण्डलों का वर्णन है। एकाशीति (81) पद का परमशायिक वास्तुमण्डल सर्वाधिक प्रयोग में आता है। विभिन्न प्रकार के निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है।

वास्तुमण्डल को पूर्व से पश्चिम दस रेखा और इसके उपर उत्तर से दक्षिण दस रेखा खींच कर सम विभाजित करने से इक्यासी पद बनते हैं। इस पदविन्यास को 'परमशायिक' अथवा 'कामद' पदविन्यास कहते हैं।

वास्तुमण्डल को 81 पदों में समविभाजित करने से पदों के पाँच चक्र बनते हैं। प्रथम केन्द्र में एक पद होता है। इसके बाहर द्वितीय चक्र 8 पद का बनता है। पुन: तृतीय चक्र 16 पदों का तथा इस चक्र के बाहर चतुर्थ चक्र 24 पदों का व पाँचवां बाहरी चक्र 32 पदों का बनता है। इस प्रकार 1+8+16+24+32 पदों का क्रम बनता है। प्रथम से चार चक्र के (1+8+16+24=49) पदों को अन्त: पद तथा पाँचवें बाहरी चक्र के पदों (32 पद) को बाह्य पद कहते हैं।

25	26	27	28	29	30	31	32	1
24	19	20	21	22	23	24	1	2
23	18	13	14	15	16	1	2	3
22	17	12	7	8	1	2	3	4
21	16	11	6	1	2	3	4	5
20	15	10	5	4	3	4	5	6
19	14	9	8	7	6	5	6	7
18	13	12	11	10	9	8	7	8
17	16	15	14	13	12	11	10	9

प्रथम चक्र 1 पद
द्वितीय चक्र 8 पद
तृतीय चक्र 16 पद
चतुर्थ चक्र 24 पद
} अन्त: पद
पञ्चम चक्र 32 पद — बाह्य पद

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्रीय परम्परा में पद विभाजन के पश्चात् वास्तुमण्डल में देवताओं की स्थापना है। स्थापना के क्रम में देवताओं को अन्त:संश्रयस्थ (भीतर के पदों में स्थित) देवता तथा बहि:संश्रयस्थ (बाहर के पदों में स्थित) देवताओं की श्रेणी में रखा गया है। इनमें भी विकर्णों पर स्थित देवताओं को कोणों के देवता कहते हैं। वास्तुमण्डल के बाहर भी देवताओं का वर्णन है, परन्तु किसी ग्रन्थ में स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रकार के देवों तथा कुछ ग्रन्थों में केवल स्त्री अथवा पुरुष देवों को ही वास्तुमण्डल के बाहर स्थापित किया गया है। इन देवताओं को पदभोग नहीं दिया गया है।

इस वास्तुमण्डल में स्थापित देवताओं की संख्या में भिन्नता भी देखने को मिलती है। *पौष्करसंहिता, ईश्वरसंहिता, काश्यपसंहिता, प्रतिष्ठासार* (वसुनन्दीकृत) आदि ग्रन्थों में देवताओं की संख्या भिन्न-भिन्न है। *पौष्करसंहिता* तथा *ईश्वरसंहिता* में देवताओं की संख्या 94, *काश्यपसंहिता* में 53 तथा *प्रतिष्ठासार* में 136 है। अन्य ग्रन्थों में देवताओं की संख्या (64 पद से एक हजार पद के वास्तुमण्डलों के देवताओं के समान) 45 है, जिनमें 13 देवता अन्त: पदों में तथा 32 देवता बाह्य पदों में स्थापित होते हैं। इन देवताओं को निश्चित दिशा में निश्चित क्रम से स्थापित किया जाता है।

दिशाओं व कोणों के अनुसार निश्चित पदों में निश्चित देवता की स्थापना तो है, परन्तु देवताओं की स्थापना में पदों की संख्या में भिन्नता मिलती है।

वास्तुमण्डल के केन्द्र में ब्रह्मा की स्थापना की जाती है। ब्रह्मा के चारो दिशाओं एवं चारो कोणों में 12 देवताओं की स्थापना अन्त: पदों में की जाती है। पुन: 32 देवताओं को सभी दिशाओं एवं कोणों के बाह्य पदों में स्थापित करते हैं। इस प्रकार देवताओं का क्रम 1+12+32 का बनता है। इनमें अन्त: पदों के चारों दिशाओं में अर्यमादिक 4 देवता तथा कोणों में आपादिक 8 देवताओं की स्थापना की जाती है। बाह्य पदों के चारों कोणों में ईशानादि 8 देवताओं को तथा चारों दिशाओं में अन्य 24 देवताओं की स्थापना की जाती है। इस प्रकार केन्द्र, अन्त: पदस्थ कोणों के देवता, बाह्य पदस्थ कोणों के देवता तथा दिशाओं में स्थित देवताओं का क्रम

$$1 + 12 \qquad\qquad + 32$$

$$1 + \begin{pmatrix} 4 & \text{(अन्त: कोणों के देवता)} \\ & + \\ 8 & \text{(अन्त: पदस्थ दिशाओं के देवता)} \end{pmatrix} + \begin{pmatrix} 8 & \text{(बाह्य कोणों के देवता)} \\ & + \\ 24 & \text{(बाह्य पदस्थ दिशाओं के देवता)} \end{pmatrix}$$

बनता है।

वास्तुमण्डल के केन्द्र में पदों के प्रथम चक्र एवं द्वितीय चक्र के (1 + 8) = 9 पदों में ब्रह्मा की स्थापना की गयी है। ब्रह्मा के चारों ओर तृतीय एवं चतुर्थ चक्र में 12 देवताओं को 20 पदों से 40 पदों तक में स्थापित किया गया है। बाह्य पद के 32 देवताओं को पाँचवें चक्र के 32 पदों के साथ-साथ भीतर के भी पदों (20 पद तक) को मिलाकर 32 पद से 52 पदों तक में स्थापित किया गया है।

किन्हीं ग्रन्थ में कुछ देवता एक पद भोगी (एक पद में स्थापित) हैं तो वहीं दूसरे ग्रन्थों में द्विपद भोगी हो गए हैं। कुछ देवता किसी ग्रन्थ में त्रिपद भोगी हैं तो अन्य ग्रन्थों में षट्पद भोगी (छ: पदों में स्थापित) हो गए हैं।

देवताओं के नामों में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में विभिन्नता पायी जाती है। देवताओं के पर्यायवाची नामों का प्रयोग ग्रन्थों में किया गया है।

देवताओं की स्थापना में पदों की संख्या में समानता के साथ-साथ भिन्नता भी है। इस प्रकार परमशायिक पदविन्यास में देवताओं के पद भोग के आधार पर वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों, आगम ग्रन्थों व जैन ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के पदविन्यास बनते हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवताओं के पदभोग के आधार पर विभिन्न प्रकार के 81 पद का विन्यास एवं ग्रन्थ

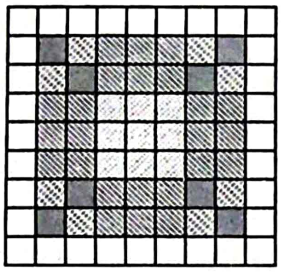

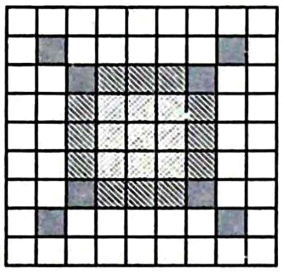

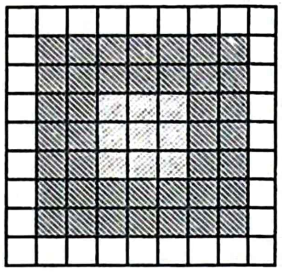

अन्त:पद के देवता —			
ब्रह्मा-1	1 × 9 = 9	1 × 9 = 9	1 × 9 = 9
अर्यमादिक-4 (दिशाओं के देवता)	4 × 6 = 24	4 × 3 = 12	4 × 6 = 24
आपवत्सादिक-8 (अन्त:कोणों के देवता)	8 × 1 = 8	8 × 1 = 8	8 × 2 = 16
बाह्यपद के देवता —			
ईशादिक-4 (बाह्यकोणों के देवता)	4 × 1 = 4	4 × 1 = 4	32 × 1 = 32
पर्जन्यादिक-8	8 × 1 = 8	8 × 1 = 8	
जयन्तादिक-8	8 × 2 = 16	20 × 2 = 40	
इन्द्रादिक-12	12 × 1 = 12		
	45 — 81 पद	45 — 81 पद	45 — 81 पद

1. समराङ्गणसूत्रधार

1. बृहत्संहिता
2. मत्स्यपुराण
3. विश्वकर्मप्रकाश
4. नारदसंहिता
5. मेरुतन्त्र
6. वशिष्ठसंहिता
7. मानसोल्लास
8. नारदपुराण
9. भविष्यपुराण
10. विष्णुधर्मोत्तरपुराण
11. गरुडपुराण

1. मानसार
2. मयमतम्
3. वास्तुविद्या
4. दीपार्णव
5. अजितागम
6. शिल्परत्न
7. अग्निपुराण
8. वास्तुमण्डन
9. वास्तुमञ्जरी
10. शारदा तिलक
11. काश्यपशिल्प
12. अत्रिसंहिता
13. विष्णुसंहिता
14. तन्त्रराजतन्त्र
15. तन्त्रसमुच्चय
16. सुखानन्दवास्तु
17. ज्ञानरत्नकोष
18. वास्तुराजवल्लभ
19. अपराजितपृच्छा
20. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति
21. मनुष्यालयचन्द्रिका
22. काश्यपसंहिता
23. प्रासादमण्डन

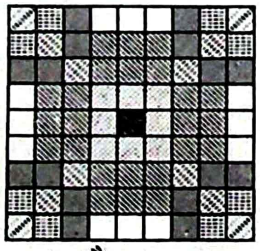

1. वैखानसागम

ब्रह्मा-1	1 × 1 = 1
मध्य के द्वितीय चक्र में मरीचि आदि देवता	8 × 1 = 8
अर्यमादिक-4	4 × 6 = 24
आपवत्सादिक-8	8 × 1 = 8
ईशादिक-4	4 × 1 = 4
पर्जन्यादिक-8 (बाह्य पदों के देवता)	8 × 1 = 8
जयन्तादिक-8	8 × 2 = 16
इन्द्रादिक-12	12 × 1 = 12
	55 — 81 पद

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

स्टेला क्रैमरिश ने अपनी पुस्तक ***The Hindu Temple***[1] के प्रथम भाग में परमशायिक वास्तुमण्डल का वर्णन किया है। विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित अन्त: पद व बाह्य पद के देवताओं के पदभोग में 'Rhythm' की व्याख्या की है। इस वास्तुमण्डल में केन्द्र से बाहर की ओर दिशाओं में अन्त: पद के देवता व बाह्य पद के देवताओं के पदभोग

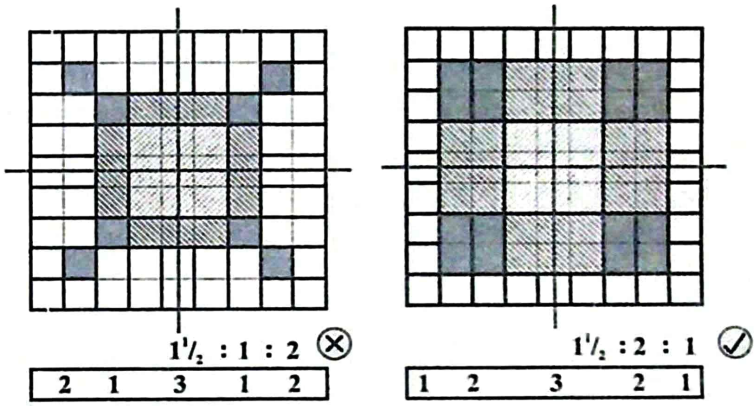

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति - XXVII.35

उत्तरार्द्ध - 27.9-12, 35-38; **पूर्वार्द्ध** - XI.40-41

के अनुपात $1^1/_2 : 1 : 2$ तथा $1^1/_2 : 2 : 1$ का 'Rhythm' दो प्रकार का बताया है। पृष्ठ 87 पर चित्र 5 एवं 6 में *ईशानशिवगुरुदेवपद्धति* व *तन्त्रसमुच्चय* के अन्त: पद के देवताओं व कोणों के देवताओं के पदभोग में 'Rhythm' सही नहीं है। चित्र 5 में *ईशानशिवगुरुदेवपद्धति*[2] (अध्याय 27) के अर्यमादिक देवताओं का पदभोग 3 पद तथा बाह्य पद के 32 देवताओं का पदभोग 52 पद दिखाया है और $1^1/_2 : 1 : 2$ का 'Rhythm' बताया है जबकि अर्यमादिक 4 देवताओं में प्रत्येक का पदभोग 6 पद, बाह्य पद के 32 देवताओं का पदभोग 32 पद है तथा 'Rhythm' $1^1/_2 : 2 : 1$ का बनता है।

इसी प्रकार **स्टेला क्रैमरिश** ने पृष्ठ 87 चित्र संख्या 6[3] में *तन्त्रसमुच्चय*[4] XI. 1-4 में विकर्णों के देवताओं का पदभोग 1 पद *समराङ्गणसूत्रधार* में वर्णित पदविन्यास के समान बताया है, जबकि इनका पदभोग ग्रन्थ में दो पद 'विदिक्षु युग्मयुगलं' वर्णित है। विकर्णों के देवताओं के पदभोग का 'Rhythm' $1^1/_2 : 1 : 2$ के स्थान पर 'Rhythm' $1^1/_2 : 2 : 1$ का होगा

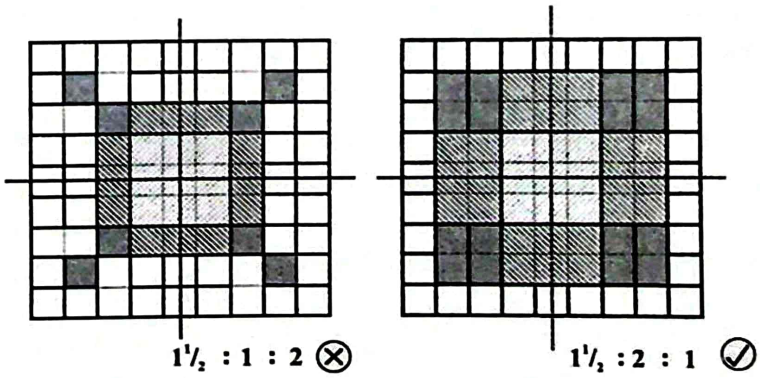

तन्त्रसमुच्चय - 1.60-70

1. **Stella Kramricsh**, *The Hindu Temple*, Vol. I, Motilal Banarsidass Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1996. The same illustration is used by **Kapila Vatsyayan**, *Squares and Circles in India Art*, Abhinav Publications, Delhi, p. 76, figure 24.5-6
2. वही
3. द्रष्टव्य *स्थापत्यम्* (जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसिएशन ऑफ आर्किटेक्चर एण्ड एलाइड साइंसेज), भाग 1, अंक 3, जूलाई 2014, पृ. 231
4. वही, पृ. 233

CC0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

अन्त:संश्रयस्थ (भीतर के पदों में स्थापित) देवता

1. ब्रह्मा — इन्हें मध्य का देवता भी कहा जाता है। ग्रन्थों में इन्हें वास्तुमण्डल के मध्य में नव पद में स्थापित किया गया है। *वैखानसागम* में एक पद, *पौष्करसंहिता* एवं *ईश्वरसंहिता* में इन्हें चारों कोणों पर अष्टकमल के मध्य में स्थापित किया गया है।

2. अर्यमा
3. विवस्वान्
4. मित्र
5. पृथ्वीधर

ये चार देवता ब्रह्मा के चारों ओर क्रमश: पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में स्थापित होते हैं। *बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण, मेरुतन्त्र, नारदसंहिता, विश्वकर्मप्रकाश, मानसोल्लास* आदि ग्रन्थों में तीन-तीन पदों में स्थापित हैं तथा *मानसार, मयमतम्, अजितागम, विष्णु संहिता, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, अग्निपुराण, तन्त्रसमुच्चय, दीपार्णव, वास्तुराजवल्लभ, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, मनुष्यालयचन्द्रिका, अत्रिसंहिता, काश्यपसंहिता* आदि ग्रन्थों में 6-6 पदों में स्थापित हैं।

6. आप
7. आपवत्स
8. सावित्र
9. सविता
10. इन्द्र
11. इन्द्रजय
12. रुद्र
13. रुद्रजय

ये आठ देवता भीतर के कोणों के देवता भी कहे जाते हैं। ये दो-दो देवों के क्रम में क्रमश: ईशान कोण, आग्नेय कोण, नैर्ऋत्य कोण तथा वायव्य कोण में विकर्णों पर स्थापित किये जाते हैं। ये *समराङ्गणसूत्रधार, बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण, मेरुतन्त्र, नारदसंहिता, विश्वकर्मप्रकाश, मानसोल्लास, गरुडपुराण, वशिष्ठसंहिता, विष्णुधर्मोत्तरपुराण* आदि ग्रन्थों में एक पद भोगी तथा *मानसार, मयमतम्, अजितागम, विष्णुसंहिता, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, अग्निपुराण, तन्त्रसमुच्चय, दीपार्णव, वास्तुराजवल्लभ, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, काश्यपसंहिता, मनुष्यालयचन्द्रिका, अत्रिसंहिता,* आदि ग्रन्थों में द्विपद भोगी हैं।

बहि:संश्रयस्थ (बाहर के पदों में स्थित) देवता

14. ईश
15. पर्जन्य
16. जयन्त
17. इन्द्र
18. आदित्य
19. सत्य
20. भृश
21. अन्तरिक्ष

ये आठ देवता पूर्व की दिशा में ईशान कोण से आग्नेय कोण की ओर क्रमश: स्थापित होते हैं। इनमें ईश (शिखी, अग्नि), पर्जन्य तथा अन्तरिक्ष तो सभी ग्रन्थों में एक पद भोगी हैं तथा शेष देवता *मानसार, मयमतम्, अजितागम, विष्णुसंहिता, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, अग्निपुराण, तन्त्रसमुच्चय, दीपार्णव, वास्तुराजवल्लभ, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, मनुष्यालयचन्द्रिका, अत्रिसंहिता, काश्यपसंहिता* आदि ग्रन्थों में एक पद भोगी तथा *बृहत्संहिता, नारदसंहिता, मेरुतन्त्र, मत्स्यपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, मानसोल्लास, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, गरुडपुराण, वशिष्ठसंहिता* आदि ग्रन्थों में द्विपद भोगी हैं। जबकि *समराङ्गणसूत्रधार* में जयन्त एवं भृश ही द्विपद भोगी हैं।

22. अग्नि/वायु
23. पूषा
24. वितथ
25. गृहक्षत
26. यम
27. गन्धर्व
28. भृङ्गराज
29. मृग

ये आठ देवता दक्षिण दिशा में अग्निकोण से नैर्ऋत्य कोण की ओर क्रमश: स्थापित होते हैं। इनमें अग्नि या वायु, पूषा तथा मृग (मृष, वृष) सभी ग्रन्थों में एक पद भोगी तथा शेष अन्य देवता *मानसार, मयमतम्, अजितागम, विष्णुसंहिता, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, अग्निपुराण, तन्त्रसमुच्चय, दीपार्णव, वास्तुराजवल्लभ, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, मनुष्यालयचन्द्रिका, अत्रिसंहिता, काश्यपसंहिता* आदि ग्रन्थों में एक पद भोगी तथा *बृहत्संहिता, नारदसंहिता, मेरुतन्त्र, मत्स्यपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, मानसोल्लास, गरुडपुराण, वशिष्ठसंहिता, विष्णुधर्मोत्तर पुराण* आदि में द्विपद भोगी बताये गये हैं। जबकि *समराङ्गणसूत्रधार* में वितथ तथा भृङ्गराज ही द्विपद भोगी हैं।

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

30. पितृगण
31. दौवारिक
32. सुग्रीव
33. पुष्पदन्त
34. वरुण
35. असुर
36. शोष
37. पापयक्ष्मा/रोग

ये आठ देवता पश्चिम दिशा में नैर्ऋत्य कोण से वायव्य कोण की ओर क्रमशः स्थापित होते हैं। इनमें पितृगण, दौवारिक तथा पापयक्ष्मा (रोग, पाप, यक्ष्मा) तो एक पद भोगी हैं तथा अन्य शेष देवता *मानसार, मयमतम्, अजितागम, विष्णुसंहिता, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, अग्निपुराण, तन्त्रसमुच्चय, दीपार्णव, वास्तुराजवल्लभ, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, मनुष्यालयचन्द्रिका, अत्रिसंहिता, काश्यपसंहिता* आदि ग्रन्थों में एक पद भोगी तथा *बृहत्संहिता, नारदसंहिता, मेरुतन्त्र, मत्स्यपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, मानसोल्लास, गरुडपुराण, वशिष्ठसंहिता, विष्णुधर्मोत्तरपुराण* आदि में द्विपद भोगी बताये गये हैं। जबकि *समराङ्गणसूत्रधार* में सुग्रीव तथा शोष ही द्विपद भोगी हैं।

38. वायु/रोग
39. नाग
40. मुख्य
41. भल्लाट
42. सोम
43. चरक
44. अदिति
45. दिति

ये आठ देवता उत्तर दिशा में वायव्य कोण से ईशान कोण की ओर क्रमशः स्थापित होते हैं। इनमें रोग अथवा वायु, नाग (अहि) तथा दिति (दैत्यमाता) तो सभी ग्रन्थों में एक पद भोगी ही हैं; परन्तु शेष अन्य देवता *मानसार, मयमतम्, अजितागम, विष्णुसंहिता, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, अग्निपुराण, तन्त्रसमुच्चय, दीपार्णव, वास्तुराजवल्लभ, काश्यपशिल्प, वास्तुविद्या, शिल्परत्न, अपराजितपृच्छा, मनुष्यालयचन्द्रिका, अत्रिसंहिता, काश्यपसंहिता* आदि ग्रन्थों में एक पद भोगी तथा *बृहत्संहिता, नारदसंहिता, मेरुतन्त्र, मत्स्यपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, मानसोल्लास, गरुडपुराण, वशिष्ठसंहिता, विष्णुधर्मोत्तरपुराण* आदि में द्विपद भोगी हैं। *समराङ्गणसूत्रधार* में मुख्य और अदिति ही द्विपद भोगी हैं।

वास्तुमण्डल के बाहर चरकी, विदारी, पूतना तथा पापराक्षसी को क्रमशः ईशान कोण, आग्नेय कोण, नैर्ऋत्य कोण तथा वायव्य कोण के बाहर बिना पद भोग के बताया गया है। ये स्त्री देवता हैं। कुछ ग्रन्थों में इन देवताओं के साथ-साथ अन्य देवताओं का भी वर्णन है। चरकी, स्कन्द, विकट, विदारी, पूतना, जृम्भ, पाप तथा पिलिपिच्छ ये देवता बिना पद भोग के क्रमशः ईशान कोण से उत्तर दिशा की ओर प्रदक्षिणा क्रम से आठों दिशाओं में स्थापित हैं।

देवताओं को पद-विशेष में स्थापना में भिन्नता आग्नेय कोण एवं वायव्य कोण में विशेष हैं। *समराङ्गणसूत्रधार, बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण* आदि ग्रन्थों में आग्नेय कोण में वायु की स्थापना एवं वायव्य कोण में रोग की स्थापना की गई है। जबकि *मानसार, मयमतम्, वास्तुविद्या* आदि ग्रन्थों में आग्नेय कोण में अग्नि तथा वायव्य कोण में वायु की स्थापना की गई है, परन्तु *वास्तुराजवल्लभ, दीपार्णव, अपराजितपृच्छा* आदि में आग्नेय कोण में अग्नि तथा वायव्य कोण में रोग की स्थापना की गई हैं।

इस प्रकार अग्नि, वायु व रोग देवताओं की पद-स्थापना की दिशा में भिन्नता तथा वास्तुमण्डल में स्थापित न करने के कारण ग्रन्थों को तीन मुख्य वर्गों में पाते हैं-

प्रथम वर्ग — आग्नेय कोण में अग्नि एवं वायव्य कोण में वायु स्थापित करने वाले ग्रन्थ
द्वितीय वर्ग — आग्नेय कोण में अग्नि एवं वायव्य कोण में रोग स्थापित करने वाले ग्रन्थ
तृतीय वर्ग — आग्नेय कोण में वायु एवं वायव्य कोण में रोग स्थापित करने वाले ग्रन्थ

इस प्रकार पञ्चभूतों में अग्नि एवं वायु तत्त्वों को नहीं स्थापित करने के आधार पर ग्रन्थों को दो भागों में विभक्त पाते हैं।

1. **अग्नि स्थापित नहीं करने वाले ग्रन्थ**
2. **वायु स्थापित नहीं करने वाले ग्रन्थ**

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रथम वर्ग	द्वितीय वर्ग	तृतीय वर्ग
अग्नि (आग्नेय कोण) — वायु (वायव्य कोण)	अग्नि (आग्नेय कोण) — रोग (वायव्य कोण)	वायु (आग्नेय कोण) — रोग (वायव्य कोण)
1. मानसार	1. अपराजितपृच्छा	1. समराङ्गणसूत्रधार
2. मयमतम्	2. वास्तुराजवल्लभ	2. विश्वकर्मप्रकाश
3. वास्तुविद्या	3. प्रासादमण्डन	3. बृहत्संहिता
4. शिल्परत्न	4. वास्तुमण्डन	4. नारदसंहिता
5. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति	5. वास्तुसार	5. वशिष्ठसंहिता
6. मनुष्यालयचन्द्रिका	6. दीपार्णव	6. मानसोल्लास
7. ज्ञानरत्न कोष	7. सुखानन्दवास्तु	7. मेरूतन्त्र
8. काश्यपशिल्प	8. अजितागम	8. मत्स्यपुराण
9. काश्यपसंहिता	9. पद्मसंहिता	9. भविष्यपुराण
10. विष्णुसंहिता	10. सिरि-वत्थुसार-पयरणं	10. विष्णुधर्मोत्तरपुराण
11. अत्रिसंहिता	11. अग्निपुराण	11. गरुणपुराण
12. शारदा तिलक	12. विश्वकर्माकृत वास्तुविद्या	12. नारदपुराण
13. तन्त्रसमुच्चय	13. प्रयोगपराजिता	
14. वास्तुमञ्जरी	14. वास्तुहोमविधि	
15. तन्त्रराजतन्त्र		

अग्नि स्थापित नहीं करने वाले ग्रन्थ	वायु स्थापित नहीं करने वाले ग्रन्थ
1. समराङ्गणसूत्रधार	1. अपराजितपृच्छा
2. विश्वकर्मप्रकाश	2. वास्तुराजवल्लभ
3. बृहत्संहिता	3. प्रासादमण्डन
4. नारदसंहिता	4. वास्तुमण्डन
5. वशिष्ठसंहिता	5. वास्तुसार
6. मानसोल्लास	6. दीपार्णव
7. मेरुतन्त्र	7. सुखानन्द वास्तु
8. मत्स्यपुराण	8. अजितागम
9. भविष्यपुराण	9. पद्मसंहिता
10. विष्णुधर्मोत्तरपुराण	10. सिरि-वत्थुसार-पयरणम्
11. गरुडपुराण	11. अग्निपुराण
12. नारदपुराण	12. विश्वकर्माकृत वास्तुविद्या
	13. प्रयोगपारिजात
	14. वास्तुहोमविधि

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

वस्तुत: भारतीय वास्तुशास्त्र का मूल आधार पदविन्यास एवं उसमें स्थापित देव-कल्पना है; और जब देव स्थापना के आधार पर वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों के बाद के वास्तुशास्त्रीय साहित्य का अवलोकन करते हैं तब ग्रन्थ तीन परम्पराओं में विभक्त नजर आते हैं-

1. *छान्दोग्योपनिषद्* में वर्णित त्रिवृत्करण से प्रभावित ग्रन्थ,
2. *ऐतरेयोपनिषद्* व *शाङ्कर-वेदान्त* में वर्णित पञ्चीकरण से प्रभावित ग्रन्थ,
3. वे ग्रन्थ जो त्रिवृत्करण व पञ्चीकरण से पूर्णत: प्रभावित नहीं दिखते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में त्रिवृत्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित है, वहीं *ऐतरेयोपनिषद्* में पञ्चीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। वेदान्त की परम्परा में आदि शङ्कराचार्य ने पञ्चीकरण के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। पुराण, ज्योतिषीय ग्रन्थ एवं तन्त्र साहित्य में उपलब्ध वास्तुशास्त्रीय साहित्य *छान्दोग्योपनिषद्* से प्रभावित हैं, वहीं दक्षिण भारत में रचित अधिकांश ग्रन्थ *ऐतरेयोपनिषद्* से प्रभावित हैं। *छान्दोग्योपनिषद्* परम्परा में तेज, जल एवं पृथ्वी का त्रिवृत्करण कर एक तत्त्व माना है, तथा आकाश एवं वायु को पृथक्-पृथक् सूक्ष्म अत्रिवृत्कृत दो तत्त्व माना है। सत् से तेज, तेज से जल एवं जल से अन्न (पृथ्वी तत्त्व) उत्पन्न होता है।

यदग्ने रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।। यदादित्यस्य रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।। यच्चन्द्रमसो रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।[1]

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार आदित्य, चन्द्रमा में रोहित (लाल) वर्ण तेज, शुक्ल वर्ण जल तथा कृष्ण वर्ण अन्न (पृथ्वी) हैं। आदित्य या चन्द्रमा वाणी से सम्बोधित नाम मात्र हैं, वास्तव में तो स्वरूप एक ही है। इस प्रकार तेज, जल एवं पृथ्वी का त्रिवृत्करण होने से वह एक ही तत्त्व है। *छान्दोग्योपनिषद्* परम्परा में सूक्ष्म भूतों (तेज + जल + पृथ्वी) + आकाश + वायु तीनों के सम्मिश्रण से स्थूलभूत का निर्माण होता है। इस प्रक्रिया में आधा भाग उस स्थूल भूत का तथा शेष आधे भाग में बराबर-बराबर शेष दो भूतों का होता है।

त्रिवृत्करण

सूक्ष्म-भूत						स्थूल भूत
(तेज + जल + पृथ्वी)	+	वायु	+	आकाश	=	सत्
$^1/_2$	+	$^1/_4$	+	$^1/_4$		(तेज + जल + पृथ्वी)
$^1/_4$	+	$^1/_2$	+	$^1/_4$		वायु
$^1/_4$	+	$^1/_4$	+	$^1/_2$		आकाश

छान्दोग्योपनिषद् से प्रभावित उत्तर भारत में रचित वास्तुशास्त्रीय (*समराङ्गणसूत्रधार* आदि) एवं पुराणादि ग्रन्थों में वर्णित वास्तुमण्डल में अग्नि की स्थापना न होने का रहस्य त्रिवृत्करण है। आदित्य में तेज, जल एवं पृथ्वी का त्रिवृत्करण है। पूर्व दिशा में आदित्य, आकाश एवं वायु की स्थापना की गयी है। इस प्रकार पाँचों सूक्ष्म भूतों की स्थापना वास्तुमण्डल में हो जाती है। आग्नेय कोण में अग्नि के स्थान पर वायु की स्थापना का रहस्य यही है।

1. छान्दोग्योपनिषद्, 6.4.1-3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

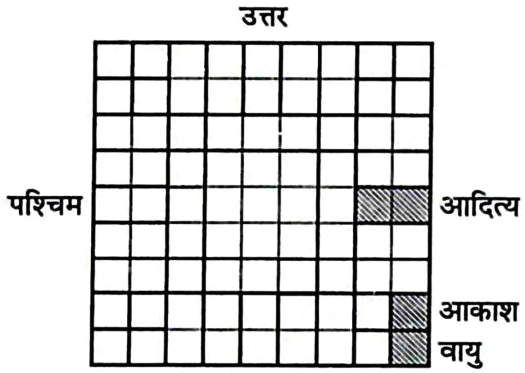

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।ओषधीभ्योऽन्नम्।अन्नात्पुरुषः।[2]

अथातः परमहंसानां समाधिविधिं व्याख्यास्यामः। ॐ सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्। पञ्चानां भूतानामेकैकं द्विधा विभज्य स्वार्द्धभागं विहायार्द्धभागं चतुर्धा विभज्येतरेषु योजिते पञ्चीकरणं मायारूपदर्शनम् अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।[3]

ऐतरेयोपनिषद् व *शाङ्कर-वेदान्त* की परम्परा में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश सूक्ष्म-भूत हैं, और आपस में सम्मिश्रित होकर स्थूल-भूत बन जाते हैं। प्रत्येक स्थूल भूत में उसका आधा भाग होता है। शेष आधे भाग में चार सूक्ष्म भूतों के बराबर-बराबर भाग होते हैं।

पञ्चीकरण

सूक्ष्म-भूत										स्थूलभूत
आकाश	+	वायु	+	तेज	+	जल	+	पृथ्वी		
$^1/_2$		$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_8$	=	आकाश
$^1/_8$		$^1/_2$		$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_8$	=	वायु
$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_2$		$^1/_8$		$^1/_8$	=	तेज
$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_2$		$^1/_8$	=	जल
$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_8$		$^1/_2$	=	पृथ्वी

ऐतरेयोपनिषद् परम्परा में आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी अलग-अलग पाँच सूक्ष्म तत्त्व वर्णित हैं। अतः इस परम्परा के ग्रन्थों में वर्णित वास्तुमण्डल में आग्नेय कोण में अग्नि व वायव्य कोण में वायु की स्थापना की गई है।

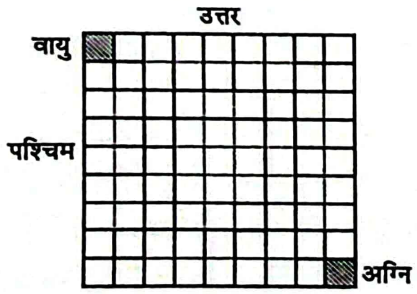

2. ऐतरेयोपनिषद्, 3.1
3. श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीतं पञ्चीकरणम्

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गुजरात में भुवनदेव द्वारा *अपराजितपृच्छा*, राजस्थान के मेवाड़ क्षेत्र में सूत्रधार मण्डन व उनके परिवार द्वारा भी वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। इन ग्रन्थों में अग्नि की स्थापना तो की गई है परन्तु वायु की स्थापना नहीं है। *छान्दोग्योपनिषद्* परम्परा व *ऐतरेयोपनिषद्* की परम्परा में वायु को सूक्ष्म तत्त्व माना गया है और स्थापित भी किया गया है। रोग देवता भी दोनों परम्पराओं में स्थापित हैं, परन्तु पश्चिम भारत की इस परम्परा में वायु को स्थापित न करना आश्चर्यचकित करता है, साथ ही शोध के आयाम भी प्रदान करता है।

पश्चिम भारत में रचे गए इन ग्रन्थों में पदविन्यास *ऐतरेयोपनिषद्* व *शाङ्कर वेदान्त* से प्रभावित परम्परा के ग्रन्थों (*मानसार, मयमतम्* आदि) के समान है, किन्तु वायु की स्थापना नहीं होने से इन ग्रन्थों को इस परम्परा से तथा *छान्दोग्योपनिषद्* परम्परा से भी अलग करता है।

प्रथम प्रकार

समराङ्गणसूत्रधार में परमशायिक पदविन्यास के पदों में देवताओं की स्थापना 1 + 12 + 32 के क्रम में की गई है। मध्य में 9 पदों में महाकान्ति वाले ब्रह्मा की स्थापना की गई है तथा अन्त:संश्रयस्थ देवताओं को 32 पद जिनमें कोणों के 8 देवताओं को 8 पद तथा चारों दिशाओं में 4 देवताओं को 24 पद (4 × 6 पद) में स्थापित किया गया है। 32 देवताओं को 32 बाह्य पदों तथा 8 अन्त: पदों को मिलाकार 40 पदों में स्थापित किया गया है। इस प्रकार के पदविन्यास में भीतर के पदों में स्थापित देवताओं तथा बाह्य पदों में स्थापित देवताओं के पद भोग की संख्या लगभग समान है।

		अन्त:पदीय देवता		बाह्यपदीय देवता
पद 81	=	41		40
क्षेत्रफल	=	50.61%		49.30%
अनुपात	=	1	:	1

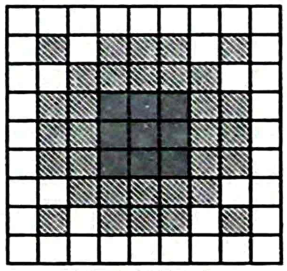

9 + 32 + 40

समराङ्गणसूत्रधार[4] में ब्रह्मा के पूर्व में 6 पदों में अर्यमा तथा अग्नि कोण में एक-एक पद में सवित्र एवं सावित्र स्थापित हैं। ब्रह्मा से दक्षिण में 6 पदों में विवस्वान् व नैर्ऋत्य कोण में कर्ण पर जय तथा इन्द्र की स्थापना एक-एक पद में हुई है। ब्रह्मा से पश्चिम में 6 पदों में मित्र तथा वायव्य कोण के कर्ण पर यक्ष्मा तथा रुद्र की स्थापना एक-एक पद पर की गई है। ब्रह्मा से उतर में 6 पदों में पृथ्वीधर तथा ईशान कोण में एक-एक पद में आप तथा आपवत्स की स्थापना की गयी है। *समराङ्गणसूत्रधार* में वर्णित पदविन्यास में देवताओं की स्थापना तो उपनिषदीय परम्परा से प्रभावित ग्रन्थों की तरह ही है परन्तु देवताओं का पदभोग शाङ्कर-वेदान्त से प्रभावित ग्रन्थों की तरह है। इस प्रकार मध्य भारत में लिखा गया यह ग्रन्थ उत्तर एवं दक्षिण भारत में समन्वय स्थापित करता दिखता है।

4. चतुरश्रीकृते क्षेत्रै विभक्ते नवधा तत:। इत्यन्त:संश्रया देवा: प्रोक्ता ब्रूमो बहि:स्थितान्। वह्नेर्वायो: पितर्णिां च व्याधेश्चैव क्रमाद् बहि:।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

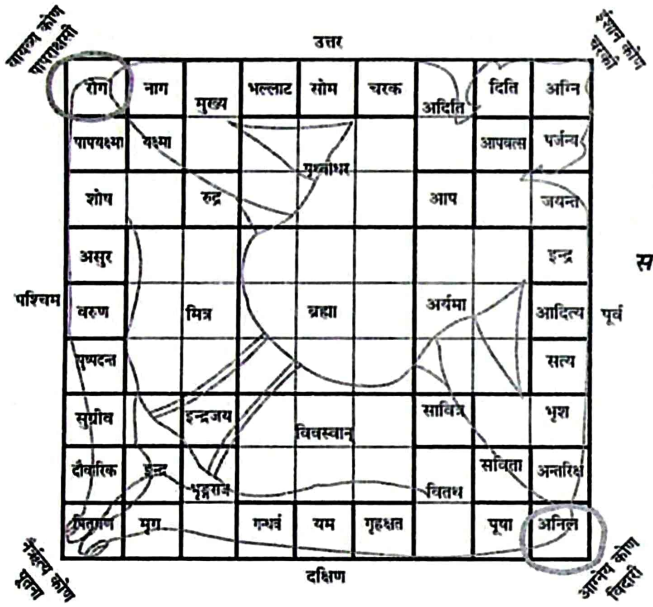

समराङ्गणसूत्रधार, 11.1-14

बाहर के 32 देवताओं में आठ देवताओं को द्विपदाधीश बताया है। जयन्त, भृश, वितथ, भृङ्गराज, सुग्रीव, शोष, मुख्य एवं अदिति इन आठ देवताओं को दो-दो पद में तथा 24 बचे हुए बाहर के देवताओं को एक-एक पद में स्थापित किया गया है। अग्नि (ईशान कोण), वायु (अग्नि कोण), पितृ (नैर्ऋत्य कोण), व्याधि (वायव्य कोण) इनके बाहर की ओर क्रमशः चरकी, विदारी, पापराक्षसी तथा पूतना भी स्थापित करते हैं किन्तु इन का पदभोग नहीं है।

इस पदविन्यास की मुख्य विशेषता आग्नेय कोण में अग्नि देवता के स्थान पर वायु देवता की स्थापना तथा वास्तुमण्डल में किसी भी पद में अग्नि देव को स्थापित नहीं करना है। *समराङ्गणसूत्रधार* में अग्नि की स्थापना किसी भी प्रकार के वास्तुमण्डल में नहीं की गई है। ईशान कोण में अग्नि को स्थापित किया गया है, परन्तु यह अग्नि देव नहीं रुद्र देवता हैं। ग्रन्थकर्त्ता ने आगे अध्याय में देवताओं का निघण्टु लिखते समय स्पष्ट किया है-

योऽयं वह्निरिहोक्तः स सर्वभूतहरो हरः।[5]

यह जो अग्नि कहा गया है, वे सर्वभूतों का हरण करने वाले रुद्र देवता हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह अग्नि देव नहीं रुद्र देवता हैं।

मध्ये महाद्युतिर्ब्रह्मा विधेयो नवभिः पदैः।।
तस्मादनन्तरं प्राच्यां षट्पदः कीर्तितोऽर्यमा।
आग्नेयकर्णे सवितृसावित्रौ पदिकावुभौ।।
ब्रह्मणोऽनन्तरं याम्ये विवस्वान् षट्पदाश्रितः।
नैर्ऋते पदिकौ कर्णे जयेन्द्रौ कथितावुभौ।।
षट्पदः स्यात् ततो मित्रः काष्ठायां पत्युरम्भसः।
कर्णेऽपरोत्तरे यक्ष्मा रुद्रश्च पदिकावुभौ।।
षड्भिः पदैस्ततः सौम्ये निश्चलः पृथिवीधरः।
आपस्तथापवत्सश्च पदिकावीशदिग्गतौ।।
ज्ञेयं प्रदक्षिणं तेषां स्थानं पूर्वोत्तरादितः।।
अग्निस्तदनु पर्जन्यो जयन्तश्चेन्द्र एव च।
रविः सत्यो भृशश्चेति नभस्तस्मात् ततोऽनिलः।।
पूषाख्यो वितथाख्यश्च गृहक्षतयमावथ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणस्ततः।।
दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो जलेश्वरः।
असुरः शोषनामा च पापयक्ष्मा ततः परम्।।
रोगो नागश्च मुख्यश्च भल्लाटः सोम एव च।
चरकोऽथादितिर्दैत्यमातेति पददेवताः।।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी।।
पदभोगोऽस्ति नैतासां स्थानमेव हि केवलम्।
पदभोगमथ ब्रूमो बहिःस्थानां नभःसदाम्।।
तत्राष्टौ द्विपदाधीशा जयन्तो भृश एव च।
वितथो भृङ्गसुग्रीवशोषमुख्यास्तथादितिः।।
एभ्यः शेषा बहिर्ये तु ते स्युः पदभुजः सुराः।
एकाशीतिपदे प्रोक्तो देवतानां पदक्रमः।।

समराङ्गणसूत्रधार, 11.1-14

5. समराङ्गणसूत्रधार, 14.14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुमण्डल में देवताओं की संख्या तो 45 ही है, जिसमें एक प्रमुख देवता अग्नि नहीं है। पापयक्ष्मा देवता जो अन्य ग्रन्थों के अन्त: पदों में कोण के देवता हैं उन्हें बाह्य पद के देवताओं में तथा अन्त: पद के कोण के देवता के रूप में 'यक्ष्मा' का वर्णन किया गया है। वायव्य कोण में वायु के स्थान पर 'रोग' नामक देवता की स्थापना की गई है। देवताओं में 'अग्नि' प्रत्यक्ष देव हैं। इनकी पूजा सभी कालों में सर्वमान्य रही है। सभी देवताओं की पूजा के माध्यम भी 'अग्नि' देव ही रहे हैं। सभी देवताओं को बलि (हवि) अग्नि के माध्यम से ही प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष अग्नि या परोक्ष अग्नि की पूजा हमेशा होती रही है, कहीं आदर से तो कहीं भय से परन्तु इस ग्रन्थ के साथ पुराणों *विश्वकर्म-प्रकाश*, *मानसोल्लास* आदि ग्रन्थों में भी अग्नि देव को स्थापित नहीं किया गया है।

द्वितीय प्रकार

पदविन्यास का यह प्रकार *छान्दोग्योपनिषद्* से प्रभावित ग्रन्थों (पुराणों, ज्योतिषीय ग्रन्थों व तन्त्र साहित्य) में वर्णित है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में सम्भवत: केवल *मानसोल्लास* में ही इसका वर्णन है। इन ग्रन्थों में भी देवताओं की स्थापना 1 + 12 + 32 के क्रम में ही की गयी है। ब्रह्मा को केन्द्र के नौ पदों में तथा अन्त: पद के अन्य 12 देवताओं को केवल 20 पदों में तथा बाह्य पद के देवताओं को बाह्य पदों (32 पद) के साथ भीतर के 20 पदों को मिलाकर (32 + 20) = 52 पदों में स्थापित किया गया है। इस विधि में बाह्य पद के देवताओं की स्थापना में अन्त: पदों का उपयोग अन्य विधियों की तुलना में सर्वाधिक किया गया है। इस प्रकार 45 देवता 81 पदों में 9 + 20 + 52 के क्रम में स्थापित हैं। बाह्य पद के देवताओं व अन्त: पद के देवताओं का अनुपात लगभग दोगुने का है।

		अन्त: पदीय देवता	बाह्य पदीय देवता
पद	=	52	29
क्षेत्रफल	=	64.20%	35.8%
अनुपात	=	1 : 8	: 1

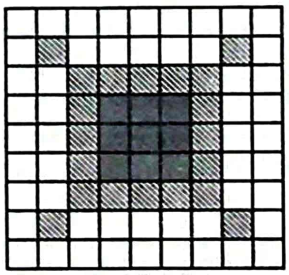

9 + 20 + 52

एकाशीतिविभागे दश दश पूर्वोत्तरायता रेखाः।
अन्तस्त्रयोदश सुरा द्वात्रिंशद्बाह्यकोष्ठस्थाः।।
शिखिपर्जन्यजयन्तेन्द्रसूर्यसत्या भृशोऽन्तरिक्षश्च।
ऐशान्यादिक्रमशो दक्षिणपूर्वेऽनिलः कोणे।।
पूषा वितथवृहत्क्षतयमगन्धर्वाख्यभृङ्गराजमृगाः।
पितृदौवारिकसुग्रीवकुसुमदन्ताम्बुपत्यसुराः।।
शोषोऽथ पापयक्ष्मा रोगः कोणे ततोऽहिमुख्यौ च।
भल्लाटसोमभुजगास्ततोऽदितिर्दितिरिति क्रमशः।।
मध्ये ब्रह्मा नवकोष्ठकाधिपोऽस्यार्यमा स्थितः प्राच्याम्।
एकान्तरात् प्रदक्षिणमस्मात् सविता विवस्वांश्च।।
विबुधाधिपतिस्तस्मान्मित्रोऽन्यो राजयक्ष्मनामा च।
पृथिवीधरापवत्सावित्येते ब्रह्मणः परिधौ।।
आपो नामैशाने कोणे हौताशने च सावित्रः।
जय इति च नैर्ऋते रुद्र आनिलेऽभ्यन्तरपदेषु।।
आपस्तथापवत्सः पर्जन्योऽग्निर्दितिश्च वर्गोऽयम्।
एवं कोणे कोणे पदिकाः स्युः पञ्च पञ्च सुराः।।
बाह्या द्विपदाः शेषास्ते विबुधा विंशतिः समाख्याताः।
शेषाश्चत्वारोऽन्ये त्रिपदा दिक्ष्वर्यमाद्यास्ते।।
बृहत्संहिता, 53.42-50
पञ्चगव्यौषधिजलैः परीक्षित्वा च सेचयेत्।
एकादशीतिपदं कृत्वा रेखाभिः कनकेन च।।
पश्चात्पिष्टेन चाऽऽलिख्य सूत्रेणाऽऽलोड्य सर्वतः।
दश पूर्वायता लेखा दश चैवोत्तरायताः।।
सर्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित्सर्ववास्तुषु।।
पदस्थान्पूजयेद्देवांस्त्रिंशत्पञ्चदशैव तु।
द्वात्रिंशद्बाह्यतः पूज्याः पूज्याश्चान्तस्त्रयोदश।।
नामतस्तान्प्रवक्ष्यामि स्थानानि च निबोधत।
ईशानकोणादिषु तान्पूजयेद्धविषा नरः।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

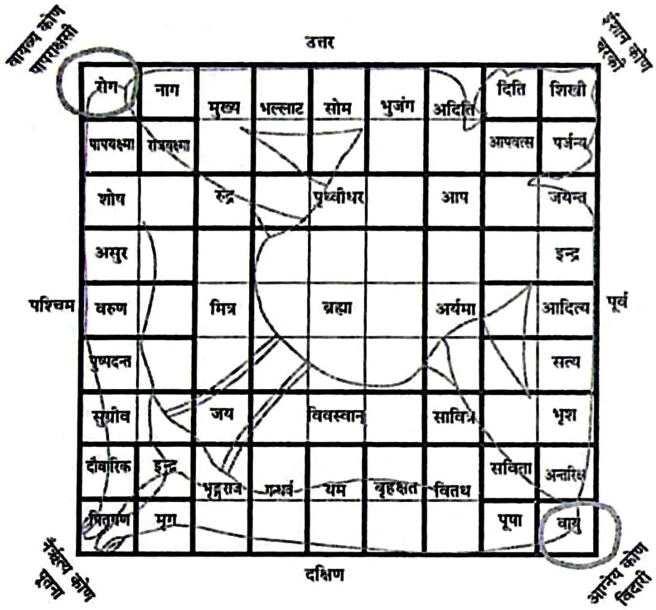

बृहत्संहिता, 53.42-50
मत्स्यपुराण, 253.19-33
विश्वकर्मप्रकाश, 5.51-62
नारदसंहिता, 32.1-13
मेरुतन्त्र, 3.165-175
गरुडपुराण, 46.3-10½
वशिष्ठसंहिता, 39.197-215
मानसोल्लास, 1.75-87
विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 2.29.25-30
भविष्यपुराण, 10.3-12
नारदपुराण, 56.603-612

शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।
सूर्यः सत्यो भृशश्चैव आकाशो वायुरेव च।।
पूषा च वितथश्चैव गृहक्षतयमावुभौ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणस्तथा।।
दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो जलाधिपः।
असुरः शोषपापौ च रोगोऽहिमुख्य एव च।।
भल्लाटः सोमसर्पौ च अदितिश्च दितिस्तथा।
बहिर्द्वात्रिंशदेते तु तदन्तस्तु ततः शृणु।।
ईशानादिचतुष्कोणसंस्थितान्पूजयेद्बुधः।
आपश्चैवाथ सावित्रो जयो रुद्रस्तथैव च।।
मध्ये नवपदे ब्रह्मा तस्याष्टौ च समीपगान्।
साध्यानेकान्तरान्विद्यात्पूर्वाद्याद्यामतः शृणु।।
अर्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः।
मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधरः क्रमात्।।
अष्टमश्चाऽऽपवत्सस्तु परितो ब्रह्मणः स्मृताः।
आपश्चैवाऽऽपवत्सश्च पर्जन्योऽग्निर्दितिस्तथा।।
पदिकानां तु वर्गोऽयमेवं कोणेष्वशोषतः।
तन्मध्ये तु बहिर्विंशद्द्वि पदास्ते तु सर्वशः।।
अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रः पृथ्वीधरस्तथा।
ब्रह्मणः परितो दिक्षु त्रिपदास्ते तु सर्वशः।।

मत्स्य पुराण, 253.19-33

शिखी चैकपदं प्रोक्तः पर्जन्यश्च तथैव च।
जयन्तो द्विपदः सूर्यः सत्यभृशौ द्विकोष्ठकौ।।
पदैकमन्तरिक्षस्तु वायुश्चैकपदः स्मृतः।।
पूषा चैकपदो ह्यस्मिन्द्विपदो वितथस्तथा।
द्विपदौ दक्षिणाशास्थौ गृहक्षतयमावुभौ।।
गन्धर्वमृगराजौ तु द्विपदौ परिकीर्तितौ।
मृगः पितृगणश्चैव दौवारिकश्चैकपादकः।।
सुग्रीवपुष्पदन्तौ च द्विपदौ वरुणस्तथा।
असुरश्च तथा शोको द्विपदाः परिकीर्तिताः।।
पापो रोगस्तथा सर्वस्त्रयश्चैकपदा मताः।
मुख्यभल्लाटसोमाख्याद्विपदास्ते त्रयः स्मृताः।।
सर्पश्च द्विपदः प्रोक्तो ह्यदितिश्च तथैव च।
दितिश्चैकपदा प्रोक्ता द्वात्रिंशद्बाह्यतः स्थिताः।।
ईशानादिचतुष्कोणे संस्थितान्पूजयेद्बुधः।
आपश्चैवाथ सावित्रो जयो रुद्रस्तथैव च।।
तदंतगाश्चैकपदानीशानादिषु विन्यसेत्।
अर्यमा त्रिपदः पूर्वे सविता च तथैकपात्।।
विवस्वांस्त्रिपदो याम्ये इन्द्रश्चैक पदस्तथा।
नैर्ऋते पश्चिमे मित्रस्त्रिपदः परिकीर्तितः।।
वायव्ये राजयक्ष्मा च एकपादः प्रकीर्तितः।
उत्तरे त्रिपदाः पृथ्वीधरायश्चैकपातथा।।
मध्ये नवपदो ब्रह्मा पीतः श्वेतश्चतुर्भुजः।।

विश्वकर्मप्रकाश, 5.51-62

मृगः पितृगणाधीशस्ततो दौवारिकाह्वयः।
सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च जलाधीशस्तथासुरः।।
शेषश्च पापो रोगश्च भोगी मुख्यो निशाकरः।
सोमः सूर्योऽदितिदिती द्वात्रिंशद्त्रिदशा अमी।।
अथेश्यान्यादि कोणस्थाश्चत्वारस्तत्समीपगाः।
आपः सवितृसंज्ञश्च जयोरुद्रः क्रमादमी।।
मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्याष्टौ च समीपगाः।
एकान्तराः स्युः प्रागाद्याः परितो ब्रह्मणः स्मृतः।।
अर्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः।
मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधराह्वयः।।
आपवत्सोष्टमः पञ्चचत्वारिंशत्सुरा अमी।
आपश्चैवापवत्सश्च पर्जन्योऽग्निर्दितिः क्रमात्।।
पदिकानां च वर्गोऽयमेवं कोणेष्वशेषतः।
तन्मध्ये विंशतिर्बाह्या द्विपदास्तेषु सर्वदा।।
अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रः पृथ्वीधराह्वयः।
ब्रह्मणः परितो दिक्षु चत्वारस्त्रिपदाः स्मृताः।।

नारदसंहिता, 32.1-13

वास्तुपूजामहं वक्ष्ये नववेश्म प्रवेशने।
हस्तमात्रा लिखेद्रेखा दशपूर्वा दशोत्तराः।।
गृहमध्येतण्डुलोपर्य्येकाशीतिपदं भवेत्।
पञ्चोत्तरान्वक्ष्यमाणांश्चत्वरिंशत्सु वा न्यसेत्।।
द्वात्रिंशद्बाह्यतः पूज्यास्तत्रांतःस्था स्त्रयोदश।
तेषां स्थानानि नामानि वक्ष्यामि क्रमशोऽधुना।।
ईशानकोणतोबाह्या द्वात्रिंशत्त्रिदशा अमी।
कृपीटयोनिः पर्जन्यो जयंतः पाकशासनः।।
सूर्यसत्यो भृशाकाशौ वायुः पूषा च नैर्ऋतः।
गृहर्क्षतो दण्डधरो गान्धर्वो मृगराजकः।।
विस्तारायामतो हस्तमात्रां तत्र लिखेद् बुधः।
एकाशीतिपदं चक्रं वैदिक्यस्तत्र देवताः।।
मध्यकोष्ठेषु नवसु त्वादौ ब्रह्माणमर्चयेत्।
आपवत्सन्तदीशाने प्रागर्य्यम्णं त्रिकोष्ठके।।
आग्नेये सवितारं च विवस्वन्तमपां त्रिषु।
इन्द्रं नैर्ऋत्यदिग्भागे मित्रं पश्चिमगं त्रिषु।।
वायव्ये राजयक्ष्माण सुमेरुं चोत्तरे त्रये।
वेदकोष्ठेषु चैशान्यामीशं कोणाच्च दवतोः।।
शिखी पर्ज्जन्य आपश्च दितिः प्रोक्ताष्टयोर्द्वयोः।
क्रमादेते पञ्च देवा ज्ञातव्याः सव्यमार्गतः।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस प्रकार में भी आग्नेय कोण में अग्नि देवता के स्थान पर वायु की स्थापना की गई है। वास्तुमण्डल में अग्नि देवता को स्थापित ही नहीं किया गया है। आग्नेय कोण तो सभी ग्रन्थ लिखते हैं, परन्तु अग्नि की स्थापना आग्नेय कोण में सम्भवतः ज्योतिषीय ग्रन्थों व पुराणों की वास्तुशास्त्रीय परम्परा में नहीं है। *विश्वकर्मप्रकाश*, जिसे वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में कर्मकाण्ड व ज्योतिषीय परम्परा का ग्रन्थ मानना चाहिये, भी इसी परम्परा का पोषक है। पौराणिक ग्रन्थों, ज्योतिषीय ग्रन्थों (*बृहत्संहिता, नारदसंहिता, वशिष्ठसंहिता*) *मेरुतन्त्र, विश्वकर्मप्रकाश* ग्रन्थ की परम्परा तथा *समराङ्गणसूत्रधार* की परम्परा एक दिखाई दे रही है। पुराणों में *अग्निपुराण* अन्य पुराणों की परम्परा में दिखाई नहीं देता है।

जयन्तेन्द्रौ सूर्य्यसत्यवृषा आग्नेयकोणके।
अंतरिक्षं तथा वातः पूषा सावित्र एव च।।
चतुष्क ईशतो देवास्ततो दक्षिणपञ्चके।
युग्मे क्रमाच्च वितथो गृहरक्षयमौ तथा।।
गंधर्व्वा भृङ्गराजश्च नैर्ऋतिस्थं चतुष्कके।
ईशानीतो जयमृगौ पितृदौवारिकौ तथा।।
ततः पश्चाद्दिके पञ्च सुग्रीवः पुष्पदंतकः।
वरुणासुरशेषाश्च वायव्ये ईशतस्त्वहिः।।
रुद्रश्च पापयक्षाश्च रोगश्चोत्तरपञ्चसु।
मुख्यो भल्लाटसोमौ च भुजङ्गश्चादितिस्तथा।।
देवा एते पञ्चचत्वारिंशदर्च्याश्च भक्तितः।
अथ तान्त्रिकमार्गे तु चतुष्पष्टिपदे तथा।।

मेरुतन्त्र, 3.165-175

एकाशीतिपदं कार्य्यं तिलैस्तुल्यं सुशोभनम्।
एकद्वित्रिपदाः पञ्चचत्वारिंशत्सुरार्चिताः।।
द्वात्रिंशद्बाह्यतो वक्ष्यमाणाश्चान्तस्त्रयोदश।
तेषां स्थानानि नामानि वक्ष्यामीश्वरकोणतः।।
तत्राग्निशम्भुकोणस्थस्त्वसौ चैव पदेश्वरः।
तस्माद्वितीयः पर्जन्यश्चासावेकपदेश्वरः।।
जयन्त्येन्द्रार्कसत्याख्या भृशाश्च द्विपदेश्वराः।
आकाशवायुपरतः क्रमादेकपदेश्वराः।।
एवं प्राच्यां नव ज्ञात्वा नवमे वान्यदिक्षु च।
आद्यश्चान्तावेकपादा द्विपादाः पञ्च मध्यमाः।
पूषाद्यष्टौ यमान्ताः स्युरमरायाम्यभागगाः।।
अष्टौ पितृगणाधीशा यमान्ताः पश्चिमे सुराः।
आद्यन्तौ द्वौ चैकपदौ द्विपदाः पञ्च मध्यगाः।।
रोगादिरित्यन्तत्सुराः सप्त सौम्यादिशि क्रमात्।
तदधस्थश्चतुष्कोणेष्वीशानादिषु च क्रमात्।।
आपः सावित्रविजयरुद्राश्चैकपदेश्वराः।
मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्येशानादिकोणगाः।।
आपवत्सोऽथ सविता विबुधाधिपसंज्ञकाः।
राजयक्ष्मा च चत्वारः सुराश्चैकपदेश्वराः।।
ब्रह्मणः पूर्वतो दिक्षु त्रिपदाश्चमरा अमी।
अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रः पृथ्वीधरः क्रमात्।।
स्वस्वस्थानेषु देवेषु स्थापितेष्वीदृशं भवेत्।
कोणेषु पञ्च पञ्चैव चतुर्ष्वैकपदाः सुराः।।
प्रागादिदिक्षु द्विपदाः पञ्च पञ्च यथा क्रमात्।
ब्रह्मणः पूर्वतो दिक्षु द्विपदाः स्युः समीपगाः।।
हिरण्यरेताः पर्जन्यो जयन्तः पाकशासनः।
सूर्यसत्यौ भृशाकाशौ वायुः पूषा च वै तथा।।
गृहक्षतः पितृपतिर्गंधर्वो मृगराजकः।
मृगः पितृगणाधीशः स्थाप्यो दौवारिकाह्वयः।।
सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च जलाधीशो निशाचरः।
शोषः पापश्च रोगो हि मुखो भल्लाट एव च।।
सोमसर्पौ दित्यदिती द्वात्रिंशदमराः स्मृताः।
आपश्चैवापवत्सश्च जयो रंध्रस्तथैव च।।
मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्थौ तस्य समीपगः।
प्रागाद्यन्तरिता देवाः परितो ब्रह्मणः स्मृताः।।
अर्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः।
मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधरः क्रमात्।।
आपवत्सोऽष्टमः पञ्चचत्वारिंशत्सुरोत्तमाः।
ज्ञात्वैवं स्थाननामानि ब्रह्मणा सहितानन्यसेत्।।

वशिष्ठसंहिता, 39.197-215

एकाशीतिपदं त्वेवं कर्तव्यं वास्तुमण्डलम्।
तत्र पूज्यान् सुरान् वक्ष्ये पदसङ्ख्याव्यवस्थितान्।।
एकपद्यं द्विपद्यं च त्रिपद्यं नवपद्यकम्।
ईशानकोणादारभ्य प्रादक्षिण्यक्रमेण च।।
पूजनीयाः प्रयत्नेन बाह्याः कोष्टगताः शुभाः।
शिखी ततश्च पर्जन्यो जयन्त कुलिशायुधः।।
सूर्यसत्यभृशाकाशा वायुः पूषा तथैव च।
विवस्वानथ पूज्यः स्याद्गृहक्षतयमौ तथा।।
गन्धर्वभृङ्गराजौ च मृगः पितृगणस्तथा।
दौवारिकश्च सुग्रीवः पुष्पदन्तजलाधिपौ।।
असुरश्चाथ शोषश्च पापो रोगाऽहिमुख्यकौ।
भल्लाटसोमनागाः स्युरदितिर्दितिरेव च।।
द्वात्रिंशत्तु बहिः प्रोक्ताश्चत्वारोऽन्तर्व्यवस्थिताः।
आप ईशानकोणे स्यात्सावित्रो तद्दिक्कोणगः।।
जयो नैर्ऋतकोणस्थो रुद्रो वायव्यकोणगः।
ब्रह्मा नवपदो मध्ये तस्यैवास्ते समीपगः।।
पदमेकं परित्यज्य पूर्वादिदिगवस्थिताः।
अर्यमा पूर्वदिग्भागे सवितागेयकोणगः।।
विवस्वान् दक्षिणे भागे नैर्ऋते विबुधाधिपः।
मित्रस्तु पश्चिमे भागे राजयक्ष्मा च मारुते।।
पृथ्वीधरः सौम्यगः स्यादैशाने चापवत्सकः।
अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रः पृथ्वीधरस्तथा।।
पितामहसमीपस्थाश्चत्वारस्त्रिदशा इमे।
त्रिपङ्क्ति(दाः)कोणसंस्थाना बहिः कोणस्य पार्श्वगाः।।
पदिका इति विख्याताः शेषा द्विपदिकाः सुराः।
कुण्डं त्रिमेखलं कार्यं मण्डलैशानभागतः।।

मानसोल्लास, 1.75-87

पर्जन्यः प्रथमो देवो द्वितीयश्च करग्रहः।
महेन्द्ररविसत्याश्च भृशोऽथ गगनस्ततः।।
पवनश्च महाभागाः पूर्वेणैते प्रकीर्तिताः।।
पुष्योऽथ त्रितुदश्चैव तथैव च ग्रहर्क्षतः।।
यमो भृशश्च गन्धर्वो मृगोऽथ पितरस्तथा।
दक्षिणेन विनिर्दिष्टा देवा भृगुकुलोद्वह।।
दौवारिकश्च सुग्रीवः पुष्पदंतस्तथासुरः।
वरुणस्तु तथा यक्षो रोगः शोषस्तथैव च।।
पश्चिमेन विनिर्दिष्टा देवा दानवनाशनाः।
नागराज स्तथा मुख्यो भल्लाटश्च तथा शशी।।
अदितिश्च कुबेरश्च नागश्चाथ हुताशनः।
एते देवा विनिर्दिष्टास्तथा चोत्तरतो द्विज।।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण-द्वितीय खण्ड, 29.25-30

प्रासादारामदुर्गेषु देवालयमठेषु च।
द्वाविंशति सुरान्बाह्ये तदन्तश्च त्रयोदश।।
ईशश्चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।
सूर्य्यः सत्यो भृगुश्चैव आकाशो वायुरेव च।।
पूषा च वितथश्चैव ग्रहक्षेत्रयमावुभौ।
गन्धर्वो भृगराजस्तु मृगः पितृगणस्तथा।।

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

मध्य के नौ कोष्ठकों में ब्रह्मा हैं। शिखी, पर्जन्य, आप, आपवत्स तथा दिति ये देवता कोण के देवता कहे जाते हैं तथा एक पदिक होते हैं। इसी प्रकार अन्य कोणों में भी 5-5 देवता एक पदिक होते हैं तथा बाहर के सभी अन्य देवता द्विपदिक होते हैं। अर्यमा, विवस्वान्, मित्र तथा पृथ्वीधर त्रिपदिक होते हैं।

इस प्रकार का पद विभाजन *बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, नारदसंहिता, मेरुतन्त्र, वशिष्ठसंहिता, मानसोल्लास, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, नारदपुराण* तथा *भविष्यपुराण* में बताया गया है। ईशान कोण में स्थित देवता को *मेरुतन्त्र* में ईश तथा *बृहत्संहिता* व *मत्स्य पुराण* में शिखी बताया गया है। आग्नेय कोण में स्थित देव को *बृहत्संहिता* में अनिल तथा *मत्स्यपुराण* व *मेरुतन्त्र* में वायु कहा है। इसी प्रकार अन्य देवों के भी पर्यायवाची शब्दों को लिखा गया है।

पदविन्यास का यह स्वरूप *समराङ्गणसूत्रधार, मानसार, मयमतम्, अपराजितपृच्छा* जैसे वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। इस पदविन्यास का वर्णन *छान्दोग्योपनिषद्* में वर्णित त्रिवृत्करण से प्रभावित ज्योतिषीय ग्रन्थों (*बृहत्संहिता, वशिष्ठसंहिता, नारदसंहिता*) तन्त्र साहित्य तथा पुराणों (*मत्स्य, गरुड, भविष्य, विष्णुधर्मोत्तर*) में मिलता है। पुराणों एवं *बृहत्संहिता* जैसे ग्रन्थों की रचना उत्तर भारत में हुई है। वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्य सूत्रों की रचना भी बृहत्तर भारत के उत्तर भारत व पश्चिमोत्तर भारत की रही है।

भारतवर्ष आक्रमणकारियों से त्रस्त रहा है। लूट-पाट, मार-काट, आक्रमण आम बात रही है। हजारों वर्ष तक उत्तर भारत में आक्रमण पर आक्रमण होता रहा तथा आक्रमणकारियों द्वारा मन्दिर, भवन सब ध्वस्त होते रहे। लोग अपने जीवन व अपनी मान्यताओं को सुरक्षित रखने में ही व्यस्त रहे। राजाओं को अपने दुर्ग व साम्राज्य बचाने की चिन्ता स्वाभाविक रही। लड़ाईयाँ लड़ने के लिए, नगर व दुर्ग को सुरक्षित रखने के लिए निश्चित ही सेना व हथियारों की आवश्यकता ज्यादा थी। सैनिकों व हथियारों के भण्डारण के लिए अधिक स्थान की भी। अन्न का भण्डारण भी ज्यादा दिनों के लिए आवश्यक था। सुरक्षित रहने के लिए कम स्थान में रहना श्रेयस्कर है। अर्थात् निवास-स्थान का विस्तार नहीं करने का विचार भी पनपा होगा। इन सबका प्रभाव सामान्य जन के साथ मनीषियों पर भी निश्चित रहा, स्थापत्य से

दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो गणाधिपः।
असुरः शेषपापौ (दौ) च रोगोऽहिमुख (ख्य) एव च।।
भल्लाटः सोमसर्पौ च अदितिश्च दितिस्तथा।
बहिर्द्वात्रिंशदेते तु तदन्तश्चतुरः श्रृणु।।
ईशानादिचतुष्कोणसंस्थितान्पूजयेद्बुधः।
आपश्चैवाथ सावित्री जयो रुद्रस्तथैव च।।
मध्ये नवपदे ब्रह्मा तस्याष्टौ च समीपगान्।
देवानेकोत्तरानेतान्पूर्वादौ नामतः श्रृणु।।
अर्य्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः।
मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधरः क्रमात्।।
अष्टमश्चापवत्सश्च परितो ब्रह्मणः स्मृताः।।
गरुडपुराण, 46.3-10½

मध्ये सम्मार्जयेद्विद्वान्पादान्नव यथाक्रमात्।
कोणे चतुष्पदं ज्ञेयं दिक्षु त्रिपदकं क्रमात्।।
पञ्चकं युग्मपादेन चतुर्दिक्षु ततः परम्।
कोणे चतुष्पदं स्थाप्यं चतुष्कोणे विभावयेत्।।
चतुष्कोणं बहिः कुर्यात्कोणे चापि चतुष्टयम्।
द्वात्रिंशच्च भवेद्बाह्ये चातश्चापि त्रयोदश।।
चत्वारिं शत्पञ्चयुता मिलित्वा वास्तुदेवताः।
शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।।
सूर्यः सत्यो वृषश्चैव आकाशं वायुरेव च।
पूषा च वितथश्चैव गृहान्यश्च यमस्तथा।।
गन्धर्वो मृगराजस्तु मृगाः पितृगणास्तथा।
दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो जलाधिपः।।
असुरः पशुपाशौ च रोगो हि मोक्ष एव च।
भल्लाटः सोमसर्पौ च अदितिश्च दितिस्तथा।।
बहिर्द्वादश इत्येतानीशानादीन्यथाक्रमम्।
ईशानादिचतुष्कोणं संस्थितान्पूजयेद्बुधः।।
आपश्चैवाथ सावित्रो जयो रुद्रस्तथैव च।
अर्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः।।
मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च सप्तमः पृथवीधरः।
अष्टमस्त्वापवत्सस्तु परिधौ ब्रह्मणः स्मृतः।।
भविष्यपुराण-द्वितीय खण्ड, 10.3-12

तेषां स्थानानि नामानि वक्ष्यामि क्रमशोधुना।
ईशानकोणतो बाह्ये द्वात्रिंशत्त्रिदशा अमी।।
कृपीटयोनिः पर्जन्यो जयंतः पाकशासनः।
सूर्यः शशी मृगाकाशौ वायुः पूषा च नैर्ऋतिः।।
गृहाक्षतो दंडधरो गांधर्वो भृगुराजकः।
मृगः पितृगणाधीशस्ततो दौवारिकाह्वयः।।
सोमः सूर्योऽदितिदिती द्वात्रिंशत्त्रिदशा अमी।
अथेशानादिकोणस्थाश्चत्वारस्तत्समीपगाः।।
आपः सावित्रसंज्ञश्च जयो रुद्रः क्रमादमी।
एकांतरा स्युः प्रागाद्याः परितो ब्रह्मणः स्मृताः।।
अर्यमा सविता बिंवविवस्वान्वसुधाधिपः।
मित्रोथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधराह्वयः।।
आपवत्सोऽष्टमः पंचचत्वारिंशतसुरा अमी।
आपश्चैवापवत्सश्च पर्जन्योऽग्निर्दितिः क्रमात्।।
यद्दिक्कानां च वर्गोऽयमेवं कोणेष्वशेषतः।
तन्मध्ये विंशतिर्बाह्या द्विपदास्ते तु सर्वदा।।
अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रः पृथ्वी धराह्वयः।
ब्रह्मणः परितो दिक्षु चत्वारस्त्रिपदाः स्मृताः।।
ब्रह्माणं च तथैकद्वित्रिपदानर्चयेत्सुरान्।
वास्तुमंत्रेण वास्तुज्ञो दूर्वादध्य क्षतादिभिः।।
नारदपुराण, 56.603-612

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

विभिन्न आक्रमणों से प्रभावित क्षेत्र

लगभग 600 ई. पू.
दारा प्रथम

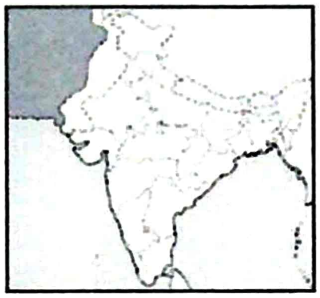

हिन्द प्रान्त लगभग 600 ई.पू. में दारा प्रथम के साम्राज्य का एक भाग था।

लगभग 326-325 ई.पू.
यूनानी आक्रमण

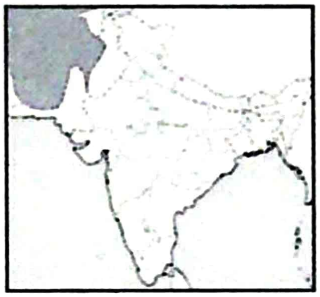

मुख्य आक्रमणकारी सिकन्दर पश्चिमोत्तर भारत, पंजाब, सिन्ध, तक्षशिला व पोरस के कैकय प्रदेश तथा व्यास नदी तक।

लगभग 180 ई.पू. से 10 ई.
बैक्ट्रियन आक्रमण

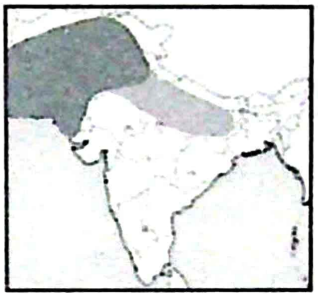

बैक्ट्रिया के यवनों ने मथुरा, साकेत, पाटलिपुत्र तक धावा मारा।

लगभग प्रथम सदी ई. पू. से 375 ई.
शक आक्रमण

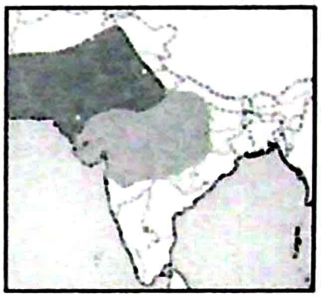

माउस, नहपान व रुद्रदामन का क्षेत्र पंजाब, सिन्ध, काश्मीर।

काठियावाड, उज्जैन, मथुरा, मालवा, पश्चिम दकन, सौराष्ट्र, आनर्त, महाराष्ट्र तक आक्रमण।

लगभग 140 ई. पू. से 300 ई.
कुषाण आक्रमण

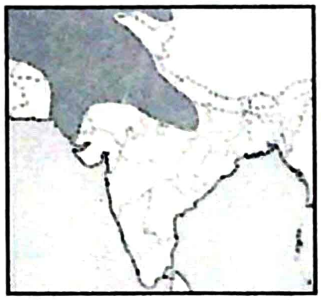

पश्चिमोत्तर भारत, पंजाब, सिन्ध, काश्मीर, मथुरा, कौशाम्बी, काशी, मगध तक आक्रमण।

लगभग 430-528 ई.
हूँण आक्रमण

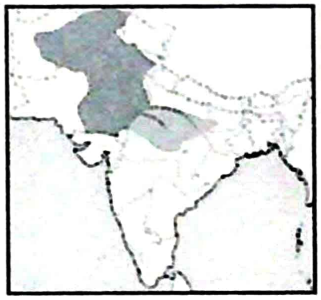

पश्चिमोत्तर प्रदेश को रौंदते हुए गुप्त काल में वाराणसी पार करके स्कन्दगुप्त से युद्ध 5वीं शती अन्त में नरसिंह गुप्त को पराजित कर तोरमाण एवं मिहिर कुल ने एरण से राज्य किया।

712 ई.
अरब आक्रमण

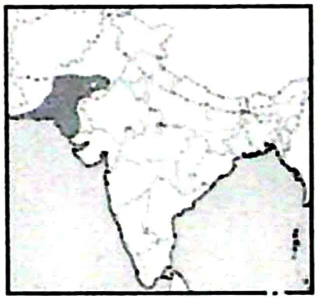

आक्रमणकारी मुहम्मद-बिन-कासिम का सिन्ध प्रान्त पर आधिपत्य।

लगभग 997 - 1030 ई.
महमूद गजनी के अक्रमण

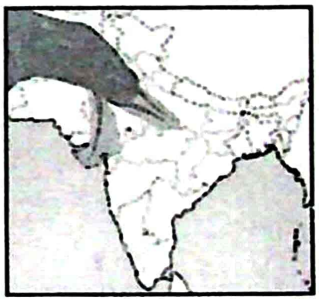

महमूद का पश्चिमोत्तर भारत, मुल्तान, काश्मीर, पंजाब, नगरकोट, सोमनाथ तक आक्रमण।

जुड़े लोगों पर तो विशेष प्रभाव था। अतः उत्तर भारत में रचित ग्रन्थों में निवास स्थान के लिए कम व भण्डारण के लिए अधिक स्थान को ध्यान में रखकर मित्रादिक देवताओं को 3-3 पद ही दिये गये और बाह्य पदों के देवताओं के स्थान पर निवास स्थान न बनाकर भण्डारण का विधान दिया गया।

दक्षिण भारत में आक्रमण उत्तर भारत की अपेक्षा कम रहने के कारण सेना, आयुध, अन्न भण्डारण की आवश्यकता को ज्यादा तरजीह नही दिया गया। राजाओं के निवास स्थान को सीमित करने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई होगी, अतः दक्षिण भारत में *मयमतम्, मानसार* आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करते समय मनीषियों पर उत्तर भारत की तरह का दबाव नही था। दक्षिण भारत के ग्रन्थ मानसार और उत्तर भारतीय वास्तु-साहित्य के ग्रन्थों के

1175 से 1206 ई.
मुहम्मद गोरी के आक्रमण

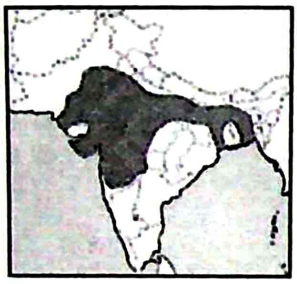

● सिन्ध, मुल्तान, पंजाब, दिल्ली, गुजरात, कच्छ और पश्चिमी राजपूताना में अजमेर व आबू की तलहटी एवं मध्यदेश में कन्नौज तक।

* गोरी के प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ऐबक तथा सेना नायक बख्तियार खिलजी ने पंजाब से लेकर बिहार व बंगाल तक।

लगभग 1221 - 1306 ई. सन्
मंगोल आक्रमण

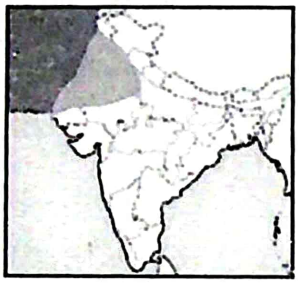

● चंगेज खाँ सिन्धु नदी तक। मंगोल तर्मा शीरीन ने मुल्तान, लाहौर तथा दिल्ली तक।

● अलाउद्दीन ने (1297-1306 ई.) मंगोलों के 6 आक्रमण झेले अन्ततः उनको बुरी तरह कुचला। राजधानी दिल्ली से दौलताबाद करने का कारण में मंगोलों का आतंक।

1398-1530 ई.
तैमूर व बाबर के आक्रमण

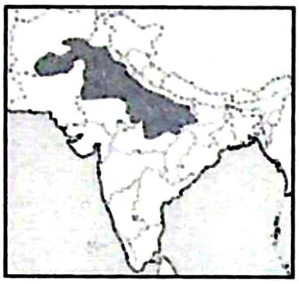

● तैमूर ने पश्चिमोत्तर भारत में भयंकर नरसंहार व लूटपाट, आगजनी तथा मन्दिरों व मूर्तियों को तोड़ते हुए खिज्र खाँ को अपना सूबेदार नियुक्त कर समरकन्द वापस चला गया। 1526 ई. में बाबर ने दिल्ली में लोदी वंश का नाश कर मुगल सत्ता की स्थापना की।

1542-1605 ई.
अकबर के आक्रमण

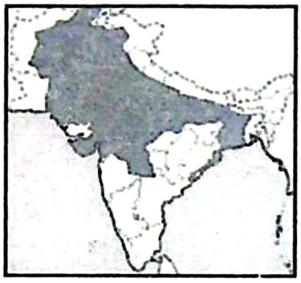

● अकबर का शासनकाल काबुल, कान्धार से लेकर महाराष्ट्र, बिहार और बंगाल के कुछ हिस्से।

1605-1707 ई.
जहाँगीर से औरंगजेब तक के आक्रमण

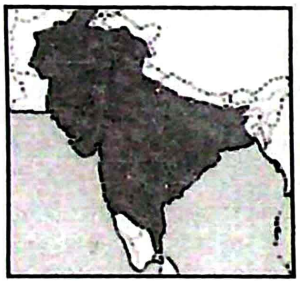

● इस काल में मुगल साम्राज्य का विस्तार चरमोत्कर्ष पर था। दक्षिण के मात्र कुछ राज्यों को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में आतंक।

1757-1947 ई.
ब्रिटिश साम्राज्य

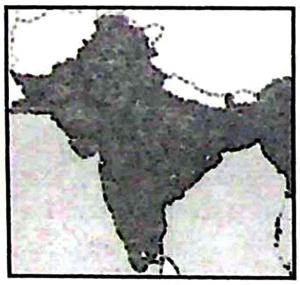

● 1707 ई. औरंगजेब की मृत्यु के बाद डच, पुर्तगाली, अंग्रेज व फ्रांसीसी आये तथा यहां राजनैतिक फूट के कारण उनका वर्चस्व स्थापित। 1947 तक बने रहे।

1947 ई. के बाद
का स्वतन्त्र भारत

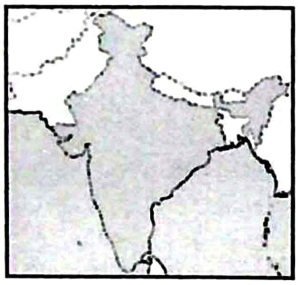

स्वतन्त्र भारत

तुलनात्मक अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है। दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में बाह्य पदों में आयुधागार, शस्त्रागार, उपवन आदि के स्थान पर राजगृह निर्माण भी वर्णित है। वरुण, यम, कुबेर, पुष्पदन्त, असुर, शोष, गृहक्षत, मृग मुख्य देवताओं के पदों में राजगृह बनाने के लिए ग्रन्थों में वर्णन है।

पश्चिमी भारत के गुजरात एवं मेवाड़ क्षेत्र में वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के रचना-काल में भवन निर्माण की एक लम्बी श्रृंखला दिखाई देती है। सूत्रधार मण्डन एवं उनकी परम्परा में लिखित अनेक ग्रन्थों के रचनाकारों ने कई महलों, मन्दिरों का निर्माण किया जो अब भी मौजूद हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत में भी ग्रन्थों के रचना-काल में मन्दिरों व भवनों के निर्माण की दीर्घकालीन परम्परा दिखाई देती है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तर एवं दक्षिण भारत के ग्रन्थों के वास्तुमण्डल में निर्धारित राजगृह के पद

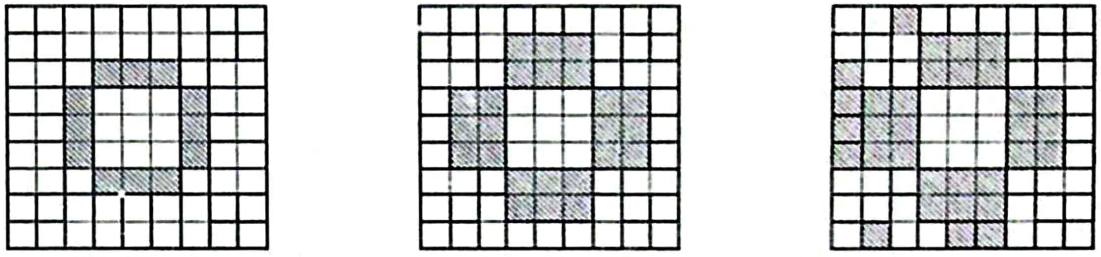

उत्तर भारत पुराण | मध्य भारत समराङ्गणसूत्रधार | दक्षिण भारत मानसार

इस प्रकार भवनों के सतत् निर्माण की अवधि में वास्तुविदों द्वारा ग्रन्थों की रचनाएँ की गई दिखाई देती हैं।

उत्तर भारत में आक्रमणों व लूट-पाट के कारण भारतीय वास्तुशास्त्र के अनुसार उल्लेख्य भवनों का निर्माण लम्बी अवधि तक नहीं के बराबर हुए। उत्तर भारत आक्रमणों व लूट-पाट के प्रयोगात्मक केन्द्र के रूप दिखाई देता है। जिस प्रकार किसी भी विषय पर प्रयोगशाला में प्रयोग निरन्तर चलता रहता है, उसी प्रकार उत्तर भारत में भी शासन भारतीयों का रहा या आक्रमणकारियों का रहा, आक्रमणकारियों द्वारा लगातार आक्रमण होते रहे, और उत्तर भारत आक्रमण की प्रयोगशाला के रूप में स्थापित रहा।

सम्भवतः इसी कारण हमें अभी तक उत्तर भारत में रचित स्वतन्त्र वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सके हैं, और न ही किसी स्वतन्त्र वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में प्राप्त हुआ है। उपलब्ध वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के रचना-स्थल मुख्यतः दक्षिण व पश्चिम भारत ही रहे हैं।

प्राप्य अधिकांश वास्तुशास्त्रीय साहित्य पर विश्वकर्मा व मय आचार्यों का ही प्रभाव दिखता है। विश्वकर्मा व मय की परम्परा उत्तर भारत की रही है। मय ने कैलास पर्वत से उत्तर दिशा में बिन्दुसर के समीप राजा वृषपर्वा की सभा में मणिमय भाण्ड तैयार किया था। यथा-

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति। यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम्।।
चित्रं मणिमयं भाण्ड रम्यं बिन्दुसरः प्रति। सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः।।[6]

महाभारत के सभा पर्व के अनुसार मय ने पाण्डवों के लिए निर्माण करने की इच्छा व्यक्त की

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः। सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव।।[7]

और युधिष्ठिर के लिए सभा भवन का निर्माण किया।

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः। निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत्।।[8]

विन्ध्य पर्वत की तलहटी में भी मय ने गिरि-दुर्ग का निर्माण किया।

मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम्। तेषां मासो व्यतिक्रान्तो यो राज्ञा समयः कृतः।।
विन्ध्यस्य तु गिरेः पादे सम्प्रपुष्पितपादपे। उपविश्य महात्मानश्चिन्तामापेदिरे तदा।।[9]

वाल्मीकि रामायण के अनुसार मय का निवास स्थान भी उत्तर भारत ही है। इस प्रकार अन्य अनेक उदाहरणों से इन आचार्यों की उत्तर भारतीय परम्परा दिखती है।

6. महाभारत, सभा पर्व, 3.2-3
7. वही, 1.6
8. वही, 3.37
9. वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा काण्ड, 53.15-16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

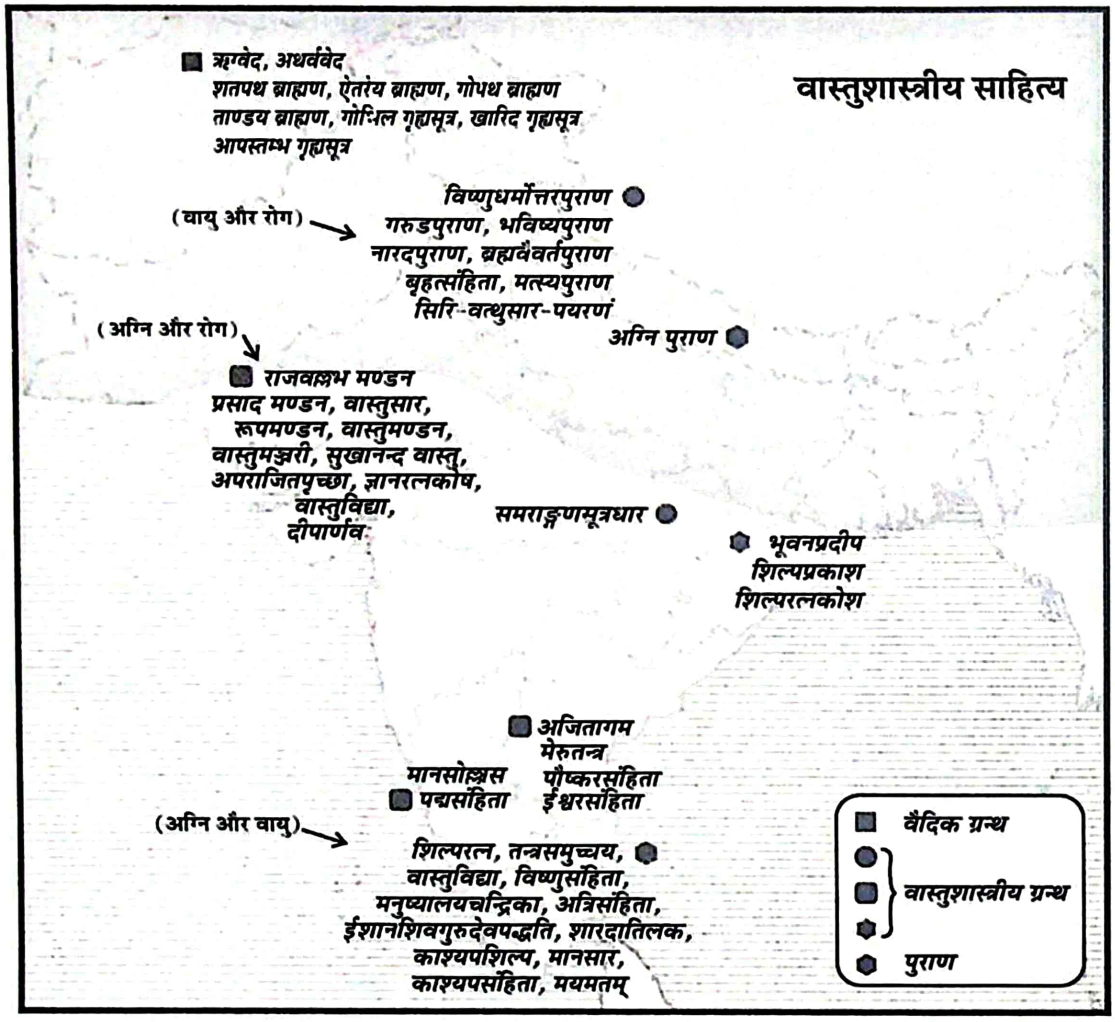

ग्रन्थों के नाम निश्चित क्षेत्र को प्रदर्शित कर रहे हैं न कि स्थान को

परन्तु विचारणीय विषय है कि मय के सिद्धान्तों पर आधारित ग्रन्थों (*मयमतम्, मयशिल्प, मयवास्तु, मयवास्तुशास्त्रम्, मयमतमवास्तुशास्त्र, मयमतशिल्पशास्त्र, शिल्पशास्त्र, मनुष्यालय लक्षण, मनुष्यालयचन्द्रिका, मयमतशिल्पशास्त्रविधान, मानसार, मयशिल्पशतिका* आदि) की श्रृंखला दक्षिण भारत में विकसित हुई पाई जाती है। उत्तर भारत सर्वथा अछूता रहा है।

मानसार, मयमतम् ग्रन्थ ऊँचे-ऊँचे कई मंजिलों वाले विशालकाय मन्दिरों, भवनों की रचना बताते हैं जिनका प्रायोगिक पक्ष आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल राज्यों में तिरुपति, चिदम्बरम्, रामेश्वरम्, श्रीरंगम् आदि अनेक स्थानों पर दिखाई देता है। सम्पूर्ण दक्षिण भारत में इन ग्रन्थों पर आधारित स्थापत्य के दर्शन पग-पग पर होते हैं।

उत्तर भारतीय ग्रन्थों में न तो इस प्रकार के विशालकाय, ऊँचे कई मंजिलों वाले भवनों की निर्माण प्रक्रिया का वर्णन है और न ही उत्तर भारत में दक्षिण भारत के गाँवों तक में बने मन्दिरों व भवनों की तरह का निर्माण दिखाई देता है। निश्चित ही यह हजारों वर्ष के अनेक आक्रमणों व विध्वंसकारियों के लूट-पाट व तोड़-फोड़ का परिणाम है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तृतीय प्रकार

पदविन्यास का यह प्रकार मुख्यत: *ऐतरेयोपनिषद्* व *शाङ्करवेदान्त* से प्रभावित, ग्रन्थों (*मयमतम्, मानसार* आदि) में पाया जाता है। पदविन्यास की इस विधि को वर्णित करने वाले अधिकांश ग्रन्थों का रचना स्थल दक्षिण भारत रहा है। पुराणों में *अग्नि पुराण* इसका वर्णन करता है। पश्चिम भारत में भुवनदेव रचित *अपराजितपृच्छा* एवं सूत्रधार मण्डन की परम्परा के रचित ग्रन्थ भी इसी परम्परा के है। *ऐतरेयोपनिषद्* से प्रभावित ग्रन्थों में अग्नि एवं वायु की स्थापना तथा *सूत्रधार मण्डन* की परम्परा में अग्नि एवं रोग की स्थापना की गई है। देवताओं के पदभोग समान हैं। अन्त:पदीय एवं बाह्यपद के देवताओं का पदभोग 1.5:1 का बनता है।

		अन्त: पदीय देवता		बाह्य पदीय देवता
पद	=	49	+	32
क्षेत्रफल	=	60.49%	+	39.51%
अनुपात	=	1.5	:	1

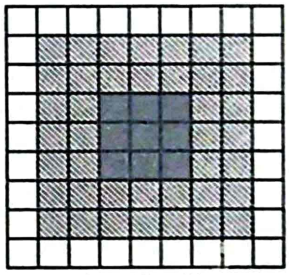

9 + 40 + 32

चरकीशानबहि: स्थाप्या विदारी पावके विधि:।
बहिर्नैर्ऋत्यसै(स्म) बाह्ये पूतना च बहिस्तथा।।
वायुकोणप्रदेशे तु बाह्ये वा (च) पापराक्षसी।
एवं तु चण्डितं प्रोक्तं परमशायिकमुच्यते।।
एकाशीतिपदं कृत्वा मध्ये नवपदं विधिम्।
पूर्वं रसपदं चैव तदेवमार्यमन:(मर्यम्ण:) स्मृतम्।।
दक्षिणे सपदं चैव विवस्वान्(स्वत:) एव कथ्यते।
पश्चिमे षट्पदं चैव मित्रस्य मि(स्ये)ति[हि] संस्मृतम्।।
सौम्ये रसपदं चैव भूधरस्य चतुष्टयम्।
चतुर्दिक्वन्तरलेचई(त्वी) विशदीनि(दिच) चतुष्टयम्।।
तत्तश्चतुष्पदे सर्वे कर्णे चाश्रयमीरितम्।
भूधरस्य तत: पूर्वे द्विपदा(दे) चापवस्तथा।।
अर्य[को]स्य पदेसौम्येअ(म्ये)पकस्य(स्यस्य) द्वयेतथा।
पूर्वे रसपदाद्याद्ये द्विपदे च सवित्रक:।।
विवस्वती(ती) द्विपूर्वाद्दिशं(द्वयंशं) सावित्र(त्र)मेव च।
दक्षे रसपदात्प्रत्यक् द्विपदे च तथै(थे)न्द्रक:।।
मित्रकस्य पदे याम्ये द्विपदे इन्द्रजयस्तथा।
पश्चिमे रसपदात्सौम्ये द्विपदे रुद्रदेवता।।
सौम्ये रसपदात्प्रत्यक् द्वयंशे रुद्रजयस्तथा।
एवमन्तर्गते देवांस्तद्बाह्ये देशे राक्षसान्।।
इन्द्रे चैव पदे भानुश्चाग्निश्चैव पदा(दे ऽ)ग्निके।
यमे चैव पदे चन्द्रि(न्द्री) नैर्ऋत्ये [ए]कमदेपितृ(ता)।।
जलेशै(श ए)कपदे प्रत्यक् पवनैकपदे मरुत्।
सौम्ये चैकपदे चै(च)न्द्रेशस्यैकप[दं] दै(दे)शके।।
पर्जन्ये(न्यस्यै)कपदं चैव चेशकस्य तु दक्षिणे।
जयन्तस्य पदं चैकं पर्जन्यस्य तु दक्षिणे।।
महेन्द्रस्य पदं चैकं जयन्तस्य तु दक्षिणे।
सत्यकस्य पदं चैकमादित्यस्य तु दक्षिणे।।
भृशस्यैकपदं प्रोक्तं सत्यकस्य तु दक्षिणे।
अन्तरिक्षस्यैकपदं वह्निकोणस्य चोत्तरे।।
पूषस्य(ष्णश्च) पदमेकं स्याज्ञाग्निकोणस्य पश्चिमे।
विधात(तथ)स्य पदं चैकं पूषकस्य तु पश्चिमे।।
गृहक्षतस्यैकपदं विधात(तथ)स्य पश्चिमे।
गन्धर्वस्य पदं चैकं धर्मदेवस्य पश्चिमे।।
भृङ्गराजस्यैकपदं गन्धर्वस्य तु पश्चिमे।
वृष(मृश)स्यैकपदं शस्तं भृङ्गराजस्य पश्चिमे।।
दौवारिकस्यैकपदं गगनस्य तु चोत्तरे।
सुग्रीवस्य पदं चैकं दौवारिकस्य चोत्तरे।।
पुष्पदन्तस्यैकपदं सुग्रीवस्य तु चोत्तरे।
असुरस्यैकपदं शस्तं वरुणस्य तु चोत्तरे।।
शोषकस्य पदं चैकं चासुरस्य तु चोत्तरे।
रोगस्यैकपदं प्रोक्तं शोषकस्यैव चोत्तरे।।
नागस्यैकपदं शस्तं पवनस्य तु पूर्वके।
मुख्यस्यैकपदं ज्ञात्वा नागस्यैव च पूर्वके।।
भल्लाटस्य पदं चैकं प्रोक्तं मुख्यस्य पूर्वके।
मृगस्यैकपदं शस्तं सोमदेवस्य पूर्वकम्।।
अदितेस्तु पदं चैकं शस्तं मृगात्तु(गस्य) पूर्वके।
अदितीशानयोर्मध्ये चोदिते(तै)कपदं भवेत्।।

मानसार, 7.54-77

ईशानश्चैव पर्जन्यो जयन्तश्च महेन्द्रक:।
आदित्य: सत्यकश्चैव भृशश्चैवान्तरिक्षक:।।
अग्नि: पूषा च वितथो राक्षसश्च यमस्तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृपश्च पितृदेवता:।।
दौवारिकश्च सुग्रीव: पुष्पदन्तो जलाधिप:।
असुर: शोषारोगौ च वायुर्नागस्तथैव च।।
मुख्यो भल्लाटकश्चैव सोमश्चैव मृगस्तथा।
अदितिश्चोदितिश्चैव द्वात्रिंशद् बाह्यदेवता:।।
आपश्चैवापवत्सश्चैवान्त: प्रागुत्तरे स्मृतौ।
सविन्द्रश्चैव सावित्रश्चान्त: प्राग्दक्षिणे स्मृतौ।।
इन्द्रश्चैवेन्द्रराजश्च दक्षिणापरत: स्थितौ।
रुद्रो रुद्रजयश्चैव पश्चिमोत्तरतो दिशि।।
ब्रह्मा मध्ये स्थित: शम्भुस्तन्मुखस्थाश्चतु: सुरा:।
आर्यो विवस्वान् मित्रश्च भूधरश्चैव कीर्तिता:।।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी।
ईशानादि बहि: स्थाप्याश्चतुष्कोणे स्त्रिय: स्मृता:।
नपदा बलिभोक्तार: शेषाणां पदमुच्यते।।
परमशायिपदे नवभागभाक्कमलजो मुखतस्तु चतु:सुर:।
सपद द्विपद हि विदिक्स्थित वह्निमारुत: सकलाम:।।

मयमतम्, 7.34-41, 58

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

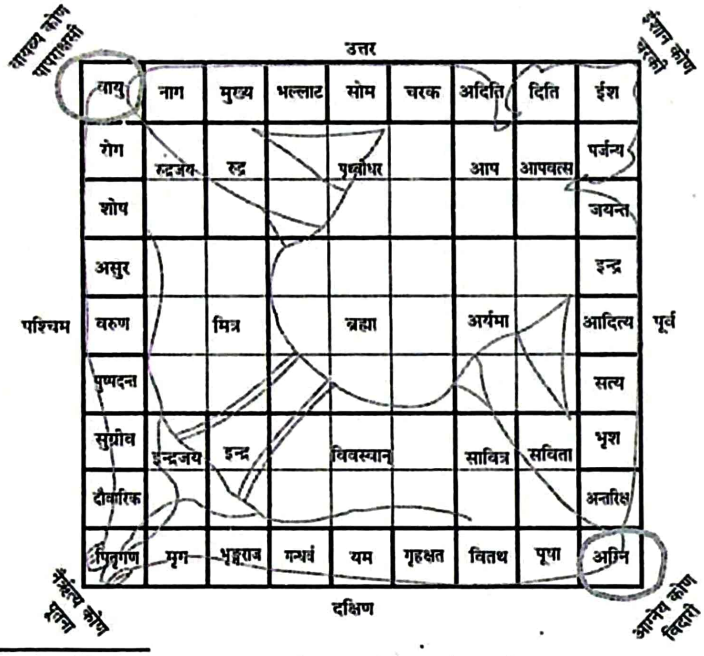

विष्णुसंहिता, 12.52-60
तन्त्रसमुच्चय, 1.60-70
वास्तुविद्या, 3.12-26
काश्यपशिल्प, 2.1-11
ईशानशिवगुरुदेवपद्धति - (उत्तरार्द्ध- 27.9-12, 35-38; पूर्वार्द्ध- 11.40-11)
शिल्परत्न, 6.37-39, 41-46½,
मनुष्यालयचन्द्रिका, 2.23-26
अत्रिसंहिता, 5.18-20
काश्यपसंहिता, 18
मयमतम्, 7.34-41, 58
मानसार, 7.34-41, 7.54-77
ज्ञानरत्नकोष, 1.9
शारदातिलक, 3.8-16
तन्त्रराजतन्त्र, 30.15-26

सूत्रपातं पुनः कुर्यादेकाशीतिपदं यथा।
सुसमः सुखदो वास्तुर्विषमो न सुखावहः।।
ब्रह्मा नवसु मध्ये स्याद् दिक्षु षट्के द्विकेऽन्यतः।
द्वात्रिंशद् बहिरीशादिक्रमादर्च्यास्तु देवताः।।
ब्रह्मा मध्यपदे पूज्यः तत्प्राच्यामार्यकस्ततः।
सावित्रः सविता चाग्नौ ततो द्विपदगौ स्मृतौ।।
विवस्वान् दक्षिणे षट्के जयन्तेन्द्रौ द्विकद्वये।
षट्के तु पश्चिमे मित्रौ वायव्यद्विकयोः पुनः।।
राजयक्ष्मा च रुद्रश्च षट्के क्षितिभृदुत्तरे।
आपवत्सस्तथापश्च द्विकयोस्तद्बहिः शिवः।।
पर्यन्यश्च जयन्तेन्द्रसूर्यसत्यभृशाम्बराः।
प्राच्यामग्न्यादिकान् वक्ष्ये पूषा च वितथस्तथा।।
गृहक्षतो धर्मराजो गन्धर्वो भृङ्गराजकः।
मृगश्च नैर्ऋते कोणे पूजयेच्च पितर्स्ततः।।
दौवारिकं च सुग्रीवं पुष्पदन्तं जलाधिपम्।
असुरं चैव शोषं च पापयक्ष्माणमेव च।।
वायुं नागं तथा मुख्यं भल्लाटं सोममेव च।
अदितिं दितिं कुबेरं च बहिरीशादिषु क्रमात्।।
चरकीं च विदारीं च पूतनां पापराक्षसीम्।
शर्वस्कन्दं चार्यमाणं जम्भकं पिलिपिञ्जकम्।।

विष्णुसंहिता, 12.49, 52-60

एकाशीतिपदेषु पूर्ववदमुं विन्यस्य वास्तोष्पतिं
मध्ये तस्य तु वेधसं नवपदेष्वभ्यर्च्य तद्बाह्यतः।
कोणेष्वत्र पदद्वयेष्वग्निगताः सावित्रपूर्वाः सुरा-
स्तन्मध्ये समरीचपूर्वकसुराश्चत्वार उक्ताः क्रमात्।।
पूर्वाद्यासु दिशासु बाह्यवृतिगा एकैककोष्ठस्थिता
द्वात्रिंशत् पृथगीशपूर्वकसुराः पूज्याः पुरोवत् क्रमात्।
बाह्योऽन्याः पदवर्जितास्तु चरकी चैशे विदार्यानले
कोणे रक्षसि पूतनाथ पवनस्याशागता राक्षसी।।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति- पूर्वार्ध, 1.40-41

प्राच्यामीशानपर्जन्यजयन्तेन्द्रार्कसत्यकाः।
भृशान्तरिक्षावित्यष्टौ देवताः स्युः प्रदक्षिणम्।।
अग्निः पूषाथ वितथो यमश्च गृहरक्षकः।
गन्धर्वभृङ्गराजौ च मृगाख्योऽपि च दक्षिणे।।
निर्ऋतिर्दौवारिकश्च सुग्रीववरुणावपि।
पुष्पदन्तासुरौ शोषः पापयक्ष्मा च पश्चिमे।।
मारुतो नागमुख्यौ च भल्लाटश्च निशाकरः।
अर्गलश्च दितिस्तद्वददितिश्चोत्तरस्थिताः।।
एकाशीतिपदेषु पूर्ववदमुं विन्यस्य वास्तोष्पतिं
मध्ये तस्य तु वेधसं नवपदेष्वभ्यर्च्य तद्बाह्यतः।
कोणेष्वत्र पदद्वयेष्वधिगताः सावित्रपूर्वाः
सुरस्तन्मध्ये समरीचपूर्वकसुराश्चत्वार उक्ताः क्रमात्।।
पूर्वाद्यासु दिशासु बाह्यवृतिका एकैककोष्ठस्थिता
द्वात्रिंशत् पृथगीशपूर्वकसुराः पूज्याः पुरोवत् क्रमात्।
बाह्योऽन्याः पदवर्जितास्तु चरकी चैशे विदार्यानले
कोणे रक्षसि पूतनाथ पवनस्याशागता राक्षसी।।
शर्वस्कन्दादिचत्वारः पदव(ज्यौज्यौ) बहिःस्थिताः।।
प्राग्याम्यवरुणाशासु कौबेर्यां च क्रमाद् यजेत्।
अनयोर्मार्गयोरेकमाश्रित्यावाह्य वास्तुपम्।।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति- उत्तरार्ध, 3.9-12, 35-38

एकाशीतिपदे प्रकल्प्य नवकं मध्येऽस्य बाह्यावृतौ
षट्कं दिक्षु विदिक्षु युग्मयुगलं चैकैकशस्तद्बहिः।
चत्वारिंशदथैषु पञ्च च विरिञ्चाद्याः पदेषु स्थिता
बाह्योऽष्टावपदस्थितास्त्र्यधिकपञ्चाशत् स्युरेवं सुरः।।
ईशाद्यं बहिरावृतिस्थपदकेष्वीशानपर्जन्यका-
वैन्द्रीन्द्रौ रविसत्यकौ भृशखगव्यादांस्तथा पूषणः।
भूयो वै वितथं गृहक्षतयमौ गन्धर्वभृङ्गौ मृगं
पित्राख्यान् [illegible]

भूयः पुष्पादिदन्तं वरुणमसुरशोषाख्यरोगानिलाहीन्
मुख्यं भल्लाटमिन्द्वर्गलमदितिदिती चेति बाह्यावृतौ स्युः।
ईशाद्यावापवत्सार्यकसवितृकसावित्रसंज्ञौ विवस्वा-
निन्द्राख्यश्चेन्द्रजिन्मित्रकशिवशिवजिद्भूभृतोऽन्तर्वृतौ स्युः।।
ब्रह्मा मध्यपदेऽथ शर्वसहितः स्कन्दोऽर्यमाजृम्भकः
प्रागादौ पिलिपिञ्छकश्च चरकीशादौ विदार्याह्वयाः।
भूयःपुतनिका च पापपदपूर्वा राक्षसी बाह्यत-
श्चैतेऽष्टावपदस्थिताश्च परितो देवग्रहास्तद्बहिः।।

मनुष्यालयचन्द्रिका, 2.23-26

एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुतत्त्वविभागवित्।
देवतानां यथास्थानं स्थापयेदत्र भागशः।।
मध्ये नवपदस्थं च ब्रह्माणं देवतां वदेत्।
ततो दिक्षु च चत्वारि षट्पदानि प्रकल्पयेत्।।
तत्राष्टौ द्विपदान्याहुर्वास्तुविद्याविशारदाः।
एतान्यभ्यन्तरस्थानि दैवतानि त्रयोदश।।
प्रोक्तानि च बहिष्ठानि द्वात्रिंशद् वास्तुचिन्तकैः।
एतेषामपि नामानि दैवतानां वदामि च।।
पर्जन्योऽथ जयन्तश्च महेन्द्रादित्यनामकौ।
सत्यो भृशोऽन्तरिक्षश्च तत्राग्निश्च तथाष्टमः।।
पूषा च वितथश्चैव गृहक्षतयमौ तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगो निर्ऋतिरष्टमः।।
दौवारिकश्च सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च वारुणः।
असुरः शोषणो रोगो वायुश्चैव तथाष्टमः।।
नागो मुख्यश्च भल्लाटः सोमश्चैवार्गलस्तथा।
अदितिश्चोदितीशानावुत्तरस्यां दिशि स्थिताः।।
एतान्येकपदस्थानि पर्जन्याद्याः प्रदक्षिणात्।
द्वात्रिंशद् देवता ज्ञेया एताः प्राकारदेवताः।।
ब्रह्माभास्करमध्यस्थमार्यकं नाम दैवतम्।
कृतान्तब्रह्मणोर्मध्ये विवस्वानिति च स्मृतः।

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

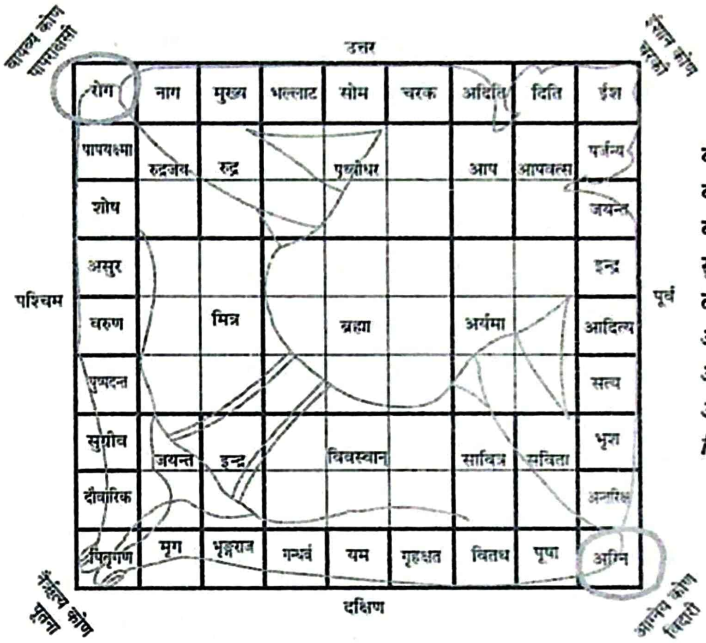

वास्तुराजवल्लभ, 2.7-13
वास्तुमण्डन, 1.113-114, 117-125
वास्तुविद्या, 3.12-26
सुखानन्दवास्तु, 14
दीपार्णव, 16.5-6
अपराजितपृच्छा, 58.15, 28-35
अग्नि पुराण, 105.5-13
अजितागम, 8.11-30
विश्वकर्माकृत वास्तुविद्या, 18.6-7

वरुणब्रह्मणोर्मध्ये मित्रकं नाम देवतम्।
ब्रह्मसोमान्तरस्थाने महीधर इति स्मृतः।।
आपश्चैवापवत्सश्च द्विपदस्थौ यथाक्रमम्।
ब्रह्मेशानान्तरे कुर्याद् दैवतं वास्तुकर्मकृत्।।
हुताशब्रह्मणोर्मध्ये स्थाप्यं नामाधिदैवतम्।
सविता चैव सावित्रो द्विपदद्वयसंस्थितौ।।
निर्ऋतिब्रह्मणोर्मध्ये त्विन्द्रश्चेन्द्रजयस्तथा।
द्विपदद्वयसंस्थानौ ब्रूवते वास्तुवेदिनः।।
ब्रह्मावाय्वोश्च मध्यस्थे देवते कीर्तिते इति।
रुद्रो रुद्रजयश्चैव बहिष्कोणेषु कीर्तितौ।।
वास्तुविद्या, 3.12-26

अथ वक्ष्ये विशेषेण प्रासादं तु विलक्षणम्।
प्रसादस्य विशालंतु(लत्वं) नवभागविभाजिते(तम्)।।
प्रागग्राद्देशसूत्रं स्यादुदगग्रं तथैव हि।
एतन्नवनवांशे तु ब्रह्मामध्ये नवांशयुक्।।
समरी पूर्वभागे तु विवस्वान्दक्षिणे तथा।
मित्रः पश्चिमभागे तु ह्युत्तरे पृथिवीधरः।।
ब्रह्माणं तु निरीक्षेतास्थितषट्पदभागिनः।
आपश्चैवापवत्सश्च (ईशादयश्चैव ह्यौ) सन्यांदिशिसंस्थितौ।।
सावित्रश्चैव सावित्रावाग्नेय्यां दिसह(श्यव)स्थितौ।
इन्द्र इन्द्रादयश्चैव नैर्ऋत्यां दिशिव(श्यव)स्थितौ।।
रुद्रो रुद्राज(द)यश्चैव वायव्यां दिशि संस्थितौ।
एते द्विपदभोक्तारो ह्यंशमर्धद्वयं तथा।।
ऐशान्यां चैव पर्जन्यो जयन्तश्च महेन्द्रकः।
आदित्यः सत्यकच्चोवा भ्रमश्चैवान्तरिक्षकाः।।
अग्निः पूषा च विधतो (निर्ऋती) राक्षसश्च यमस्तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृषश्चैव तु दक्षिणे।।
निर्ऋतिर्दौवारिकश्चैव सुग्रीवः पुष्पदन्तकः।
वरुणोऽशेषरोगाश्च पापक्षयविपश्चिमे।।
वायुर्नागास्तथा मुख्यो भल्लाटः सोम एव च।
ऋगादीत्यदितिश्चैव बाह्यस्थैकांशभोगिनः।।
चक(क्र)वीद(रा) विदारी च पूतना पापराक्षसी।
ईशानादिषु कोणेषु बाह्यस्थपदवर्जिताः।।
काश्यपशिल्प, 2.1-11

ईशानपर्जन्यजयन्तशङ्कुध्वान्तापनुत्सत्यभृशान्तरिक्षाः।
अग्निश्च पूषा वितथाभिधानो गृहक्षतः प्रेतनिवासकर्ता।।
गन्धर्वसंज्ञस्त्वथ भृङ्गराजो मृगाभिधानः पितरः प्रशस्ताः।
दौवारिकः पश्चिमपूर्वसंस्थाः सुग्रीवसंज्ञस्त्वथ पुष्पदन्तः।।
भूयः प्रशस्तौ वरुणासुरौ च शोषश्च रोगः पवनो भुजङ्गः।
मुख्योऽथ फल्लाटनिशाकरौ च भूयोऽर्गलोऽदित्युदितिक्रमेण।।
सावित्रः सविता हुताशनदिशि ब्रह्माग्निमध्येऽर्धगा-
विन्द्रश्चेन्द्रजयश्च राक्षसदिशि ख्यातौ पदार्धस्थितौ।
रुद्रो रुद्रजयश्च वायुदिशि च ख्यातौ तथेशार्धगा-
वापश्चापि तथापवत्स इति च द्वन्द्वस्थिता देवताः।।
पूर्वादिदिक्षु क्रमशः स्थिताः स्यु-
स्तथार्यकश्चापि पुनर्विवस्वान्।
मित्रश्च पश्चाच्च महीधरश्चोब्रह्मा च मध्यस्थचतुष्पदस्थः।।
दिक्षु कोणेषु बाह्यस्थाः पदबाह्यो पुनः क्रमात्।
शर्वः स्कन्दार्यमाह्वौ च जभकः पिलिपिञ्जकः ।।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी। एवं
मण्डूकपदगाः कीर्तिता देवताः क्रमात्।।
एकाशीतिपदं कृत्वा पदे परमशायिके।
मध्ये नवपदः स्थाप्यो ब्रह्मा लोकपितामहः।।
ततो दिक्षु च चत्वारि षट्पदेष्वार्यकादयः।
तत्राष्टौ द्विपदस्थाः स्युः कोणे सावित्रकादयः।।
ईशानाद्याः पदैकस्थाः सर्वमन्यद् यथापुरम्।।
शिल्परत्न, 6.37-39, 41-46½

क्षेत्रे रन्ध्रपुटे प्रकल्प्य नवकं मध्येऽस्य बाह्यावृतौ
षट्कं दिक्षु विदिक्षु युग्मयुगलं चैकैकशस्तद्बहिः।
तस्मिन्नर्पितदर्भके महितपीठे सादिवांवास्तुना
वास्तुं प्राक् पुरुषेण ङेनतिमता वामादिकाङ्गैर्यजेत्।।
तत्सन्नामः प्रपुटितं निजनाम ङेन्तं
तारादिकं निजपदाङ्गकमर्कवर्णम्।
ब्राह्मं मनुं विदुरथ प्रणवप्रणाम-
पूर्वं स्वनाम रसवर्णकमक्षराङ्गम्।।
तत्र वास्तु तनुक्लृप्तविष्टरेऽ-
थार्यकादिवृतमात्मसंभवम् ।
सन्निधाप्य मनुनामुनोदितेनाङ्गषट्कसहितं समर्चयेत्।।
आर्यकसावित्राख्यौ सविता सविवस्वदिन्द्रजय इन्द्रः।
मित्रो रुद्रजयाभिधरुद्रमहीधरयुतापवत्सापाः।।
प्रागादीशान्तममी क्रमशः स्युरथापपूर्वयजनविधौ।
कोणगतद्वितयानां सक्षेत्राणां क्रमो विपर्येयः।।
ईशानः पर्जन्यो जयन्त इन्द्रः ससूर्यसत्यभृशः।
भूयोऽन्तरिक्षवह्नी पूषा वितथो गृहक्षतोऽथ यमः।।
गन्धर्वभृङ्गराजौ मृगपितृदौवारिकाः ससुग्रीवाः।
अथ पुष्पदन्तवरुणासुरशोषा रोगवायुनागाश्च।।
मुख्यो भल्लाटकसोमार्गलका दित्युदित्युपेताः स्युः।
ईशाद्यैकैकपदे द्वात्रिंशद् देवता बहिः प्रोक्ताः।।
इति हरिमाहिषनिहन्त्र्योस्तर्बहिरर्चने क्रमोऽन्येषु।
ईशानादिवहिष्ठापादिधरान्तान्तरान्तरजनिष्ठः।।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवताओं को 1 + 12 + 32 के क्रम में ही स्थापित किया गया है। ब्रह्मा को नौ पदों में, अन्तः पद के अन्य देवताओं को 40 पदों में तथा बाह्य देवताओं को बाहर के 32 पदों में स्थापित किया गया है। इस तृतीय प्रकार के विन्यास की विशेषता है कि अन्तः पद के देवताओं को अन्तः पदों में तथा बाह्य पद के देवताओं को केवल बाह्य पदों में ही स्थापित किया गया है। प्रथम तथा द्वितीय प्रकार की तरह बाह्य देवताओं की स्थापना में अन्तः पदों का उपयोग नहीं किया गया है।

इस प्रकार में वास्तुमण्डल के बाह्य 32 देवता एक-एक पद में, अन्तः कोणों के आठ देवता दो-दो पदों में, तथा ब्रह्मा के चारों दिशाओं के चारों देवता छः-छः पदों में, तथा ब्रह्मा नौ पदों में स्थित होते हैं। ईशान कोण, आग्नेय कोण, नैर्ऋत्य कोण तथा वायव्य कोणों में बाहर क्रमशः चरकी, विदारी, पूतना तथा पापराक्षसी स्थित होती है।

शर्वस्कन्दार्यमर्षौ जम्भकपिलिपिच्छकौ दिशि बहिः स्युः।
विदिशि चरकी विदारी पूतनिका पापराक्षसीशाद्यम्।।
अथ देवासुरगन्धर्वयक्षपितरः सनागराक्षसकाः।
पूर्वाद्यष्टदिशासु क्रमशः सपिशाचका ग्रहाः सकले।।
तन्त्रसमुच्चय, 1.60-70

ईशपर्ज्जन्योजयेन्द्रो सूर्यसत्योभृशोनभः।
अग्निपूषाथवितथो गृहक्षत यमावऽपि।।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगःपितृगणस्तथा।
दौवारिकोथ सुग्रीवपुष्पदन्तो जलाधिपः।।
असुरशेषरोगो च वायुनाग समुख्यकः।
भल्लाट सोमगिरयोदितिरदितिरे बहिः।।
आपाऽपवत्सावौशाने सावित्रसवितारिगौ।
नैर्ऋत्येइन्द्रेइन्द्रजयौ वायोरुद्रश्च रुद्रराट्।।
पूर्वादिषु क्रमादार्यमो विवस्वान मित्र भूधरौ।
गर्भेब्रह्मासुराण्व क्षेत्राकारेषु वास्तुषु।।
बहिरीशानतः पूज्या चरकी-पिलीपिच्छका।
विदारी-जृम्भा-पूतना स्कन्दाख्या राक्षसीर्यमा।।
एकाशीतिपदेब्रह्मा नवांशोथार्यमादयः।
षडांशा कोणकाणाद्यंशा शेषाएकपदे सुराः।।
वास्तुमञ्जरी, 1.53-58, 61

ब्रह्मा नवपदस्येशो मध्ये तत्परितोऽष्टसु।
अर्यमाद्याश्च चत्वारः पृथक् षट्पददेवताः।।
सावित्र्याद्यास्तथाष्टा च प्रत्येकं द्विपदाधिपः।
देवा द्वात्रिंशदीशाद्याः प्रत्येकं पददेवताः।।
अत्रिसंहिता, 5

ब्रह्मा नवपदो मध्ये षट्पदा अर्यमादयः।
द्विपदा मध्यकर्णाद्या द्वात्रिंशदेकपादकाः।।
इति कामदवास्तु।।
ईशस्तथा च पर्जन्यो जयो माहेन्द्र एव च।
आदित्यः सत्यभृशौ चाऽन्तरिक्षान्ताऽष्ट पूर्वतः।।
अग्निः पूषा च वितथो गृहक्षतो यमस्तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगान्ताश्चाष्ट दक्षिणे।।
पितरो दौवारिकश्च सुग्रीवः पुष्पदन्तकः।
वरुणश्चासुरः शोषः पापयक्ष्मा तु पश्चिमे।।
रोगोनागस्तुमुख्यश्च भल्लाटः सोम एव च।
गिर्यदितिर्दितिश्चैवाष्टावुत्तरदिशि क्रमात्।।
ब्रह्मकर्णे तथा चाष्टवीशान्यादि क्रमेण तु।
आपश्चैवापवत्सश्च ईशकर्णे तु संश्रितौ।।
सविता चैव सावित्री आग्नेय्यां तु समाश्रितौ।
इन्द्र इन्द्रजयश्चैव नैर्ऋत्यां ब्रह्मणः स्थितौ।।
रुदश्च रुद्रदासश्च संस्थितौ वायवीदिशि।
मरीचिश्च विवस्वांश्च मित्रश्च पृथिवीधरः।।
पूर्वादिक्रमयोगेन संस्थिताश्च चतुर्दिशम्।
एवमादिक्रमयोगः सर्वेषां वास्तुमण्डले।।
अपराजितपृच्छा, 58.15, 28-35

ब्रह्माणं पूजयेदादौ मध्ये कोष्ठचतुष्टये।
दिक्चतुष्केषु पूर्वादि यजेदार्यमनन्तरम्।।
विवस्वन्तं ततो मित्रं महीधरमतः परम्।
कोणार्द्धकोष्ठद्वन्द्वेषु वह्न्यादिपरितः पुनः।।
सावित्रं सवितारञ्च शक्रमिन्द्रजयं पुनः।
रुद्रं रुद्रजयं विद्वानापं चाऽप्यापवत्सकम्।।
तत्कर्णसूत्रोभयतः कोष्ठद्वन्द्वेषु देशिकः।
शर्वं गुहं चार्यमणं जृम्भकं पिलपिच्छकम्।।
चरकीञ्च विदारीञ्च पूतनामर्चयेत् क्रमात्।
अर्चयेद् दिक्षु पूर्वादि सार्द्धाद्यन्तपदेष्विमान्।।
अष्टावष्टौ विभागेन देवान् देशिकसत्तमः।
क्रमादीशानपर्जन्यजयन्ताः शक्रभास्करौ।।
सत्यो वृषान्तरिक्षौ च दिशि प्राच्यामवस्थिताः।
अग्निः पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षकः।।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगो दक्षिणदिग्गताः।
निर्ऋति दौर्वारिकश्च सुग्रीववरुणौ ततः।।
पुष्पदन्तासुरौ शे(शो)षरोगौ प्रतयग्दिशि स्थिताः।
वायुर्नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च।
अर्गलाख्यो दित्यदिती कुवेरस्य दिशि स्थिताः।।
शारदातिलकतन्त्रम्, 3.8-16

सर्वमध्ये यजेत् सम्यग्ब्रह्माणं कमलासनम्।
हेमाभञ्च चतुर्वक्त्रं वेदाध्ययनशीलिनम्।।
प्रागादि तद्वहिश्चापि यजेदेतान् प्रदक्षिणम्।
आर्य्यकञ्च विवस्वन्तं मित्रमन्यं महीधरम्।।
कोणार्द्धकोष्ठयोरेकमेकमष्टौ च तद्वये।
वह्न्यादीशान्तमभितः पूजयेत् पूर्ववत् प्रिये।।
सावित्रः सविता शक्र इन्द्रजिद्रुद्रतज्जयौ।
आपापवत्सकौ चेति प्रोक्तास्तेऽष्टौ तु नामतः।।
कोणार्द्धकोणपार्श्वस्थेष्वग्न्यादीशान्तमर्च्चयेत्।
अष्टौ क्रमेण ताराद्यैर्नमोन्तैर्नामभिस्तथा।।
अन्यानपि च चक्रेस्मिन् प्रोक्तान् सर्व्वांस्तथार्च्चयेत्।
सर्व्वगुहञ्चार्य्यमणं भञ्जकं पिलिपिच्छकम्।।
चरकी च विदारी च पूतना च महेश्वरि।
बहिरीशादि परितो यजेदष्टौ दिशं प्रति।।
ईशानश्चाथ पर्जन्यो जयन्तः शक्रभास्करौ।
सत्यो वृषोन्तरिक्षश्च पूर्वाशाकोष्ठगाः क्रमात्।।
अग्निः पूषा च वितथो यमोऽथ गृहरक्षकः।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगो दक्षिणकोष्ठगः।।
निर्ऋतिश्च तथा दौवारिकः सुग्रीवकस्तथा।
वरुणः पुष्पदन्तश्चासुराख्यशोषरोगकाः।।
पश्चिमाशास्थकोष्ठेषु पूज्या एते यथाक्रमम्।
वायुर्नागस्तथा मुख्यः सोमो भल्लातकस्तथा।।
अर्गलो दितिरप्येवमदितिश्च यथाक्रमम्।
कोष्ठेषूत्तरसंस्थेषु देवतास्ताः समीरिताः।।
तन्त्रराजतन्त्रम्, 30.15-26

ईशस्तु पर्जन्यजयेन्द्रसूर्याः सत्यो भृशाकाशक एव पूर्वे।
वह्निश्च पूषा वितथाभिधानो गृहक्षतः प्रेतपतिः क्रमेण।।
गन्धर्वभृङ्गौ मृगपितृसंज्ञौ द्वारस्थसुग्रीवकपुष्पदन्ताः।
जलाधिनाथोऽप्यसुरश्च शेषः सपापयक्ष्माऽपि च रोगनागौ।।
मुख्यश्च भल्लाटकुबेरशैलास्तथैव बाह्योह्यदितिदितिश्च।
द्वात्रिंशदेवं क्रमतोऽर्चनीयास्त्रयोदशैवं त्रिदशाश्च मध्ये।।
प्रागर्यमा दक्षिणतो विवस्वान्
मैत्रोऽपरे सौम्यदिशो विभागे।
पृथ्वीधरोऽर्च्यस्त्वथ मध्यतोऽपि
ब्रह्मार्चनीयः सकलेषु नूनम्।।
आपापवत्सौ शिवकोणमध्ये
सावित्रकोऽग्नौ सविता तथैव।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुछ देवताओं के नामों में थोड़ी भिन्नता मिलती है। कुछ नामों के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। ये श्लोक बनाने में छन्द रचना के अनुसार लगते हैं लेकिन कुछ पदों के देवता ही बदले हुए हैं। इस प्रकार के पदविन्यास आग्नेय कोण में अग्नि तथा वायव्य कोण में वायु अथवा रोग की स्थापना है।

अग्नि पुराण में वर्णित देवताओं का पद भोग उपरोक्त प्रकार से वर्णित *मानसार, अजितागम, वास्तुविद्या* ग्रन्थों की ही तरह है लेकिन देवताओं के नामों में थोड़ी भिन्नता है। इन देवों की कोई व्याख्या इस पुराण में वास्तु के सम्बन्ध में वर्णित नहीं है। वायव्य कोण में भीतर के पदों में कर्ण पर स्थित रुद्र देवता के स्थान पर विष्णु को स्थापित किया गया है। वास्तुमण्डल के बाहर बिना पद भोग के देवताओं में चरकी, स्कन्द, विकट, विदारी, पूतना, जृम्भ, पाप तथा पिलिपिच्छ को ईशान कोण से क्रमशः प्रदक्षिण क्रम में स्थित होना बताया गया है।

कोणे महेन्द्रोऽथ जयस्तृतीये
रुद्रोऽनिलेऽर्च्योप्यथ रुद्रदासः।
ईशानबाह्ये चरकी द्वितीये विदारिका पूतनका तृतीये।
पापाभिधा मारुतकोणकेतु पूज्याः सुरा उक्तविधानकैस्तु।।
ब्रह्मा वेदपदस्तु तेन समका देवार्यमाद्या अमी
कोणेऽष्टौ द्विपदास्तथाष्ट मरुतः कोणार्धभागाद्बहिः।
शेषा एकपदास्सुराश्च कथिता वेदर्तुकोष्ठे
नव ब्रह्मा षट्पदतोऽर्यमादिविबुधा ईशादयश्चैकशः।।

वास्तुराजवल्लभः, 2.7-13

सितपिष्टाक्त सूत्रेण प्रासादसमविस्तृतम्।
प्राङ्मुखं दशसूत्राणि तथोदीच्याननानि च।।
आस्फाल्य तत्र संजातेष्वेकाशीतिपदेषु च।
ब्रह्मणश्च चतुर्दिक्षु स्थित्वा षट्पदभोगिनः।।
पूर्वाद्युत्तरपर्यन्तेष्वथ प्रोक्ता विदिक्षु च।
आपश्चैवापवत्सश्च सविता सावित्र एव च।।
इन्द इन्दचयश्चैव रुद्रजयस्तथा।
एते द्विपदभोक्तारश्चाष्टौ देवाः प्रकीर्तिताः।।
आग्नेयादिषु कोणेषु प्रोक्तश्चिमपदाश्रयाः।
ह्य वीथीगतान्देवान्क्रमशोद्य वदामि ते।।
ईशानश्चैव पर्जन्यो जयन्तश्च महेन्द्रकः।
आदित्यः सत्यक भ्रंशावन्तरिक्षश्च पूर्वगाः।।
अग्निः पूषा च वितथो गृहक्षतयमौ तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगश्चैव तु दक्षिणे।।
पश्चिमे पितरश्चैव दौवारिकस्तथैव च।
सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च वरुणश्चासुरस्तथा।।
शोषश्च पापयक्ष्मा च ते चाष्टौ कथिताः सुराः।
उत्तरे च तथा रोगो नागो मुख्यस्तथैव च।।
भल्लाटश्च तथा सोम ऋगोदितिर्दितिस्तथा।
एकैकपदभोक्तारो द्वात्रिंशत्परिकीर्तिताः।।
ब्रह्माणं मध्यमे पूर्वे पूजयेद्देशिकोत्तमः।
पाद्यैराचमनार्घ्यैश्च गन्धपुष्प सुधूपकैः।।
चरकी च विदारी च पूतना पापराक्षसी।
एताश्चतस्त्रो बाह्यस्थाः शक्तयः परवर्जिताः।।

अजितागम, 8.11, 13-22, 30

ईशाद्यष्टकं दिक्षु यजेदीशं धनञ्जयम्।
शक्रमर्कं तथा सत्यं भृशं व्योम च पूर्वतः।।
हव्यवाहं च पूषाणं वितथं भौममेव च।
कृतान्तमय गन्धर्वं भृशं मृगं च दक्षिणे।।
पितरं द्वारपालं च सुग्रीवं पुष्पदन्तकम्।
वरुणं दैत्यशेषो च यक्ष्माणं पश्चिमे सदा।।
रोगाहिमुख्यो भल्लाटः सोमशैलादितीदितिम्।
नवान्तः पदगो ब्रह्मा पूज्योऽर्धे च षडङ्घ्रिगाः।।
ब्रह्मेशान्तरकोष्ठस्थमापाख्यं तु पदद्वये।
तदधश्चापवत्साख्यं केन्द्रान्तरेषु षट्पदे।।
मरीचिकाऽग्निमध्ये तु सविता द्विपदस्थितः।
सावित्री तदधो द्वयंशे विवस्वान्षट्पदे त्वधः।।
पितृब्रह्मान्तरे विष्णुमिन्दुमिन्द्रं त्वधो जयम्।
वरुणब्रह्मणोर्मध्ये मित्राख्यं षट्पदे यजेत्।।
रोगब्रह्मान्तरे नित्यं विष्णुं च रुद्रदासकम्।
तदधो द्वयङ्घ्रिगं यक्ष्म षट्सौम्येषु धराधरम्।।
चरकीं स्कन्द विदारीं विकटं पूतनां क्रमात्।
जम्भं पापं पिलिपिच्छं यजेदीशादिबाह्यतः।।

अग्निपुराण, 105.5-13

चतुरश्रीकृते क्षेत्रे नवभागं विभाजिते।
मध्ये नवपदो ब्रह्मा षट्पदोंचर्यमादयः।।
तृतीय पद मध्यस्था द्विपदा परिकीर्त्तिता।
शेषास्तु यदिकाज्ञेया इतिएकाशितपदेश्वर।।

दीपार्णव, 16.5-6

एकाशीतिपदे वास्तु ब्रह्मा मध्ये नवांशकैः।
षट्पदा अर्यमाद्याः सार्धेशा कोणेषु मध्यतः।।
सर्वेऽपि भागिका बाह्ये देवाः ईशादयश्चैकादशः।।
ईशानश्चैव पर्जन्यो जयन्तः शक्रभास्करौ।
सत्यौ भृशोम्बरं चेति देवान् पूर्वे प्रपूजयेत्।।
अग्निपूषाथ वितथौ गृहक्षतयमौ तथा।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः इत्यष्टौ प्रदक्षिणे।।
पितरो द्वारस्त सुग्रीवपुष्पदन्तजलाधिपाः।
असुरशोषयक्ष्माणौ इत्यष्टौ पश्चिमे यजेत्।।
नागश्च मुख्यश्च भल्लाटं सोमष्व च।
शैलोऽदितिर्दितिश्चैव विधिवानुत्तरोत्तरोऽर्चयेत्।।
आपाऽपवत्सावीशाने मध्यकोणे प्रपूजयेत्।
सावित्रसावितार्य्यमे इन्द्रश्चेन्द्रजयोऽनृतः।।
रुद्रं च रुद्रराजं च वायव्ये द्वौ समर्चयेत्।
अर्यमापूर्वदिग्भागे विवस्वानिह दक्षिणे।।
मित्रस्तु पश्चिमे तद्वदुत्तरे पृथिवीधरः।
ब्रह्मागर्भेसुराष्वं सम्पूज्या सर्ववास्तुषु।।
ईशाने चरकिं बाह्ये पिलिपिच्छां तु पूर्वतः।
विदारीमग्निकोणे च जम्भां याम्यदिगाश्रिताम्।।
नैर्ऋत्ये पूतनां स्कन्दा पश्चिमेऽथ मरुद्दिशिताम्।
पापराक्षसीं वास्तौ सौम्येर्यमा दिशा यजेत्।।

वास्तुमण्डनम्, 1.113-114, 117-125

वास्तुक्षेत्रे एकाशिपदे नव नव भाजिते मध्ये
नवब्रह्मा नवभागे पटपटपद अर्यमादिदय।।
द्वीपद मध्यमध्ये कोणस्यो बाह्योसर्धे द्विभागिकाः
बाह्यपंक्ति कैकदेवा एकाशिपद वास्तुन।।

विश्वकर्माकृत वास्तुविद्या, 18.6-7

..... पदनवपदमेक
चत्रुर्मुखामध्ये चतुःषट् पदानिभवंति।
अष्टौद्विपदानिदेवता।द्वात्रिंशतपदिकानिभवंति।

ज्ञानरत्नकोष, अ. 1, पत्र संख्या-9

प्राच्यादावीश 1 पर्जन्यौ 2 जयंतोवात्यद्रिगताः 3।। महेन्द्रा 4 सत्या 5 श्चभृशा 7 अकाशा 8 अग्नयः 9 क्रमात् ।।2।। पूषा 10 च वितथ 11 श्चैवगृहरक्षक 12 तोयमः 13।। गंधर्व 14 भृगौ 15 चमृगः 16 पितृ 17 दौवारिकौक्रमात्।। 3।। सुग्रीवः 19 पुष्पदंतश्च 20 वरूण 21 असुर 22 शोषकाः।।23।। पापयक्ष्मा 24 रोग 25 नागौ 26 मुख्य 27 भल्लाट 28 सोमकाः 29।। 4।। शैलो 30 अदिति 31 दितिश्चैव 32 मंत्रदिक्स्थाअथाऽर्यमा 33।। विवस्वा 34 मित्र 35 पृथ्वी 36 द्वाएशान्याअष्टकोणगाः।। 5।। आपापवत्सौ 38 सावित्री 39 सवितारौ 40 तथैवच।। महेंद्रे 41 द्र 42 जयौ 43 रुद्रैतद्दासौ 44 ब्रह्मा मध्यगाः।। 6।।

सुखानन्द वास्तु, पत्र संख्या 8

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

मानसार तथा *मयमतम्* में वायव्य कोण में वायु (मरुत्) को बताया गया है तथा इसके दक्षिण पद में रोग है, जबकि *अजितागम, अग्नि पुराण, अपराजितपृच्छा, वास्तुराजवल्लभ* आदि ग्रन्थों में वायव्यकोण में रोग को तथा इसके दक्षिण के पद में पापयक्ष्मा (या यक्ष्मा या पाप) को बताया गया है। इसी प्रकार पितृगण के पूर्व के पद में अन्य ग्रन्थों में मृग हैं लेकिन *मयमतम्* तथा *मानसार* में मृष (वृष) की स्थापना है। भल्लाट के पूर्व दिशा में सोम तथा अदिति के बीच के पद में अर्गल बताया गया है। इस पद के देवता का नाम अन्य ग्रन्थों में चरक, शैल, भुजंग तथा सर्प बताया गया है। ब्रह्मा के वायव्य कोण में रुद्रदास बताते हैं जबकि अन्य ग्रन्थों में इस पद पर यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) की स्थापना है। *मयमतम्* में मध्य के नव पदों पर स्थित ब्रह्मा को शम्भू बताया गया है।

ब्रह्मा मध्ये स्थितः शम्भुस्तन्मुखस्थाश्चतुः सुराः।
आर्यो विवस्वान् मित्रश्च भूधरश्चैव कीर्तिताः।।[1]

81 पद वास्तुमण्डल के उपरोक्त तीनों प्रकार के पदविन्यास ही मुख्यतः विभिन्न प्रकार के भवनों के निर्माण में प्रयोग किये जाते हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इनका उपयोग भिन्न-भिन्न भवनों के लिए बताया गया है।

वर्णिनां भवनादीनि निवेशा राजवेश्मनाम्।
एकाशीतिपदेनेन्द्रस्थानं च विभयेत् सुधीः।।[2]

समराङ्गणसूत्रधार में चारो वर्णों के गृहनिर्माण एवं राजभवन निर्माण के लिए इस पदविन्यास का प्रयोग वर्णित है।

गृहादिषु समस्तेषु तृणपट्टच्छन्दादिषु।
पाण्ड्वश्वपूर्णखण्डेषु कामदं वास्तु पूजयेत्।।[3]

अपराजितपृच्छा सभी प्रकार के गृहों, तृण, काष्ठ आदि से निर्मित होने वाले गृहों, गजशाला, अश्वशाला आदि के निर्माण में इसका प्रयोग वर्णित करता है। राजभवन निर्माण के लिए यह ग्रन्थ इस पदविन्यास का वर्णन नहीं करता। इसी प्रकार-

ग्रामे भूपतिमन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतुष्षष्टिकैः एकाशीतिपदैः समस्तभवने जीर्णे नवाब्ध्यंशकैः।[4]

वास्तुराजवल्लभ सभी प्रकार के भवनों के निर्माण का वर्णन करता है जबकि इसी परम्परा का ग्रन्थ *वास्तुमञ्जरी*-

एकादशीत्या तु हर्म्येषु शतेन सुरवेश्मषु।।[5]

राजभवन के लिए बताता है। इस प्रकार परमशायिक पदविन्यास का प्रयोग विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर विभिन्न प्रकार के भवनों में प्रयोग किया जाता है।

---

1. मयमतम्, 7.40
2. समराङ्गणसूत्रधार, 13.3
3. अपराजितपृच्छा, सूत्र 57.14
4. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्, 2.4
5. वास्तुमञ्जरी, 1.51

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

चतुर्थ प्रकार

वैखानसागम[10] के *काश्यपज्ञानकाण्ड* अन्तर्गत 18वें अध्याय में भी 81 पद के वास्तुमण्डल का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में देवताओं की संख्या अन्य ग्रन्थों से भिन्न ह। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित 45 देवताओं के साथ 8 अन्य देवता भी अन्त: पदों में स्थापित किये गये हैं। इस प्रकार पदों में स्थापित देवताओं की संख्या 53 हो जाती है। ब्रह्मा को केवल प्रथम चक्र के एक ही पद में स्थापित कर द्वितीय चक्र के आठ पदों में अन्य आठ देवताओं भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, मरीचि, वशिष्ठ को एक-एक पद में स्थापित किया गया है। ये आठ देवता वास्तुशास्त्र के परम्परागत देवताओं के रूप में अन्य ग्रन्थों में स्थापित नहीं हैं।

काश्यपसंहिता में आग्नेय कोण में अग्नि एवं वायव्य कोण में वायु की स्थापना की गई है, जो कि *मानसार, मयमतम्, शिल्परत्न, विष्णुसंहिता* की परम्परा में है परन्तु देवताओं का पदभोग *समराङ्गणसूत्रधार* के समान है।

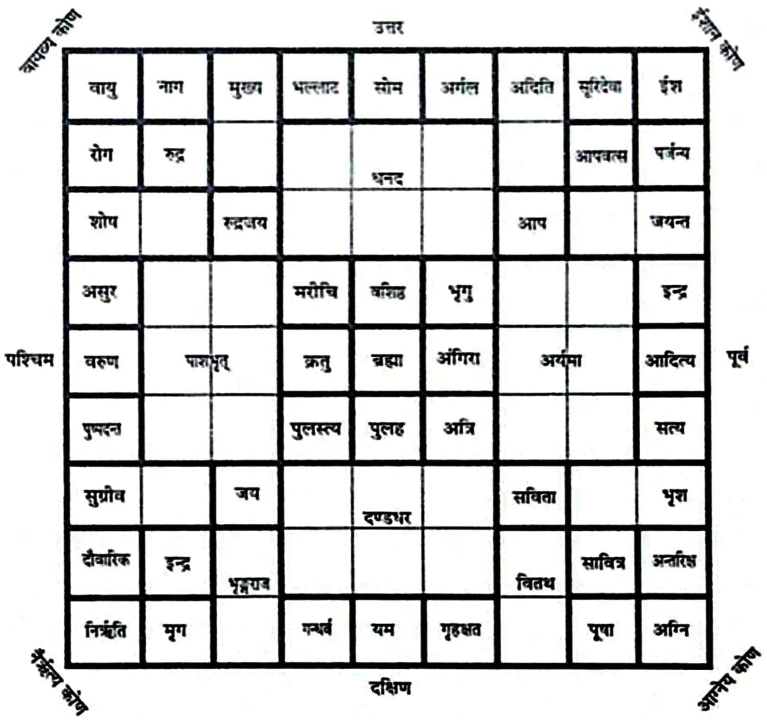

वैखानसागम, 18

10. पुरुषं वास्तुनः प्रागुत्तराङ्गमुतानाननं ज्ञात्वा मर्माणि परिहृत्य कल्पयेत्। प्रागुदग्दशभिः सूत्रैर्भूमिं विभज्यैकाशीतिपदकल्पितशरीरे क्रमादीशानपर्जन्यजयन्तेद्रादित्यसत्यान्तरिक्षभृशाः प्रत्यङ्मुखाश्च अग्निपुषवितश्चगृहक्षतयमगन्धर्वभृङ्गराज ऋषय इत्येते दक्षिणस्यामुदङ्मुखाः निर्ऋतिदौवारिकसुग्रीवपुष्पदन्तवरुणासुरशोषरोगाश्चेति प्राङ्मुखाः वायुनागमुख्य- भल्लाटसोमार्गलादितिसूरिदेवा दक्षिणास्या उदीचीनस्थाश्चैकपदभोजिनः द्वात्रिंशद्देवता भवन्ति। अर्यमा दण्डधरः पाशभृद्धनदः प्रागादिक्रमेण षाट्पदिकाः। सवितृसावित्राविन्द्रेन्द्राजौ रुद्ररुद्रजावप आपवत्सावित्येते आग्नेयादिषु कोणेषु द्विपदभोजिनः। तद्बाह्ये चरकी देवतारिः पूतना पापराक्षसी इत्येताश्चतस्त्रः कोणेषु द्विपदभोजिनः पिशाचाख्या भवन्ति। एतेषां मध्ये ब्राह्मं पदमेकं परितः प्रागादीशानपर्यन्तं भृग्वङ्गिरात्रिपुलहपुलस्यक्रतुमरीचिवासिष्ठानामित्येवं वास्त्वङ्गानि परिज्ञाय तिष्ठन्ति। श्रीवैखानसे भगवच्छास्त्रे काश्यपज्ञानकाण्डे- अ. 18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पञ्चम प्रकार

पाञ्चरात्र आगम के *पौष्करसंहिता* के तृतीय अध्याय में 81 पद के वास्तुमण्डल का वर्णन है, लेकिन बीच की कुछ पंक्तियों की पूर्त्ति इसी आगम के अन्तर्गत *ईश्वरसंहिता* से होती है। अन्य ग्रन्थों में 81 पद के विन्यास से यहां काफी भिन्नता पायी जाती है। इस वास्तुमण्डल के 81 पदों के प्रत्येक पद में एक कमल होता है, जिसमें चारों कोणों में चार पंखुड़ियों वाला कमल तथा बाकी के 77 पदों में अष्टदल कमल होता है। कमल के बीच में कर्णिका (केसर) होती है। केन्द्र के कमल को मध्य पदाब्ज तथा अन्य कमल को अन्तर्पदाब्ज कहते हैं। इस वास्तुमण्डल में पदों की गणना, जिस प्रकार अन्य ग्रन्थों में भीतर से बाहर की ओर की गयी है, यहाँ पर बाहर से भीतर की ओर नाग कुण्डलवत् (दक्षिणावर्त) विधि से की गयी है। बाहरी आवरण में चारों दिशाओं में सात-सात पद के तथा चारों कोणों के एक-एक पद को मिलाकर कुल 32 पद होते हैं। पदों की गणना ईशान कोण से पूर्व दिशा की ओर दक्षिणावर्त विधि से आरम्भ की जाती है। इसके बाद अन्तरीय द्वितीयावरण में 24 पद तृतीय आवरण में 16 पद, चतुर्थ आवरण में 8 पद तथा केन्द्र में 1 पद होता है।

बाह्य प्रथम आवरण

बाहरी आवरण के चारों कोणों में स्थित कमल के केन्द्र में ब्रह्मा तथा चारों पंखुड़ियों में एक-एक देवता की स्थापना की जाती है। इस प्रकार चारों काणों में ब्रह्मा तथा अन्य 16 देवताओं समेत 17 देवताओं की स्थापना की जाती है। पंखुड़ियों में देवताओं की स्थापना पूर्व दिशा से प्रदक्षिण क्रम से करते हैं। दिशाओं के 28 पदों में (7 × 4) एक-एक देवताओं की स्थापना की गयी है। इस प्रकार इस वास्तुमण्डल में ब्रह्मा के स्थापना की बाह्य पदों में चार आवृति केवल *पौष्करसंहिता* एवं *ईश्वरसंहिता* में ही पायी जाती है। इस प्रकार बाहरी आवरण के 32 पदों में कुल देवताओं की संख्या 32 हो जाती है।

दिशा	देवता
ईशान कोण	ब्रह्मा, ईश्वर, तपन, दिति, अदिति
पूर्व	वायु, आपवत्स, जयेन्द्र, समशीयक, रवि, सत्य, आत्मदेव
आग्नेय कोण	ब्रह्मा, भृश, गगन, विभु, पूषन्
दक्षिण	सवित्र, सावित्र, स्वस्त्यय, ग्रहक्षम, विवस्वान्, धर्मदेव, गन्धर्वाधिपति
नैर्ऋत्य कोण	ब्रह्मा, भृङ्ग, भृङ्गराज, पितृगणाधिप, दौवारिक
पश्चिम	इन्द्र, इन्द्रपद, सुग्रीव, कुसुमद्विज, मित्र, वरुण, असुराधिपति
वायव्य कोण	ब्रह्मा, शेष, अधर्म, यन्मयाधिपति, नागेन्द्र
उत्तर	पूर्वाख्य, रुद्रदास, मुख्य, भल्लक, सोमक, धाराधर, मत्संज्ञ

अन्तरीय द्वितीय आवरण

द्वितीय आवरण के 24 पदों में एक-एक देवता को ईशान कोण से प्रारम्भ कर प्रदक्षिण क्रम से स्थापित किया जाता है। इन पदों में देवताओं के साथ एक-एक मात्रक भी दिये गये है, जो अन्य ग्रन्थों में नही पाये जाते हैं। *पौष्करसंहिता* में देवताओं के नाम कमल के नीचे दिये गये हैं तथा *ईश्वरसंहिता* में उपर की ओर। सम्भवत: *पौष्करसंहिता* एवं *ईश्वरसंहिता* में वर्णित वास्तुमण्डल सबसे प्राचीन है। वेदों एवं शुल्व सूत्रों में वेदियों का पदविभाजन तो है परन्तु पदविन्यास का जो स्वरूप आज है उसमें सबसे प्राचीन *वास्तुमण्डल* इन्हीं ग्रन्थों में हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिशा	देवता						
पूर्व	देवता	धाता	यन्नता	ध्रुव	काल	कामा	कर्ता
	मात्रक	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ
दक्षिण	देवता	जयन्तक	जीव	प्राणस्तर	यज्ञ	रवि	मृग
	मात्रक	ऋ	ॠ	लृ	लॄ	ए	ऐ
पश्चिम	देवता	याम्यका	लोकनाथ	विधाता	भग	स्रष्टा	नियामक
	मात्रक	ओ	औ	अं	अः	क	ख
उत्तर	देवता	मनोजव	कल्याण	पर्जन्य	द्रविड़	स्रष्टारः	विश्वकर्मा
	मात्रक	ग	घ	ङ	च	छ	ज

तृतीय आवरण

तृतीय आवरण के 16 पदों में भी एक-एक देवता को ईशान कोण से प्रारम्भ कर प्रदक्षिण क्रम से 16 देवताओं को एक मात्रकों के साथ स्थापित किया गया है। इस आवरण में झ से भ तक के व्यञ्जनों को स्थापित किया गया है।

दिशा	देवता				
पूर्व	देवता	समुद्र	मातरः	द्वीपाः	मासाः
	मात्रक	झ	ञ	त	थ
दक्षिण	देवता	नाद्यः	तारकः	विश्वेदेवाः	अप्सरसः
	मात्रक	द	ध	न	ट
पश्चिम	देवता	मनवः	ऋषयः	वसवः	मरुतः
	मात्रक	ठ	ड	ढ	ण
उत्तर	देवता	सिद्धः	नागः	साध्यः	ग्रह
	मात्रक	प	फ	ब	भ

चतुर्थ आवरण

चतुर्थ आवरण के 8 पदों में भी एक-एक देवता को मात्रकों के साथ स्थापित किया गया है। इस आवरण में म से स तक के व्यञ्जनों को स्थापित किया गया है। *पौष्करसंहिता* के बीच के पंक्तियों के न मिलने से *ईश्वरसंहिता* में वर्णित विधि के अनुसार देवताओं को पूर्व दिशा से प्रदक्षिण क्रम में स्थापित किया गया है।

दिशा	देवता		
पूर्व	देवता	ईशान	इन्द्र
	मात्रक	म	य
दक्षिण	देवता	अग्नि	यम
	मात्रक	र	ल
पश्चिम	देवता	निर्ऋति	वरुण
	मात्रक	व	श
उत्तर	देवता	वायु	सोम
	मात्रक	ष	स

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

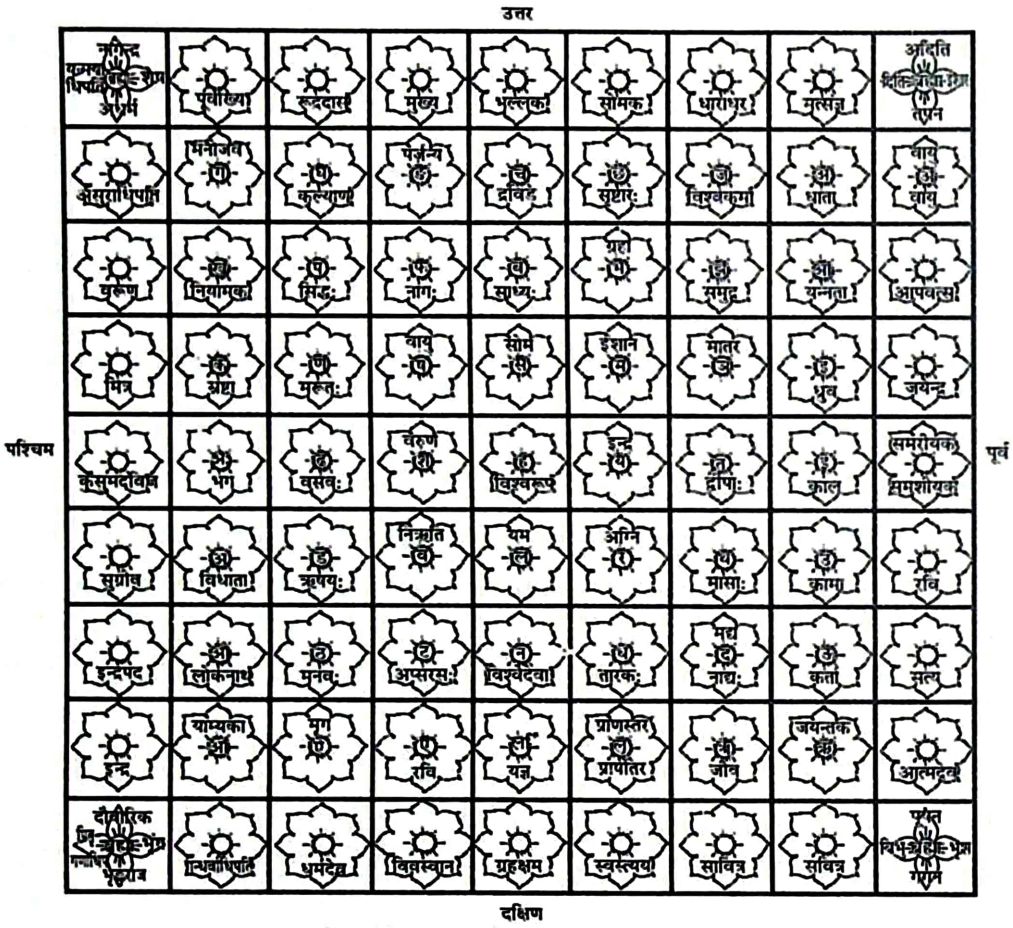

ईश्वरसंहिता एवं पौष्करसंहिता - LXXXI

मध्य पद (विश्वरूप)

मध्य के एक पद में विश्वरूप को ह व्यञ्जन के साथ स्थापित किया गया है। इस प्रकार *पौष्करसंहिता* से 78 तथा *ईश्वरसंहिता* से 16 देवताओं को मिलाकर 94 देवताओं की स्थापना इस *वास्तु मण्डल* में करते हैं। दोनों ग्रन्थों से लिये गये देवताओं की संख्या भिन्न-भिन्न आवरणों में निम्न प्रकार है-

आवरण	कुल देवता	पौष्करसंहिता	ईश्वरसंहिता
प्रथम आवरण	45	45	-
द्वितीय आवरण	24	18	6
तृतीय आवरण	16	14	2
चतुर्थ आवरण	8	-	8
मध्य पद	1	1	-
योग	94	78	16

This fifth type of Vāstumaṇḍala based on *Paushkarasaṃhitā*; see also Prabhakar P. Apte and Shreenivas G. Supekar, 'A comparative Study of Vāstupurushmaṇḍala in the *Paushkarasaṃhitā* and *Bṛihatsaṃhitā*', Proceedings of the Seminar on Āgama and Śilpa, held at Bombay, December, 1981.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

षष्ठ प्रकार

वसुनन्दिकृत *प्रतिष्ठासार*[11] में जैन धर्म के जिन मूर्त्तियों की स्थापना करने के लिए 81 पद के वास्तुमण्डल का वर्णन दिया है। अन्य ग्रन्थों के समान यहाँ भी वास्तुमण्डल में 1+8+16+24+32 का ही पदक्रम बनता है, परन्तु केन्द्र के 1 तथा 8 पद के चक्र को अष्टदल कमल का रूप दिया गया है। इस प्रकार कमल की कर्णिका तथा उसके आठ पंखुड़ियों को मिलाकर नव पद बनते हैं। श्वेताम्बर जैन एवं दिगम्बर जैन दोनों ने जिन मूर्त्तियों की स्थापना के लिए उन्हीं के शासन देवताओं की स्थापना करने का विधान दिया गया है। इस प्रकार वास्तुमण्डल के चतुर्थ चक्र में शासन देवताओं में भिन्नता पायी जाती है। जैन धर्म में वर्णित अरिहन्त (ब्रह्मा), आचार्य, उपाध्याय, देवी, देवता, दिक्पाल, शासन देवता, विद्या देवी आदि की स्थापना इस वास्तुमण्डल के पदों में की गई है। *पौष्करसंहिता* एवं *ईश्वरसंहिता* में वर्णित 81 पद के वास्तुमण्डल में बाह्य चारों कोणों में एक से अधिक देवताओं की स्थापना देखने को मिलता है, परन्तु इस ग्रन्थ में वर्णित वास्तुमण्डल में चतुर्थ एवं पञ्चम चक्र के सभी 24 + 32 = 56 पदों में दो-दो देवताओं की स्थापना की गयी है।

केन्द्र में अष्टदल कमल की रचना के पश्चात् केन्द्र में एक पद में अरिहन्त (ब्रह्मा) की स्थापना तथा पूर्वादिक चारो दिशाओं की पंखुड़ियों में क्रमशः सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु की स्थापना की गई है। ईशानादिक कोणों की चारो पंखुड़ियों में क्रमशः जया, विजया, जयन्ता, अपराजिता चार देवियों की स्थापना की गई है। तत्पश्चात् तृतीय चक्र के 16 पदों में रोहिणी आदि 16 विद्या देवियों की स्थापना पूर्व दिशा से प्रदक्षिण क्रम से की गई है। चतुर्थ चक्र के 24 पदों में गोमुखादिक यक्ष एवं चक्रेश्वरी देवी आदि 24 शासन देवताओं की स्थापना पूर्व दिशा से प्रदक्षिण क्रम से की गई है। बाह्य के अन्तिम पाँचवे चक्र के 32 पदों में 64 इन्द्रों की स्थापना ईशान कोण से आरम्भ कर पूर्व दिशा की ओर से प्रदक्षिण क्रम से की गई है। तदुपरान्त वास्तुमण्डल पर जिन बिम्ब की स्थापना कर पूजा करने का विधान बताया गया है।

इस ग्रन्थ में वास्तुमण्डल के अन्तः पदों में 73 देवताओं की स्थापना तथा बाह्य पदों में 64 देवताओं की स्थापना की गई है।

प्रथम चक्र (ब्रह्मा)

परमेष्ठि (अरिहन्त)

द्वितीय चक्र (देव तथा देवियाँ)

देव	देवियाँ	देव	देवियाँ
सिद्ध	जया	उपाध्याय	जयन्ता
आचार्य	विजया	साधु	अपराजिता

---

11. "विधाय मसृणं क्षेत्र वास्तुपूजां विधापयत्।।
रेखाभिस्तिर्यगूर्ध्वान्नि-र्वज्राग्राभिः सुमण्डलम्।
चूर्णेन पञ्चवर्णेन सैकाशीतिपदं लिखेत्।
तेष्वष्टदलपद्मानि लिखित्वा मध्यकोष्ठके।
अनादिसिद्धमन्त्रेण पूजयेत् परमेष्ठिनः।
तद्बहिः स्थाष्टकोष्ठेषु जयाद्या देवता जयेत्।
ततः षोडशपत्रेषु विद्यादेवीश्च संयजेत्।।
चतुर्विंशतिकोष्ठेषु जयेच्छासनदेवताः।
द्वात्रिंशत्कोष्ठपद्मेषु देवेन्द्रान क्रमशो जयेत्।।
स्वमन्त्रोच्चारणं कृत्वा गन्धपुष्पाक्षतं वरम्।
दीपधूपफलार्घाणि दत्वा सम्यक् समर्चयेत्।।
लोकपालांश्च यक्षाश्च समभ्यर्च्य यथाविधिः।
जिनबिम्बाभिषेकं च तथाष्टविधमर्च्चनम्।।"
प्रतिष्ठासार-वसुनन्दि विरचित-वसुसार-पयरणं (गृहप्रकरण, पृ. 63.64)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तृतीय चक्र (विद्या देवी)

1. रोहिणी	5. जाम्बूनदा	9. गौरी	13. वैरोटी
2. प्रज्ञप्ति	6. पुरुषदत्ता	10. गान्धारी	14. अचिता
3. वज्रश्रृंखला	7. काली	11. महाज्वाला	15. मानसी
4. वज्राकुंशा	8. महाकाली	12. मानवी	16. महामानसी

चतुर्थ चक्र (शासन देवता) - श्वेताम्बर जैन शास्त्रानुसार

	यक्ष	देवी		यक्ष	देवी
1.	गोमुख	चक्रेश्वरी	13.	षण्मुख	विदिता (विजया)
2.	महायक्ष	अजितबला	14.	पाताल	अंकुशा
3.	त्रिमुख	दुरितारी	15.	किन्नर	कन्दर्पा (पन्नगा)
4.	यक्षेश्वर	काली	16.	गरुड	निर्वाणी
5.	तुम्बरु	महाकाली	17.	गन्धर्व	बला
6.	कुसुम	अच्युता (श्यामा)	18.	यक्षेन्द्र	धारिणी
7.	मातंग	शान्ता	19.	कुबेर	वैरोट्या
8.	विजया	ज्वाला (भृकुटी)	20.	वरुण	नरदत्ता
9.	अजित	सुतारा	21.	भृकुटी	गान्धारी
10.	ब्रह्मा	अशोका	22.	गोमेध	अम्बिका
11.	ईश्वर	मानवी (श्री वत्सा)	23.	पार्श्व	पद्मावती
12.	कुमार	प्रचण्डा (प्रवरा)	24.	मातंग	सिद्धायिका

चतुर्थ चक्र (शासन देवता) - दिगम्बर जैन शास्त्रानुसार

	यक्ष	देवी		यक्ष	देवी
1.	गोमुख	चक्रेश्वरी	13.	चतुर्मुख	वैरोटी
2.	महायक्ष	अजिता (रोहिणी)	14.	पाताल	अनन्तमती (विजृंभिणी)
3.	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति (नम्ना) देवी	15.	किन्नर	मानसी (वरमृता)
4.	यक्षेश्वर	वज्रश्रृंखला (दुरितारी)	16.	गरुड	महामानसी (कंदर्पा)
5.	तुम्बरु	खड्गवश (पुरुषदत्ता)	17.	गन्धर्व	जया (गान्धारी)
6.	पुष्प	मनोवेगा (मोहिनी)	18.	रवेन्द्र	तारावती (काली)
7.	मातंग	काली (मानवी)	19.	कुबेर	अपराजिता
8.	श्याम	ज्वालामालिनी (ज्वालिनी)	20.	वरुण	बहुरूपिणी
9.	अजित	महाकाली (भृकुटी)	21.	भृकुटि	चामुण्डी (कुसुममालिनी)
10.	ब्रह्मा	मानवी (चामुंडी)	22.	गोमेद	आम्रा (कुष्माण्डिनी)
11.	ईश्वर	गौरी (गोमेधकी)	23.	धरणेन्द्र	पद्मावती
12.	कुमार	गान्धारी (विद्युन्मालिनी)	24.	मातंग	सिद्धायिका

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्वेताम्बर जैन शास्त्रानुसार

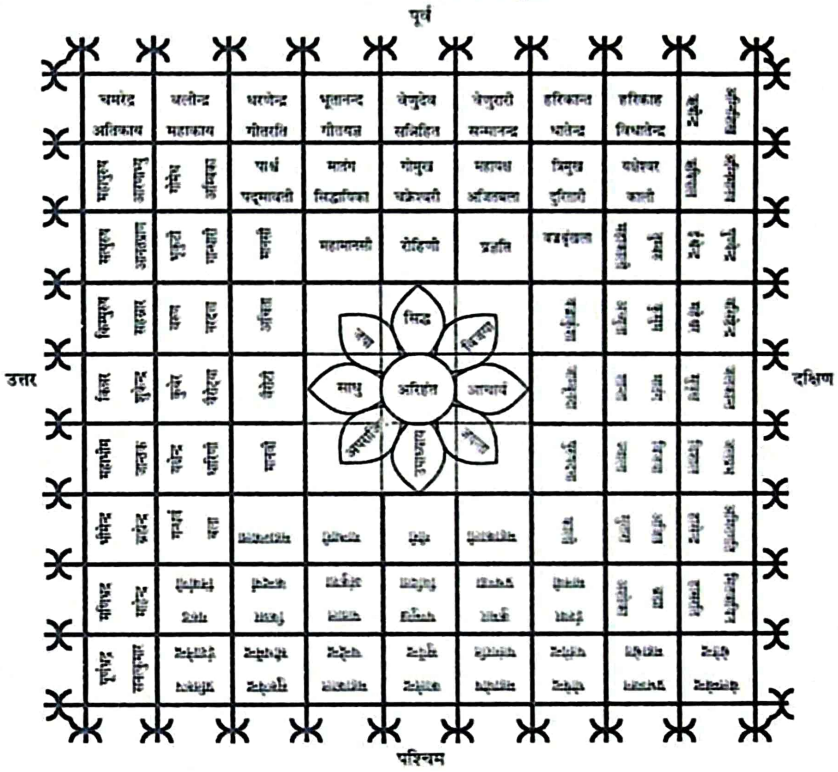

दिगम्बर जैन शास्त्रानुसार

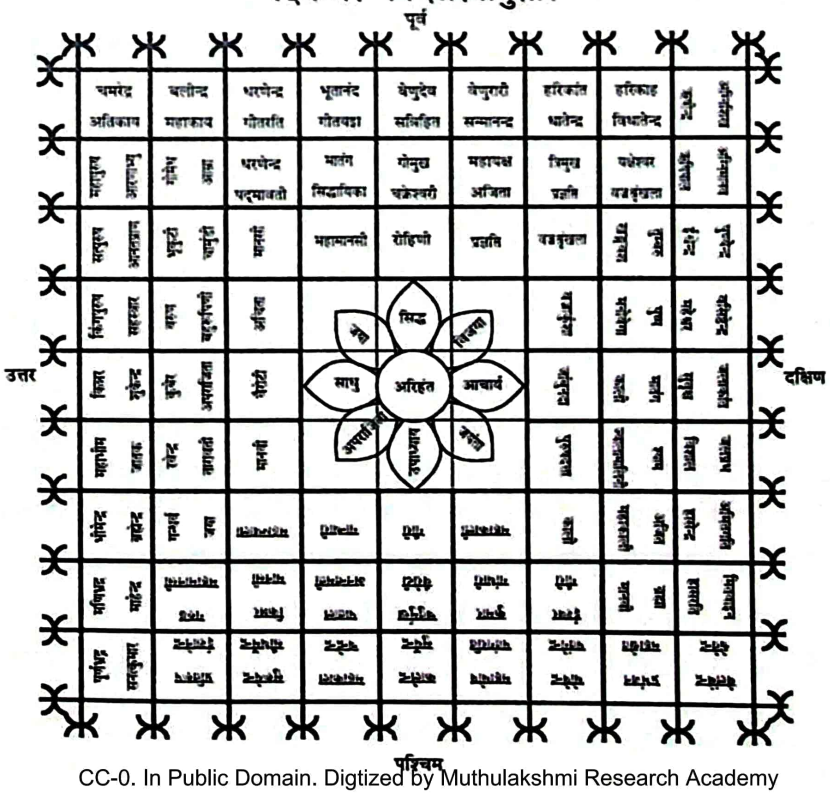

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पञ्चम चक्र (इन्द्र देवता)

1.	चमरेद्र	17.	बेलम्बेन्द्र	33.	अतिकाय	49.	श्वेतेन्द्र
2.	बलीन्द्र	18.	प्रभञ्जन	34.	महाकाय	50.	महाश्वेत
3.	धरणेन्द्र	19.	घोषेन्द्र	35.	गीतरति	51.	पतंगेन्द्र
4.	भूतानन्द	20.	महाघोष	36.	गीतयज्ञ	52.	पतंगरति
5.	वेणुदेव	21.	कालेन्द्र	37.	सन्निहित	53.	सूर्येन्द्र
6.	वेणुरारी	22.	महाकाल	38.	सन्मानन्द्र	54.	चन्द्रेन्द्र
7.	हरिकान्त	23.	सुरूयेन्द्र	39.	धातेन्द्र	55.	सौधर्मेन्द्र
8.	हरिकाह	24.	प्रतिरूप	40.	विधातेन्द्र	56.	ईशानेन्द्र
9.	अग्निशिख	25.	पूर्णभ्रद्र	41.	ऋषीन्द्र	57.	सनत्कुमार
10.	अग्निमानव	26.	मणिभ्रद्र	42.	ऋषिपाल	58.	माहेन्द्र
11.	पुण्येन्द्र	27.	भीमेन्द्र	43.	ईश्वेन्द्र	59.	ब्रह्मेन्द्र
12.	वसिष्ठेन्द्र	28.	महाभीम	44.	महेश्वर	60.	जान्तक
13.	जलकान्त	29.	किन्नर	45.	सुवृक्ष	61.	शुक्रेन्द्र
14.	जलप्रभ	30.	किम्पुरुष	46.	विशाल	62.	सहस्रार
15.	अमितगति	31.	सत्पुरुष	47.	हासेन्द्र	63.	आनत प्राण
16.	मितवायिन	32.	महापुरुष	48.	हासरति	64.	आरणाभ्यु

जिन मूर्त्तियों की स्थापना के लिए उपरोक्त दोनों प्रकार के वास्तुमण्डल का प्रयोग किया जाता है, परन्तु विक्रमी संवत् 1372 में ठक्कुर फेरू विरचित सिरि-वत्थुसार-पयरणं नामक ग्रन्थ के गृह प्रकरण में 108 पद का वास्तुमण्डल बनाने का विधान है-

अट्ठुत्तरसउ भाया पडिमारुवुव्व करिवि भूमितओ।
सिरि हियइ नाहि सिहिणो थंभं वज्जेह जत्तेण।।[1]

इस वास्तुमण्डल में वास्तु पुरुष की आकृति तथा वास्तु पुरुष के मर्म स्थानों मस्तक, हृदय, नाभि, शिखा पर स्तम्भ स्थापित नहीं करने का निर्देश वास्तुशास्त्र के (*समराङ्गणसूत्रधार, मयमतम्, बृहत्संहिता* आदि) ग्रन्थों के समान ही दिया गया है। इस ग्रन्थ के गुजराती अनुवादकर्त्ता आचार्य जयन्तसेन सूरि ने पृ. 57, 58 पर वास्तुमण्डल का उल्लेख किया है -

ईशो मूर्ध्नि समाश्रितः श्रवणयोः पर्जन्यनामा दितिरापस्तस्य गले तदंशयुगले प्रोक्तो जयश्चादितिः।
उक्तावर्यमभूधरौ स्तनयुगे स्यादापवत्सो हृदि, पञ्चेन्द्रादिसुराश्च दक्षिणभुजे वामे च नागादयः।।
सावित्रः सविता च दक्षिणकरे वामे द्वयं रुद्रतो, मृत्युर्मैत्रगणस्तथोरुविषये स्यान्नाभिपृष्ठे विधिः।
मेढ्रे शक्रजयौ च जानुयुगले तौ वहिरोगौ स्मृतौ, पूषानन्दिगणाश्च सप्तविबुधा नल्योः पदोः पैतृकाः।।[2]

देवताओं के नाम और उनकी स्थिति *शिल्परत्न, विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अपराजितपृच्छा, अग्नि पुराण* आदि ग्रन्थों के समान ही है। वास्तुमण्डल तो 10 × 10 पद का है परन्तु ऊपर दिए गए चित्रानुसार वर्गाकार वास्तुमण्डल के बाहर चारों कोणों पर 2-2 पद मिलाकर 108 हो जाते हैं।

1. सिरि-वत्थुसार 125
2. वास्तुसार गृहप्रकरण पृष्ठ 67

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इन आठ पदों में स्थापित देवताओं को अन्य ग्रन्थों में बिना पद के स्थापित किया जाता है। 100 पद में देवताओं की स्थापना *वास्तुराजवल्लभ* ग्रन्थ के समान है।

वास्तुपुरुष चक्र
100 पद

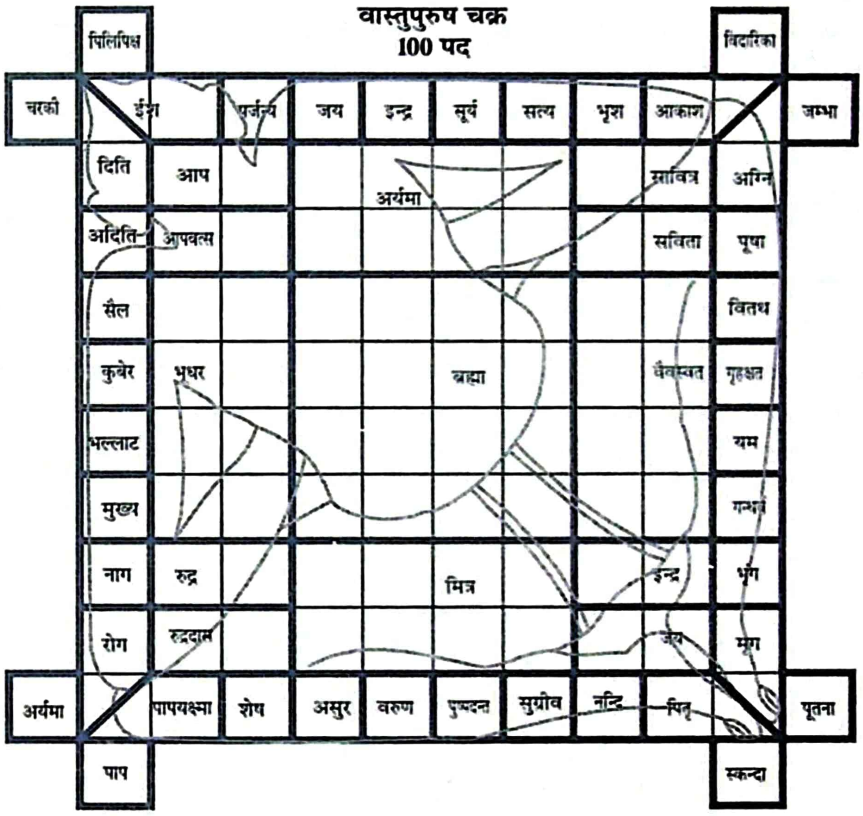

मानसार, मयमतम्, अपराजितपृच्छा आदि ग्रन्थों में परमशायिक पदविन्यास का प्रयोग, वृत्त, वृत्तायत, त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण भवनों में नहीं बताया गया है। *समराङ्गणसूत्रधार* में चण्डिता (64 पद) एवं शतपद (100 पद) वास्तुमण्डल को वृत्त, त्रिकोण, षड्कोण, अष्टकोणादि प्रकार से वर्णित किया गया है-

अथोच्यते वृत्तवास्तुर्वृत्तप्रासादहेतवे। एकश्चतुःषष्टिपदभागः शतपदोऽपरः।।
त्र्यश्रे षडश्रे चाष्टाश्रे षोडशाश्रे च वृत्तवत्। वृत्तायतेऽर्धचन्द्रे च वास्तौ पदविभाजनम्।।[12]

वराहमिहिर द्वारा विरचित *बृहत्संहिता* में भी 81 पद का प्रयोग त्रिकोण व वृत्त वास्तु के लिए वर्णित नहीं है।

ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर निवासी 'भट्टोत्पल' ने *बृहत्संहिता* की '*विवृति*' टीका की। अपने ग्रन्थ में इन्होंने बताया कि लोक में त्रिकोण, अष्टकोण आदि निर्माण दिखाई देते हैं। वराहमिहिर के लिए भी लिखा कि स्वयं वराहमिहिर ने 'षड्श्रिर्मेरुः' व 'वृत्तः समुद्गनामा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु वृत्त व त्रिकोण 'वास्तुनर' का वर्णन नहीं किया है।

अत्राचार्येण चतुरस्त्रे क्षेत्रे वास्तुनरः प्रदर्शितः, न वृत्तषडश्र्यष्टादशाश्रिषोडशाश्रीणां क्षेत्राणाम्। लोके च गृहग्रामनगराणि दृश्यन्ते। तद्यथा-अनेनैवाचार्येणोक्तम्--तत्र षडश्रिर्मेरुः। वृत्तः समुद्गनामा-- इत्यादि। तथा भरतमुनिना त्र्यस्त्रं वृत्तं गृहमुक्तम्। तस्मादन्यशास्त्रादानीय प्रसङ्गादस्माभिरिह प्रदर्श्यते।[13]

12. समराङ्गणसूत्रधार, 12.13, 20
13. बृहत्संहित, कृष्णचन्द्रद्विवेदी, भट्टोत्पल विवृतिसहिता बृहत्संहिता, द्वितीय भाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997ई. अ. 52, पृ. 592

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता की इस कमी को पूरा करने के उद्देश्य से भरत मुनि व किसी अनाम आचार्य द्वारा वर्णित पदविन्यास की विधियों को अपने 'विवृति' टीका में स्थान दिया।

एकाशीतिपदे क्षेत्रे कर्तव्यं वृत्तपञ्चकम्। बाह्ये वृत्तद्वयं यत्तत्पदद्वात्रिंशता युतम्।। तृतीयं द्वादशपदं चतुर्थं तु चतुष्पदम्। केवलं पञ्चमं कार्यं ब्रह्मा पञ्चस्ववस्थितः।। शिख्यादयस्तु द्विपदा बहिर्विष्कम्भसंस्थिताः। अर्धपाद्याः पुरः सर्वे पदिकाः परिकीर्तिताः।। वही

आचार्य व उनके ग्रन्थ का नाम नहीं दिया। वृत्त वास्तुमण्डल के इस उद्धरण में कई बिन्दु विचारणीय हैं–

1. बाहरी प्रथम व द्वितीय वृत्त में 32 पद
2. तृतीय वृत्त में 12 पद एवं चतुर्थ वृत्त में 4 पद
3. बाह्य पद के सभी देवताओं को दो–दो पद
4. अन्तः पद के सभी देवताओं को एक–एक पद
5. ब्रह्मा को पाँच पद

पदविन्यास का यह प्रकार अन्य किसी वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ, तन्त्र साहित्य अथवा पुराणादि में नहीं पाया जाता। देवताओं का पदभोग भी किसी अन्य ग्रन्थ के अनुरूप नहीं है। इस वृत्त वास्तुमण्डल में विषमताएँ अधिक हैं।

सम्भवतः पदों की रेखाओं को सीधा रखने के लिए ही इस प्रकार का पदविभाजन एवं पदभोग की संख्या निर्धारित की गई हो।

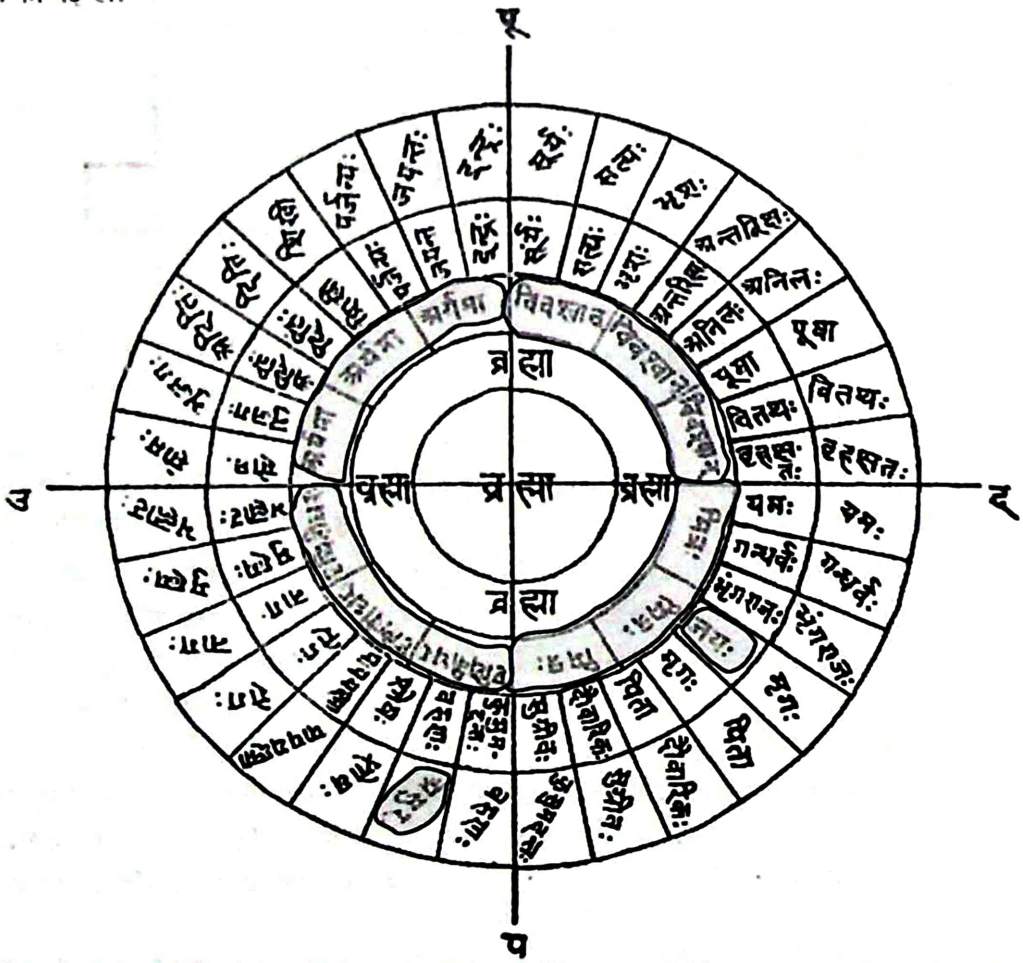

वृत्ते एकाशीतिपदो वास्तुनरः

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

भट्टोत्पल की *विवृति* टीका में वर्णित वृत्त वास्तुमण्डल का रेखांकन पुस्तकों में देखने को मिलता है परन्तु यह रेखांकन टीका के अनुरूप नहीं बनाया गया है। टीकाकार ने स्पष्ट और सरल भाषा का ही प्रयोग किया है, फिर भी रेखांकन में अनेक विसंगतियाँ दिखाई देती है।

1. अन्तः पद के बारह देवताओं को 12 पदों में स्थापित करने के स्थान पर अन्तः पद के अर्यमादिक देवताओं को तीन-तीन पदों में स्थापित किया गया है जबकि स्पष्ट लिखा है अर्यमादिक एक पद भोगी हैं **''अर्यमाद्याः सुरासर्वे पदिकाः परिकीर्तिताः''**।
2. आपवत्सादिक देवताओं को पदभोग ही नहीं दिया गया है।
3. अन्तः पदीय कोणों के 8 देवताओं में केवल जय को भृङ्गराज एवं मृग देवताओं के मध्य एक पद में स्थापित किया गया है।
4. असुर देवता को एकपदिक दिखाया गया है, जबकि अन्य देवों के समान द्विपदिक होना चाहिए।
5. पूर्व-पश्चिम व उत्तर-दक्षिण की सीधी रेखाएँ सूर्य व वरुण, सोम व यम देवताओं के पदों के मध्य से जानी चाहिए। जबकि ये दोनों रेखाएँ पदों को बनाने वाली रेखाओं के ऊपर से जाती हैं।

इस प्रकार यह रेखांकन दिए गए विवरण के अनुसार बना हुआ नहीं दिखता है।

आश्चर्य का विषय है कि टीका के सरल भाषा में देवताओं के पदभोग स्पष्ट निर्देशित हैं फिर भी मनमाने विधि से देवताओं के पदभोग पुस्तकों में प्रकाशित दिखते हैं, जिनका कोई आधार नहीं है। आश्चर्य तब अधिक होता है जब ये अशुद्धियाँ पुस्तकों में निरन्तर प्रकाशित की जा रही हैं।

विवृति टीका के आधार पर लेखक द्वारा बनाया गया चित्र

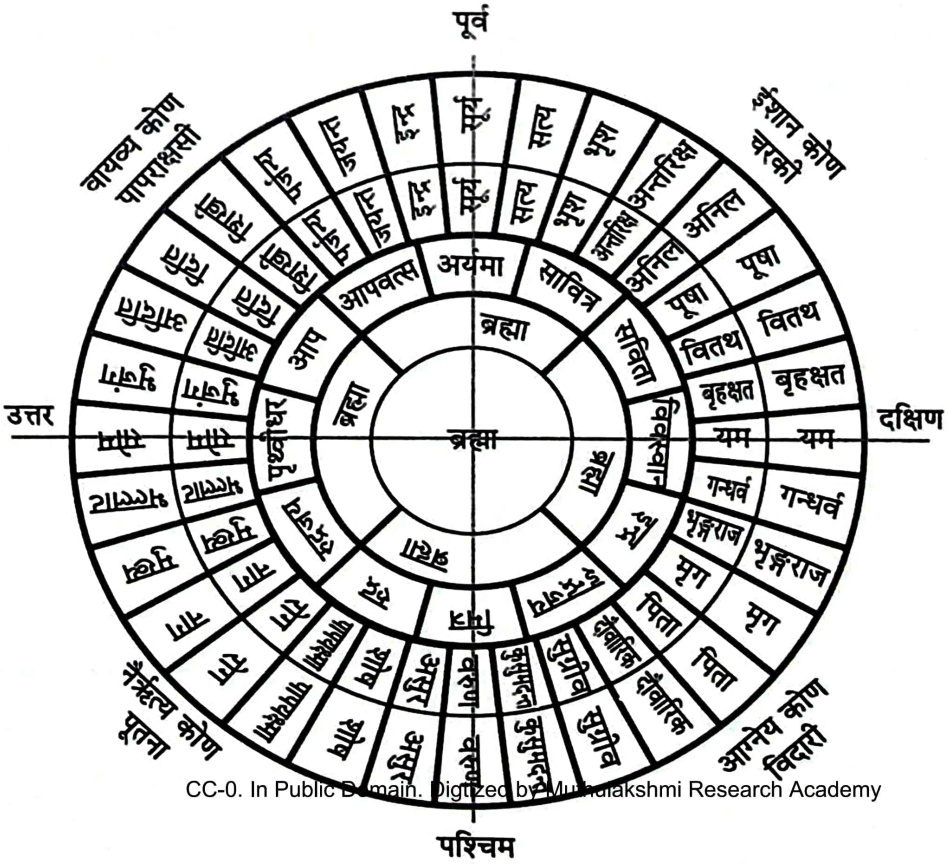

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

Architecture of Mānasāra[14] के ग्रन्थकार **पी.के. आचार्य** ने Series No. V में 81 पद के वृत्त वास्तुमण्डल का रेखांकन दिया है। इस रेखांकन का सन्दर्भ *बृहत्संहिता* बताया है। इसी ग्रन्थ के Series No. IV पृ. 44-55 पर लिखा है कि *बृहत्संहिता* में त्रिकोण व वृत्त वास्तु का वर्णन नहीं किया गया है। आचार्य ने भी *बृहत्संहिता* के भट्टोत्पल की 'विवृति' टीका के अंश को ही *बृहत्संहिता* का नाम देकर उद्धृत किया है।

आचार्य ने सन्दर्भ 'विवृति' टीका का दिया है, लेकिन पदविन्यास व पदभोग *मानसार* के अनुसार दिखाया है। परन्तु यह वृत्त रेखांकन न तो *मानसार* विधा को सही ढंग से प्रदर्शित करता है और न ही 'विवृति' टीका को। भट्टोत्पल द्वारा वर्णित पदविन्यास और *मानसार* में निम्न भिन्नताएँ हैं-

भट्टोत्पल	*मानसार*
1. भट्टोत्पल के अनुसार बाह्य दो चक्रों में 32-32 पद बनाए जाते हैं।	*मानसार* में बाह्य चक्र में 32 पद तथा चतुर्थ चक्र में 24 पद बनाते हैं।
2. तृतीय चक्र में 12 पद एवं द्वितीय चक्र में 4 पद बनाते हैं।	तृतीय चक्र में 16 पद एवं द्वितीय चक्र में 8 पद बनाते हैं।
3. पदों का क्रम 1+4+12+32+32=81 बनता है।	पदों का क्रम 1+8+16+24+32=81 बनता है।
4. बाह्य पद के सभी देवता द्विपदभोगी हैं।	बाह्य पद के सभी देवता एकपदभोगी हैं।
5. अन्त: पद के देवता एकपदभोगी हैं।	आपादिक द्विपदभोगी एवं अर्यमादिक षड्पदभोगी हैं।
6. ब्रह्मा 5 पद में स्थापित हैं।	ब्रह्मा 9 पद में स्थापित हैं।

इस प्रकार *मानसार* व 'विवृति' टीका के पदविन्यास में साम्यता नहीं है। अत: इसे *बृहत्संहिता* के आधार पर लिखना उचित प्रतीत नहीं होता है। हाँ, केवल वृत्त वास्तुमण्डल बनाने के विचार को Idea taken from *Bṛihatsaṃhitā* कहा जा सकता है।

क्योंकि *बृहत्संहिता, मानसार* एवं *भट्टोत्पल* द्वारा 'विवृति' टीका में वर्णित पदविन्यास में समानता नहीं है, अत: एक-दूसरे के आधार पर पदविन्यास का वर्णन नहीं किया जा सकता।

	बृहत्संहिता	भट्टोत्पल द्वारा वर्णित	मानसार
ब्रह्मा-1	1 × 9 = 9	1 × 5 = 5	1 × 9 = 9
अर्यमादिक-4 (दिशाओं के देवता)	4 × 3 = 12	4 × 1 = 4	4 × 6 = 24
आपवत्सादिक-8 (अन्त:कोणों के देवता)	8 × 1 = 8	8 × 1 = 8	8 × 2 = 16
बाह्यपद के देवता –			
ईशादिक-4 (बाह्यकोणों के देवता)	4 × 1 = 4	4 × 2 = 8	4 × 1 = 4
पर्जन्यादिक-8	8 × 1 = 8	8 × 2 = 16	8 × 1 = 8
जयन्तादिक-20	20 × 2 = 40	20 × 2 = 40	20 × 1 = 20
	45 81	45 81	45 81

आचार्य ने 1+8+20+20+32 के पदक्रम में वृत्त वास्तुमण्डल का चित्र दिया है जिसका वर्णन *मानसार* या *बृहत्संहिता* (अथवा अन्य ग्रन्थों) में वर्णित नहीं है।

14. Prasanna Kumar Acharya, *Architecture of Mānsāra*, Low Price Publication, Delhi (1995)

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इस रेखांकन को *मानसार* के अनुसार भी पद विभाजन किया जाए तो तृतीय चक्र व चतुर्थ चक्र का विन्यास सही नहीं है। अन्त: पदस्थ कोणों के देवताओं के पदभोग इस प्रकार नहीं बनाये जा सकते हैं। आचार्य ने इस रेखांकन में अन्त: पद के देवताओं के पदों की रेखाओं को तृतीय चक्र व चतुर्थ चक्र में एक सीधी रेखा में दिखाया है जो नहीं बनाया जा सकता।

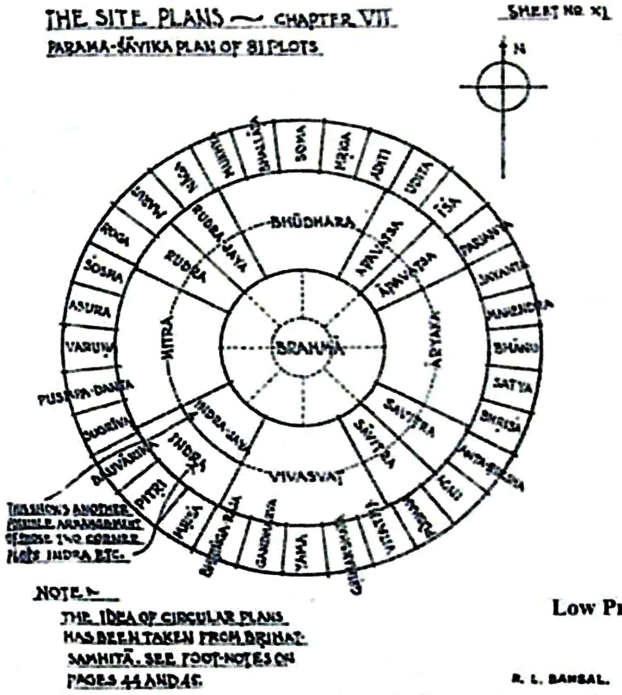

Prasanna Kumar Acharya,
Architecture of Mansara,
Low Price Publication, Delhi (1995),
Sheet No. XI

चतुर्थ चक्र में 24 पद एवं तृतीय चक्र में 16 पद बनाये जाते हैं। चतुर्थ चक्र में 24 पद बनाने पर 360° का वृत्त 15° के समपदों में विभाजित होता है। तथा तृतीय चक्र में 16 पद बनाने पर एक पद 22.5° का बनता है।

इस प्रकार तृतीय व चतुर्थ चक्र को पदविभाजित करने वाली रेखाएँ 360°, 45°, 90°, 135°, 180°, 225°, 270° व 315° पर एक दूसरे से गुजरेंगी। अर्थात् तृतीय व चतुर्थ चक्र के ऊपर-नीचे किसी एक पद के दोनों रेखाओं में एक रेखा तो एक दूसरे के ऊपर हो सकती है परन्तु उन्हीं पदों की दूसरी रेखाएँ एक-दूसरे से नहीं मिल सकतीं।

$\frac{360°}{24 \text{ पद}} = 15°$ 1 पद

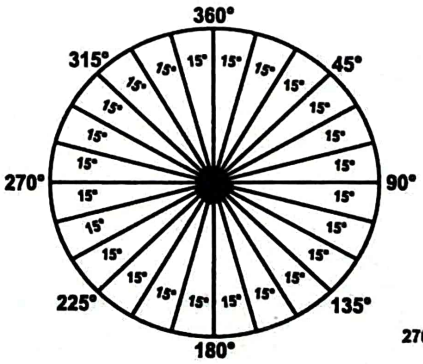

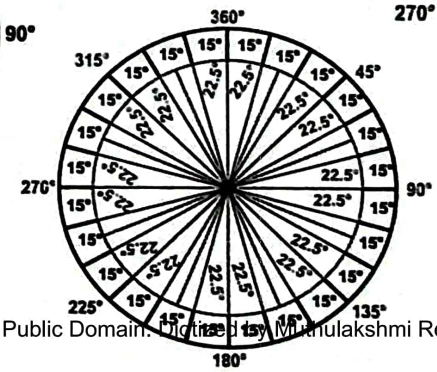

$\frac{360°}{16 \text{ पद}} = 22.5°$ 1 पद

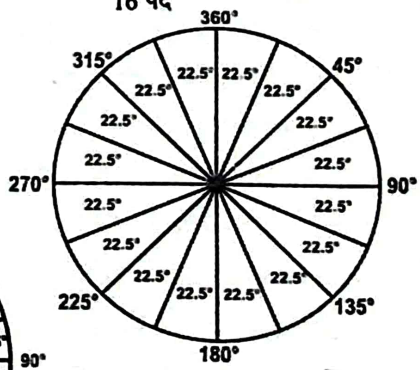

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

अतः तृतीय चक्र व चतुर्थ चक्र के अन्तः पदों के देवताओं का पदभोग एक सीधी रेखा में नहीं बन सकता क्योंकि विभिन्न चक्रों में पदों की संख्या भिन्न-भिन्न होने से रेखाएँ सीधी नहीं हो सकती वहीं पदभोग की संख्या तो भिन्न है ही।

प्रतीत होता है कि सभी देवताओं के पदों की रेखाओं को सीधा रखने के लिए इस प्रकार का (आधारहीन) रेखांकन किया गया है। जबकि समचतुरस्र वास्तुमण्डलों में भी देवताओं के पदभोग सीधी रेखाओं में नहीं दिखते हैं। जैसे ब्रह्मा व अर्यमादिक देवताओं के पदभोग की संख्या क्रमशः 21, 24, 32 व 11 होने पर समचतुरस्र वास्तुमण्डल में भी रेखाएँ सीधी नहीं होती।

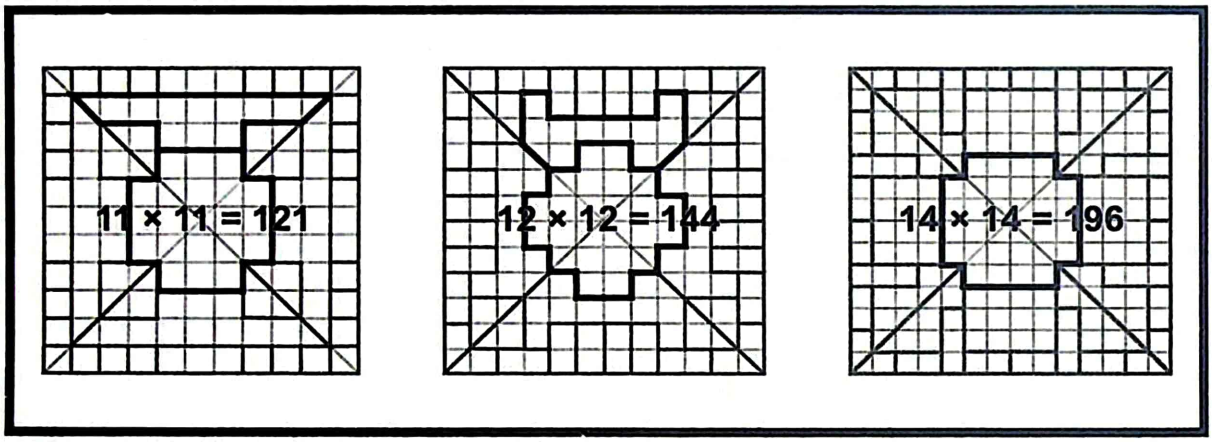

यदि *मानसार* में वर्णित समचतुरस्र परमशायिक पदविन्यास के प्रत्येक चक्र में देवताओं की संख्या व उनके पदभोग की संख्या के अनुसार वृत्त वास्तुमण्डल का रेखांकन किया जाय तो यह पदविन्यास अग्रिम पृष्ठ पर दिये गये चित्र की तरह बनेगा।

वहाँ पर बने समचतुरस्र एवं वृत्त वास्तुमण्डल के चक्रों में वर्णित पदों की संख्याएँ समान हैं, तथा देवताओं के पदभोग भी निर्धारित चक्रों में समान हैं।

— बाह्य चक्र के 32 पदों में ईशादिक 32 देवता

— चतुर्थ चक्र के 24 पदों में-

1. कोणों के आपादिक आठ देवता डेढ़-डेढ़ पद में $8 \times 1^1/_2 = 12$
2. दिशाओं के अर्यमादिक चार देवता तीन-तीन पद में $4 \times 3 = 12$

— तृतीय चक्र के 16 पदों में-

1. कोणों के आपादिक आठ देवता आधे-आधे पद में $8 \times {}^1/_2 = 4$
2. दिशाओं के अर्यमादिक चार देवता तीन-तीन पद में $4 \times 3 = 12$

— द्वितीय एवं प्रथम चक्र के 9 पदों में ब्रह्मा

यदि *बृहत्संहिता* में वर्णित समचतुरस्त्र परमशायिक पदविन्यास के प्रत्येक चक्र में देवताओं की संख्या व उनके पदभोग की संख्या के अनुसार वृत्त वास्तुमण्डल का रेखांकन किया जाय तो यह पृष्ठ संख्या 60 पर बने चित्र की तरह बनेगा।

— बाह्य चक्र के 32 पदों में ईशादिक 32 देवता

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

— चतुर्थ चक्र के 24 पदों में-

1. कोणों के आपवत्सादिक चार देवता एक-एक पद में $4 \times 1 = 4$ पद
2. बाह्य पद के जयन्तादिक 20 देवता एक-एक पद में $20 \times 1 = 20$ पद

— तृतीय चक्र के 16 पदों में-

1. कोणों के आपादिक चार देवता एक-एक पद में $4 \times 1 = 4$ पद

_मानसार_ में वर्णित समचतुरस्र परमशायिक पदविन्यास के प्रत्येक चक्र में देवताओं की संख्या व उनके पदभोग की संख्या को आधार मानकर लेखक द्वारा बनाया गया वृत्त वास्तुमण्डल का रेखाचित्र

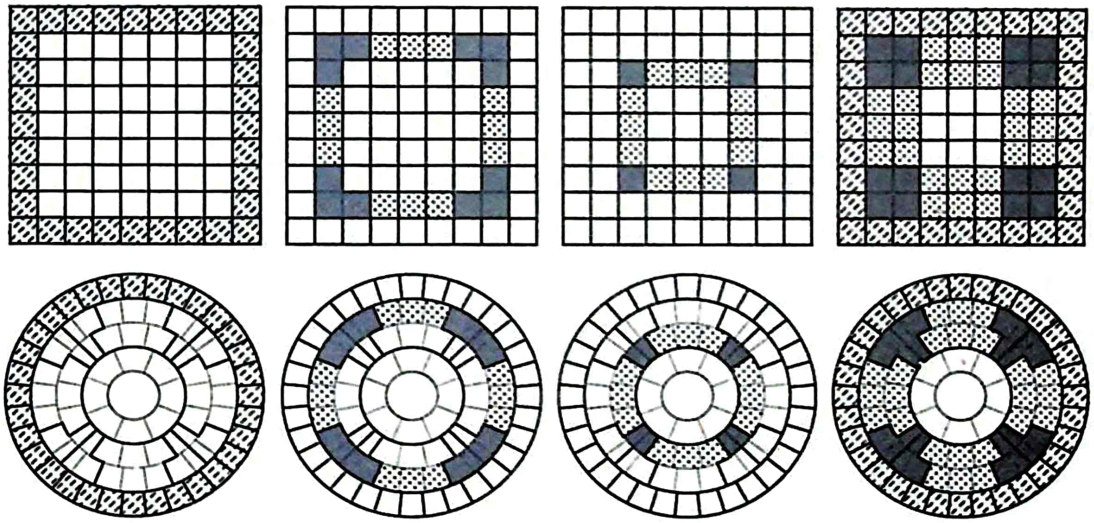

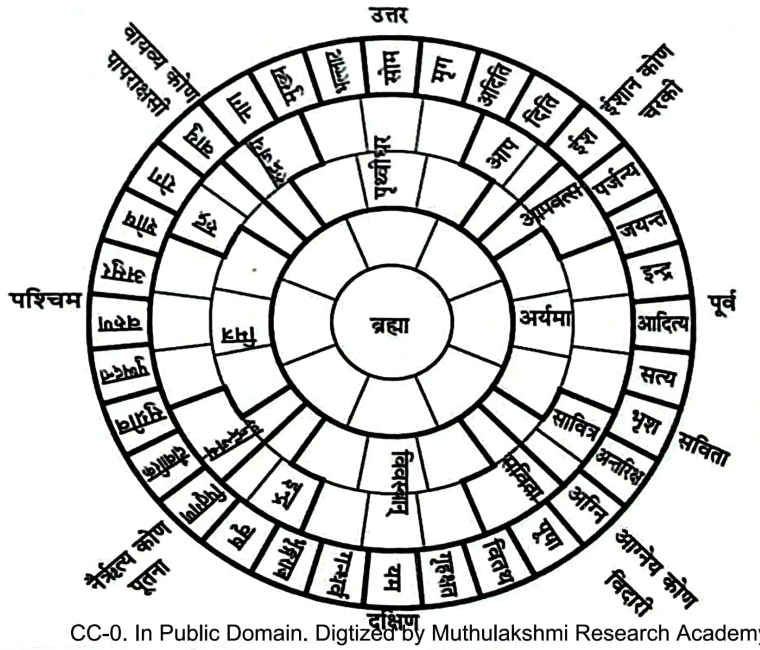

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

2. दिशाओं के अर्यमादिक चार देवता तीन-तीन पद में $4 \times 3 = 12$ पद

— द्वितीय एवं प्रथम चक्र के 9 पदों में ब्रह्मा

वृत्त वास्तुमण्डल में दिशाओं व विदिशाओं के क्षेत्रफल का अनुपात समचतुरस्र वास्तुमण्डल के समान नहीं होता, अतः वृत्त वास्तुमण्डल के सभी पद समान नहीं होते।

बृहत्संहिता में वर्णित समचतुरस्त्र परमशायिक पदविन्यास के प्रत्येक चक्र में देवताओं की संख्या व उनके पदभोग की संख्या को आधार मानकर लेखक द्वारा बनाया गया वृत्त वास्तुमण्डल का रेखाचित्र

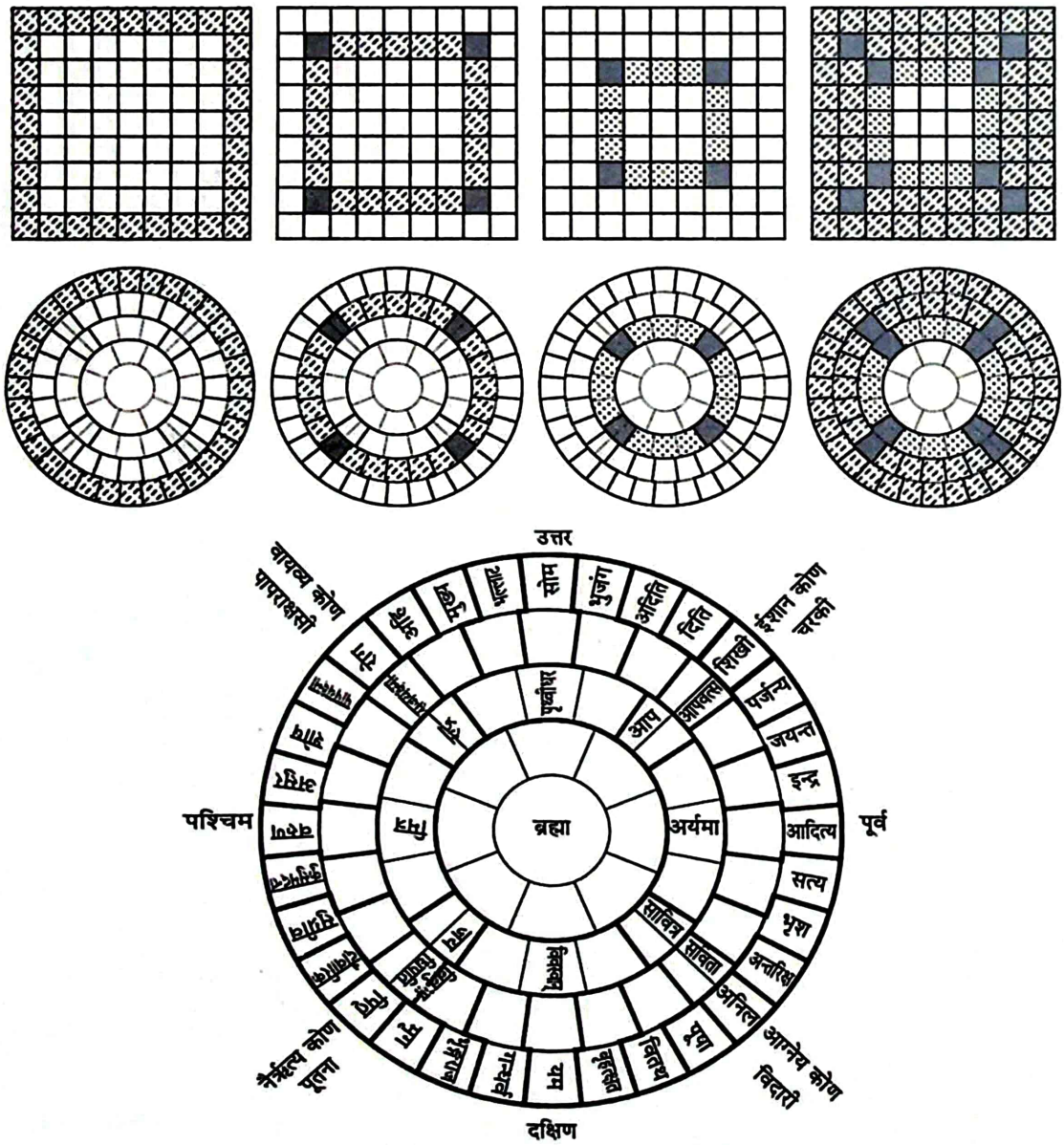

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

त्रिकोण वास्तुमण्डल में भट्टोत्पल ने 5 त्रिकोण की कल्पना कर बाहरी त्रिकोण में पूर्व दिशा की भुजा पर बने कोणों के पदों को छोड़कर 8 पद तथा बचे हुए दोनों भुजाओं के बारह-बारह भाग अर्थात् 12 + 12 + 8 = 32 पद बनाने को बताया है। पुनः चतुर्थ चक्र में भी 32 पद बनाने का वर्णन है।

त्र्यस्राणि पञ्च क्षेत्राणि त्रिकोणे परिकल्पयेत्। प्राची दिगष्टधा कार्या कोणवर्ज्या ततः परे।। रविभागाविभक्ते ते वास्तुद्वाराणि तानि तु। दितिं वायुं जलपतिं कोणेषु त्रिषु विन्यसेत्।। ततः शिख्यादिकान् सर्वान् शेषेषु विनिवेशयेत्। द्वितीये पूर्ववद् भागाः षोडशद्विगुणास्ततः।। तत्रापि कोणत्रितये पूर्वोक्तान् विबुधान् न्यसेत्। शेषेषु वास्तुकोष्ठस्थान् सुरांश्च विनिवेशयेत्।। क्षेत्रे तृतीये चत्वारि सर्वशाखासु कारयेत्। प्राग्गतिर्यमसावित्रौ सविता च ततः परम्।। विवस्वानिन्द्रमित्रा च जयश्चैव हरस्तथा। राजयक्ष्मा भूमिधर आपो वत्सयुतः स च।। चतुर्थे पञ्चभिर्भागैः कृत्वा तन्मध्यगस्तथा। पितामहो विनिर्दिष्टस्त्र्यस्रक्षेत्रेऽप्ययं विधिः।। एवमेते सर्व एव स्वल्पधियां विन्यासेन द्वितीयपत्रे प्रदर्श्यन्ते।।[1]

विवृति टीका के अनुसार प्रस्तुत चित्र में

1. त्रिकोण की एक भुजा के 12 भाग तथा दूसरी भुजा के 13 भाग किये गये हैं। ■
2. बाह्य पद के अनेक देवताओं के दोनों पद एक साथ नहीं हैं।
3. बाह्य कोणों के देवता (शिखी-पितृ व अनिल-रोग) पूर्वादि दिशाओं से कोणों (45°) पर स्थित नहीं है तथा आपस में एक सीध में (180°) भी नहीं हैं। 45° ——— 45°

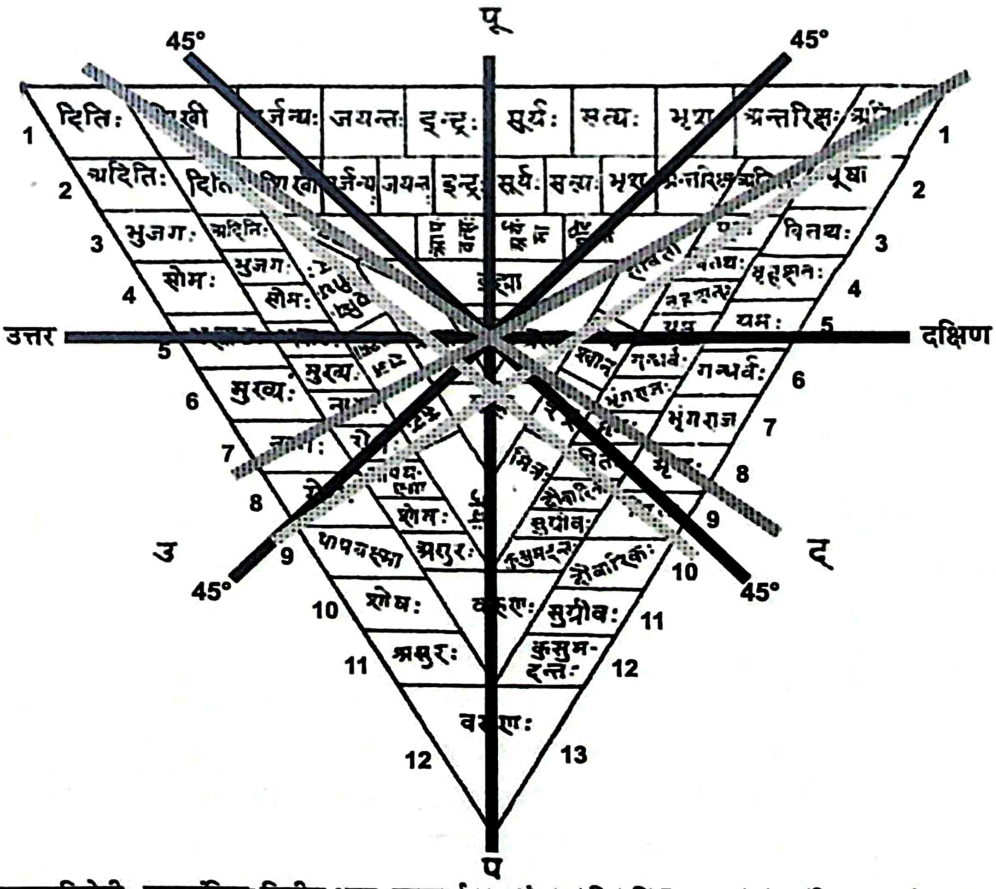

1. कृष्णचन्द्रद्विवेदी, *बृहत्संहिता*, द्वितीय भाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997 ई., अ. 52, पृ. 593

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

4. दिशाओं के देवता (वरुण-सूर्य, सोम-यम) दिशाओं के मध्य में नहीं है तथा एक सीध में (180°) भी नहीं हैं।
5. पूर्व-पश्चिम की रेखा पश्चिम के देवता वरुण पद के मध्य से गुजरती है, जबकि पूर्व में सूर्य पद के मध्य से नहीं गुजरती है।
6. तृतीय त्रिकोण में आप व आपवत्स तथा सावित्र व सविता को साथ-साथ एक-एक पद में स्थापित किया गया है लेकिन नैर्ऋत्य कोण में स्थापित होने वाले इन्द्र एवं जय के मध्य पश्चिम दिशा के देवता मित्र को स्थापित किया गया है तथा जय के साथ वायव्य कोण में स्थापित होने वाले देवता रुद्र व पापयक्ष्मा को स्थापित किया गया है। इस प्रकार अन्त:पद के दो कोणों के तीन देवताओं को एक साथ स्थापित करना गलत है। (अन्य वास्तुमण्डलों में भी दो विभिन्न कोणों के देवता एक साथ ही गलत विधि से स्थापित दिखते हैं।)

इस वर्णित विधि से दोनों भुजाओं पर 12-12 पद दोनों रेखाओं के 12-12 भाग करने पर नहीं बनाया जा सकता है। त्रिकोण के कारण दो भुजाओं से बनने वाले कोण का पद दोनों रेखाओं के लिए उभयनिष्ठ (एक ही) होगा। इस प्रकार कुल पदों की संख्या 31 होगी।

यदि दोनों भुजाओं पर 24 पद बनाने हैं तो एक भुजा के 12 भाग एवं दूसरी भुजा के 13 भाग करने पड़ेंगे। जबकि भट्टोत्पल द्वारा उद्धृत अनाम आचार्य ने 12-12 भाग ही बनाने को बताया है। इस प्रकार बाह्य त्रिभुज में 12+12+8=32 पद नहीं बनाया जा सकता। यदि किसी कोण को 2 भागों में विभक्त किया जाए तो 12-12 पद बनाए

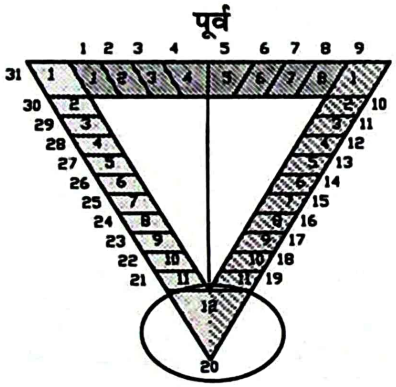

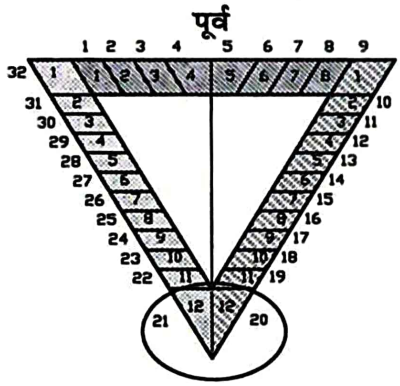

जा सकते हैं परन्तु दिति, वायु एवं जलपति को ही तीनों कोणों में (**कोणेषु त्रिषु**) स्थापित करने का स्पष्ट निर्देश है, अत: कोणों पर चार पद नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार, वर्णित विधि से त्रिकोण वास्तुमण्डल की रचना नहीं की जा सकती।

इस पदविन्यास का स्वरूप अनाम आचार्य ने किस उद्देश्य व आधार पर किया है, यहाँ वर्णित नहीं है। भट्टोत्पल की टीका में पदविन्यासों की परम्परा तो उनकी अपनी हो सकती है परन्तु वर्णित पदविन्यासों की विधि सही नहीं है। 81 पद के साथ 64 पद के वास्तुमण्डल के विन्यास विधि की अशुद्धियां भी इसकी पुष्टि करती हैं।

वृत्त वास्तुमण्डल में 64 पद विभक्त करने की भट्टोत्पल की विधि-

वृत्तानि चत्वारि समानि कृत्वा वास्तोश्चतु:षष्टिपदस्य सम्यक्।
अधस्तदर्धेन च सूर्यवेदैर्विभज्यते वृत्तचतुष्टयं च।।
शिख्यादयश्चैकपदे निविष्टा: पदद्वये चार्यमकादयश्च।
आपादयश्च त्रिपदा: प्रतिष्ठाश्चतुष्पदश्चात्र पितामह: स्यात्।।

भट्टोत्पल विवृति टीका, *बृहत्संहिता*

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिख्यादिक 32 देवता 1-1 पद (**शिख्यादयश्चैक पदे**)	32	×	1	=	32 पद
अर्यमादि[15] 4 देवता 2-2 पद (**पदद्वयेचार्यमकादयश्च**)	4	×	2	=	8 पद
आपादि 8 देवता 3-3 पद (**आपादयश्च त्रिपदाः**)	8	×	3	=	24 पद
ब्रह्मा 4 पद (**चतुष्पदश्चात्र पितामहः**)	1	×	4	=	4 पद
	45 देवता				68 पद

इस प्रकार 64 पद वास्तुमण्डल में 68 पद का विभाजन बताया गया है।

भट्टोत्पल की टीका में अनाम आचार्य द्वारा वर्णित वास्तुमण्डलों में अनेक अशुद्धियाँ हैं। अतः भट्टोत्पल की टीका में अनाम आचार्य द्वारा वर्णित विधि से रेखांकन वन ही नहीं सकता।

भारतीय वास्तुशास्त्र में पदविन्यास की अवधारणा एक ज्यामितीय संरचना है जिसमें एक छन्द योजना (Rhythm) भी होती है। प्रस्तुत पदविन्यास में Rhythm का सर्वथा अभाव दिखाई देता है तथा उपरोक्त अनेक विसंगतियों के कारण इस पदविन्यास की वर्णित विधि सही प्रतीत नहीं होती है।

आचार्य ने त्रिकोण वास्तुमण्डल का भी पदविन्यास '*विवृति*' टीका को आधार मानकर बनाया हुआ लिखा है, परन्तु पदविन्यास *मानसार* के अनुसार बनाया है। इस पदविन्यास में कई बिन्दु विचारणीय है।

1. चतुर्थ चक्र में 24 के स्थान पर 23 पद बने हैं।
2. तृतीय चक्र में 16 पद के स्थान पर 17 पद है।
3. बाह्य कोणों के देवता केन्द्र से गुजरती हुई एक सीधी रेखा पर (180°) स्थित नहीं है। यथा ईश-पितृ, वायु-अग्नि। इस प्रकार ईशान कोण, आग्नेय कोण, नैर्ऋत्य कोण व वायव्य कोण का सही निर्धारण सम्भव नहीं है।
4. पञ्चम, चतुर्थ एवं तृतीय त्रिभुज के पदों की रेखाओं को एक सीध में रखा है। यह भी सही नहीं है।
5. भूधर को चतुर्थ चक्र में चार पद में स्थापित किया गया है। जबकि तीन पद में स्थापित होना चाहिए। ▧ तथा तृतीय चक्र में दो पद में स्थापित किया गया है जबकि तीन पद में स्थापित होना चाहिए। ■
6. अन्तः पद के देवताओं रुद्र व रुद्रजय तथा आप व आपवत्स को चतुर्थ चक्र में कुल 6 पद होने चाहिए जबकि चार पद ही दिये गये हैं। ▩
7. अन्तः पद के देवताओं रुद्र व रुद्रजय तथा आप व आपवत्स को तृतीय चक्र में कुल 2 पद होने चाहिए जबकि चार पद दिये गये हैं। ▨
8. उत्तर-दक्षिण की रेखा पदविभाजन करने वाली रेखा के ऊपर से नहीं जानी चाहिए।
9. दिशाओं के देवता (इन्द्र, यम, वरुण व सोम) से कोणों के देवता (ईश, अग्नि, पितृ एवं वायु) कोण पर (45°) स्थित नहीं है।
10. पदों को विभाजित करने वाली रेखायें सभी चक्रों में समानान्तर नहीं हो सकती।

इस प्रकार आचार्य द्वारा रेखांकित त्रिकोण पदविन्यास सही प्रतीत नहीं होता। *मानसार*, सीरीज नं. 5, शीट नं. VIII पर रेखांकित 64 पद के वास्तुमण्डल में भी अशुद्धियाँ दिखती है। इस वास्तुमण्डल में आचार्य ने ईशान कोण में अन्तरिक्ष को, पूर्व दिशा में वितथ को, दक्षिण दिशा में सुग्रीव को तथा पश्चिम दिशा में मुख्य देवता को

15. बृहत्संहिता की परम्परा में (**ब्रह्मा चतुष्पदोऽस्मिन्नर्धपदा ब्रह्मकोणस्थाः।। 52.55**) तथा अन्य ग्रन्थों में भी आपादिक 8 देवता कोणों पर स्थापित होते हैं तथा इनका पदभोग भी समान होता है। इसी प्रकार अर्यमादि 4 देवता दिशाओं में स्थापित होते हैं तथा इनका पदभोग भी समान होता है। आपादिक व आर्यमादिक कहने से सर्वत्र क्रमशः 8 एवं 4 देवताओं का ही ज्ञान होता है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

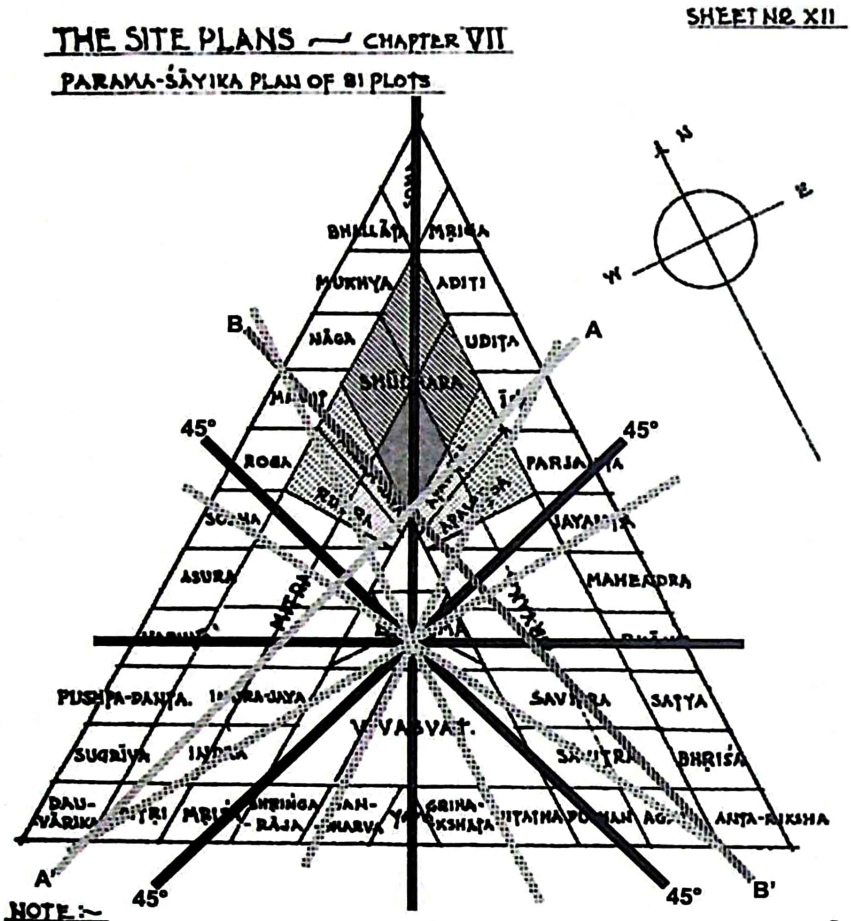

Prasanna Kumar Acharya, Architecture of Mansara, Low Price Publication, Delhi (1995), Sheet No. XII

अपनी-अपनी दिशा से अलग दिशाओं में स्थापित किया है। इस प्रकार यह धारणा बनती है कि पदविन्यासों को चित्रित करने में अनेक अशुद्धियाँ हुई हैं।

अब यदि त्रिकोण वास्तुमण्डल की कल्पना की जाए तो यह दो प्रकार से बनाया जा सकता है। प्रथम समचतुरस्र तथा दूसरा वृत्त वास्तुमण्डल विन्यास के आधार पर।

यदि *मानसार* में वर्णित समचतुरस्र परमशायिक पदविन्यास के प्रत्येक चक्र में देवताओं की संख्या व उनके पदभोग की संख्या के अनुसार त्रिकोण वास्तुमण्डल का रेखांकन किया जाय तो यह पदविन्यास पृष्ठ संख्या 66-67 व 69-71 की तरह बनेगा। इस पदविन्यास में –

1. उत्तर-दक्षिण दिशा की सीधी रेखा सोम तथा यम के पदों को समविभाजित करती है।
2. पूर्व-पश्चिम की सीधी रेखा सूर्य एवं वरुण के पदों को समविभाजित करती है।
3. ईशान कोण एवं नैर्ऋत्य कोण की सीधी रेखा ईश एवं पितृ के पदों को समविभाजित करती है।
4. आग्नेय कोण एवं वायव्य कोण की सीधी रेखा अग्नि एवं वायु के पदों को समविभाजित करती है।
5. बाह्य कोणों के देवता एवं अन्तः कोणों के देवता दिशाओं के देवताओं से कोण पर (45°) स्थापित हैं।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

6. *मानसार* में समचतुरस्र पदविन्यास में वर्णित प्रत्येक चक्र में देवताओं व उनके पदभोग की संख्या के समान ही देवताओं व उनके पदभोग की संख्या है।
7. केन्द्र से सभी देवताओं की स्थिति समचतुरस्र पदविन्यास के समान है।

त्रिकोण वास्तु में चारों दिशाओं व चारो विदिशाओं को दिखाने के लिए तीन रेखाएँ होती हैं। अत: देवताओं के पद समान नहीं हो सकते। परन्तु प्रत्येक देवता निर्धारित चक्रों में व उन चक्रों में निर्धारित पदों में स्थापित किए जाते हैं।

_मानसार_ एवं _बृहत्संहिता_ अथवा अन्य ग्रन्थों में भी पदविन्यास स्पष्ट विधि से वर्णित है। _मानसार_ तथा अन्य ग्रन्थों में प्रत्येक देवता के दो दिशाओं में स्थापित होने वाले देवताओं के भी नाम दिये गये है। अत: देवताओं के स्थापन में एवं उनके पदभोग में भ्रम की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती।

हमने _बृहत्संहिता_ तथा _वास्तुविद्या_ के कतिपय प्रकाशनों[1] का अवलोकन किया, लेकिन इन सभी पुस्तकों में निरन्तर अशुद्धियाँ प्रकाशित हो रहीं हैं, जो पढ़ने वालों में भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर रही हैं। दु:ख का विषय तो यह है कि 64 पद व 81 पद में भी अन्तर नहीं किया जा रहा है। 64 पदीय वास्तुमण्डल के गलत रेखा चित्र को 81 पद का रेखाचित्र प्रकाशित किया जा रहा है। लगभग सभी पुस्तकों में अन्धानुकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगत हो रही है। यह अनुभव किया जाता है कि अशुद्धियों की परम्परा बन्द होनी चाहिये जिससे अध्येताओं में भ्रम की स्थिति उत्पन्न न हो तथा सही मार्गदर्शन मिल सके।

प्रस्तुत चार्ट व चित्र समचतुरस्र, वृत्त व त्रिकोण वास्तुमण्डल में देवताओं के चक्र, उनके पदभोग की संख्या व केन्द्र से उनकी स्थिति में समानता प्रदर्शित करता है। केन्द्र से समानता इसलिए क्योंकि बाह्य परिधि परिवर्तनशील है तथा वास्तुमण्डल की अवधारणा केन्द्र से ही है।

समचतुरस्र वास्तुमण्डल के चारों कोणों पर बने ईशादिक देवताओं के पदों की बाह्य परिधियों के मान अन्य पदों की तुलना में द्विगुणित होते हैं। जबकि वृत्त वास्तुमण्डल में सभी पदों की बाह्य परिधि समान होती है। इस प्रकार समचतुरस्र विन्यास से वृत्त वास्तुमण्डल में बने ईशादिक देवताओं के पदों के मान भिन्न होते हैं। अत: जब इनकी परिधियों को बराबर-बराबर भागों में बाँटते हैं तब निश्चित पदों के कोणीय स्थिति में थोड़ा अन्तर आता है। यह अन्तर किसी भी माप के लिए एक ही होता है और पूर्वादि चारो दिशाओं में भी एक समान होता है। प्रस्तुत चार्ट इसकी पुष्टि करता है।

---

1. - पं. अच्युतानन्द झा, *वराहमिहिर विरचित बृहत्संहिता*, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2003, पृ. 336, 337
   - डॉ. कृष्ण चन्द्र द्विवेदी, *भट्टोत्पल विवृतिसहिता बृहत्संहिता*, भाग-II, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1997, पृ. 592
   - डॉ. नर्वदेश्वर तिवारी, *वराहमिहिर विरचित बृहत्संहिता*, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृ. 262, 263
   - डॉ. सुरेश चन्द्र मिश्र, *वराहमिहिर विरचित बृहत्संहिता*, भाग-II, रंजन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2010, पृ. 578, 579, 583
   - डॉ. सुरकान्त झा, *वराहमिहिराचार्य विरचित बृहत्संहिता*, भाग-II, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 2012, पृ. 36, 37, 38
   - डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', *वास्तुविद्या*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2009, पृ. 82, 83

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

_मानसार_ में वर्णित समचतुरस्र परमशायिक पदविन्यास के प्रत्येक चक्र में देवताओं की संख्या व उनके पदभोग की संख्या को आधार मानकर लेखक द्वारा बनाया गया त्रिकोण वास्तुमण्डल का रेखाचित्र

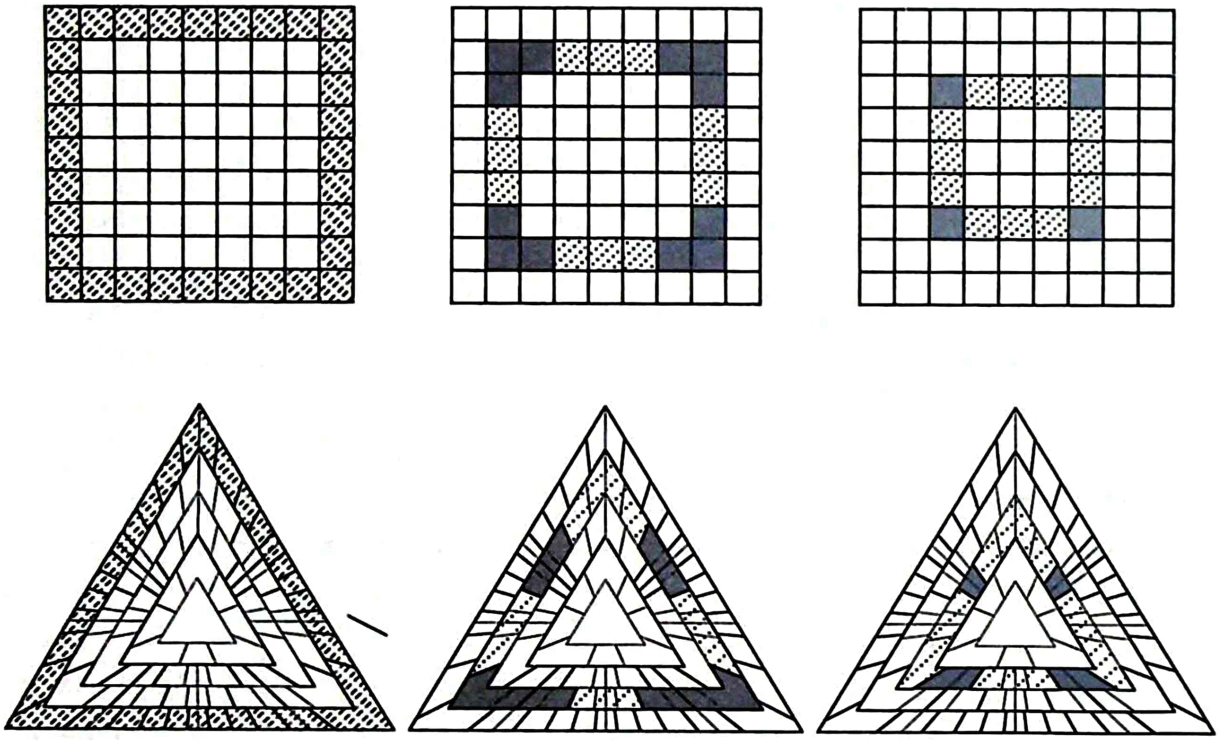

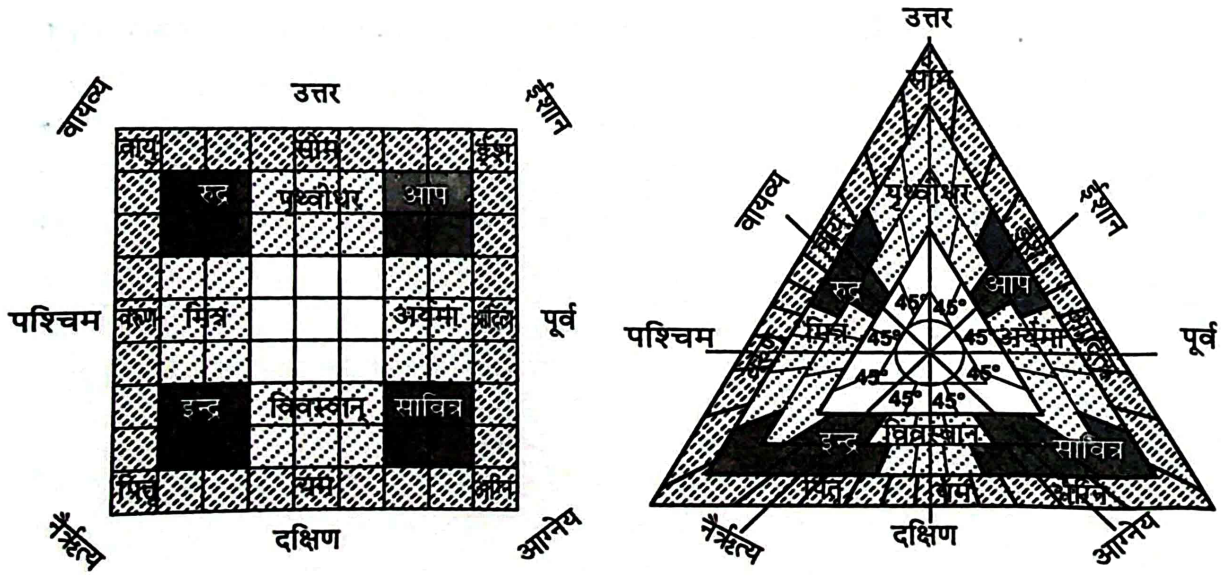

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

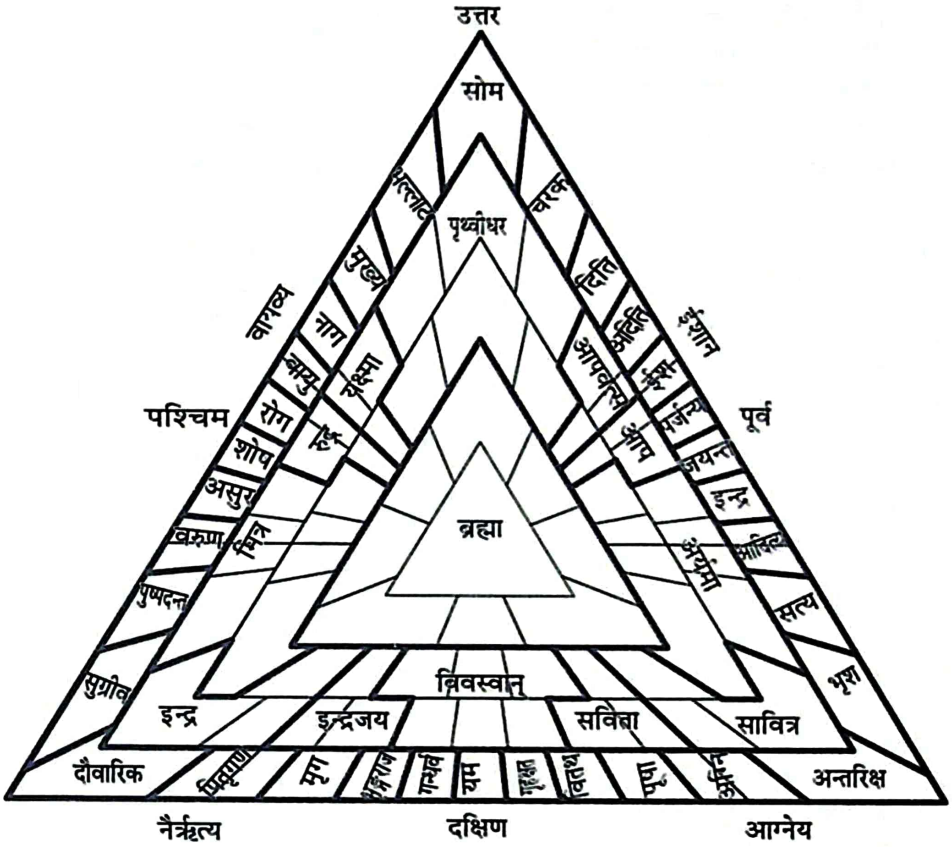

परमशायिक पदविन्यास में केन्द्र से देवताओं की कोणीय स्थिति (*मानसार*)

देवता		वर्ग	वृत्त	त्रिकोण (वर्ग के आधार पर)	त्रिकोण (वृत्त के आधार पर)
1. ब्रह्मा	मध्य	मध्य	मध्य	मध्य	
2. अर्यमा	तृतीय चक्र	59° - 121°	67.50° - 112.50°	59° - 121°	67.50° - 112.50°
	चतुर्थ चक्र	66.8° - 113.2°	56.25° - 123.75°	66.8° - 113.2°	56.25° - 123.75°
3. विवस्वान्	तृतीय चक्र	149° - 211°	157.50° - 202.50°	149° - 211°	157.50° - 202.50°
	चतुर्थ चक्र	156.8° - 203.2°	146.25° - 213.75°	156.8° - 203.2°	146.25° - 213.75°
4. मित्र	तृतीय चक्र	239° - 301°	247.50° - 292.50°	239° - 301°	247.50° - 292.50°
	चतुर्थ चक्र	246.8° - 293.2°	236.25° - 303.75°	246.8° - 293.2°	236.25° - 303.75°
5. भूधर	तृतीय चक्र	329° - 31°	337.50° - 22.50°	329° - 31°	337.50° - 22.50°
	चतुर्थ चक्र	336.8° - 23.2°	326.25° - 33.75°	336.8° - 23.2°	326.25° - 33.75°
6. आप	तृतीय चक्र	31° - 45°	22.50° - 45°	31° - 45°	22.50° - 45°
	चतुर्थ चक्र	23.2° - 45°	33.75° - 45°	23.2° - 45°	33.75° - 45°
7. आपवत्स	तृतीय चक्र	45° - 59°	45° - 67.50°	45° - 59°	45° - 67.50°
	चतुर्थ चक्र	45° - 66.8°	45° - 56.25°	45° - 66.8°	45° - 56.25°
8. सविता	तृतीय चक्र	121° - 135°	112.50° - 135°	121° - 135°	112.50° - 135°
	चतुर्थ चक्र	113.2° - 135°	123.75° - 135°	113.2° - 135°	123.75° - 135°

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

9. सावित्र	तृतीय चक्र	135° - 149°	135° - 157.50°	135° - 149°	135° - 157.50°
	चतुर्थ चक्र	135° - 156.8°	135° - 146.25°	135° - 156.8°	135° - 146.25°
10. इन्द्र	तृतीय चक्र	211° - 225°	202.50° - 225°	211° - 225°	202.50° - 225°
	चतुर्थ चक्र	203.2° - 225°	213.75° - 225°	203.2° - 225°	213.75° - 225°
11. इन्द्रजय	तृतीय चक्र	225° - 239°	225° - 247.50°	225° - 239°	225° - 247.50°
	चतुर्थ चक्र	225° - 246.8°	225° - 236.25°	225° - 246.8°	225° - 236.25°
12. रुद्र	तृतीय चक्र	301° - 315°	292.50° - 315°	301° - 315°	292.50° - 315°
	चतुर्थ चक्र	293.2° - 315°	303.75° - 315°	293.2° - 315°	303.75° - 315°
13. रुद्रजय	तृतीय चक्र	315° - 329°	315° - 337.50°	315° - 329°	315° - 337.50°
	चतुर्थ चक्र	315° - 336.8°	315° - 326.25°	315° - 336.8°	315° - 326.25°
14. ईश		37.9° - 52.1°	39.37° - 50.62°	37.9° - 52.1°	39.37° - 50.62°
15. पर्जन्य		52.1° - 60.9°	50.62° - 61.87°	52.1° - 60.9°	50.62° - 61.87°
16. जयन्त		60.9° - 71.6°	61.87° - 73.12°	60.9° - 71.6°	61.87° - 73.12°
17. महेन्द्र		71.6° - 83.7°	73.12° - 84.37°	71.6° - 83.7°	73.12° - 84.37°
18. आदित्य		83.7° - 96.3°	84.37° - 95.62°	83.7° - 96.3°	84.37° - 95.62°
19. सत्य		96.3° - 108.4°	95.62° - 106.87°	96.3° - 108.4°	95.62° - 106.87°
20. भृश		108.4° - 119.1°	106.87° - 118.12°	108.4° - 119.1°	106.87° - 118.12°
21. अन्तरिक्ष		119.1° - 127.9°	118.12° - 129.37°	119.1° - 127.9°	118.12° - 129.37°
22. अग्नि		127.9° - 142.8°	129.37° - 140.61°	127.9° - 142.8°	129.37° - 140.61°
23. पूषा		142.8° - 150.9°	140.61° - 151.87°	142.8° - 150.9°	140.61° - 151.87°
24. वितथ		150.9° - 161.6°	151.87° - 163.12°	150.9° - 161.6°	151.87° - 163.12°
25. गृहक्षत		161.6° - 173.7°	163.12° - 174.37°	161.6° - 173.7°	163.12° - 174.37°
26. यम		173.7° - 186.3°	174.37° - 185.62°	173.7° - 186.3°	174.37° - 185.62°
27. गन्धर्व		186.3° - 198.4°	185.62° - 196.87°	186.3° - 198.4°	185.62° - 196.87°
28. भृङ्गराज		198.4° - 209.1°	196.87° - 208.12°	198.4° - 209.1°	196.87° - 208.12°
29. वृष		209.1° - 217.9°	208.12° - 219.37°	209.1° - 217.9°	208.12° - 219.37°
30. पितृगण		217.9° - 232.1°	219.37° - 230.62°	217.9° - 232.1°	219.37° - 230.62°
31. दौवारिक		232.1° - 240.9°	230.62° - 241.87°	232.1° - 240.9°	230.62° - 241.87°
32. सुग्रीव		240.9° - 251.6°	241.87° - 253.12°	240.9° - 251.6°	241.87° - 253.12°
33. पुष्पदन्त		251.6° - 263.7°	253.12° - 264.37°	251.6° - 263.7°	253.12° - 264.37°
34. वरुण		263.7° - 276.3°	264.37° - 275.62°	263.7° - 276.3°	264.37° - 275.62°
35. असुर		276.3° - 288.4°	275.62° - 286.87°	276.3° - 288.4°	275.62° - 286.87°
36. शोष		288.4° - 299.1°	286.87° - 298.12°	288.4° - 299.1°	286.87° - 298.12°
37. रोग		299.1° - 307.9°	298.12° - 309.37°	299.1° - 307.9°	298.12° - 309.37°
38. मरुत		307.9° - 322.1°	309.37° - 320.62°	307.9° - 322.1°	309.37° - 320.62°
39. नाग		322.1° - 330.9°	320.62° - 331.87°	322.1° - 330.9°	320.62° - 331.87°
40. मुख्य		330.9° - 341.6°	331.87° - 343.12°	330.9° - 341.6°	331.87° - 343.12°
41. भल्लाट		341.6° - 353.7°	343.12° - 354.37°	341.6° - 353.7°	343.12° - 354.37°
42. सोम		353.7° - 6.3°	354.37° - 5.62°	353.7° - 6.3°	354.37° - 5.62°
43. मृग		6.3° - 18.4°	5.62° - 16.87°	6.3° - 18.4°	5.62° - 16.87°
44. अदिति		18.4° - 29.1°	16.87° - 28.12°	18.4° - 29.1°	16.87° - 28.12°
45. दिति		29.1° - 37.9°	28.12° - 39.37°	29.1° - 37.9°	28.12° - 39.37°

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

समचतुरस्र वास्तुमण्डल

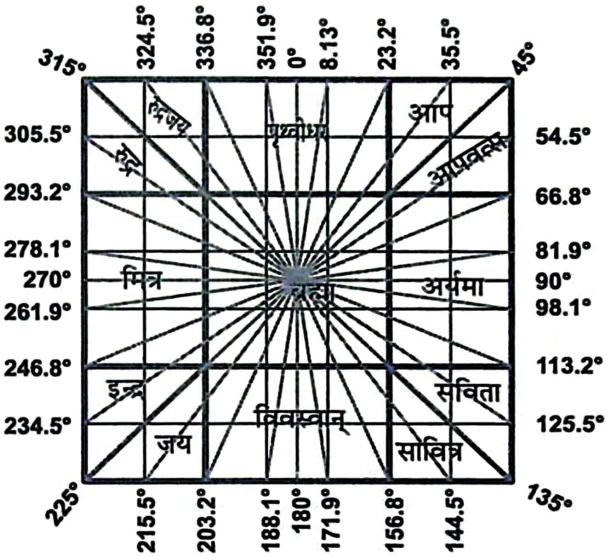

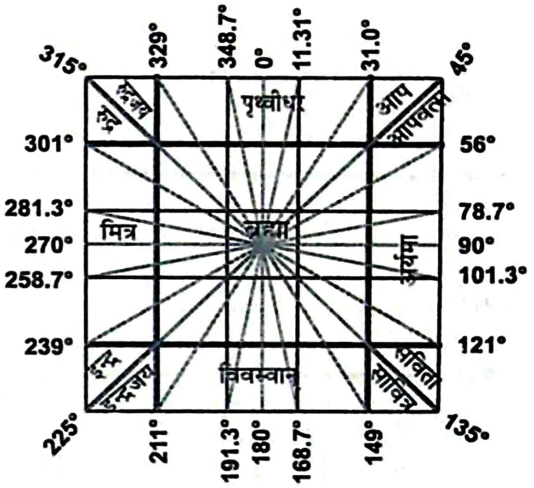

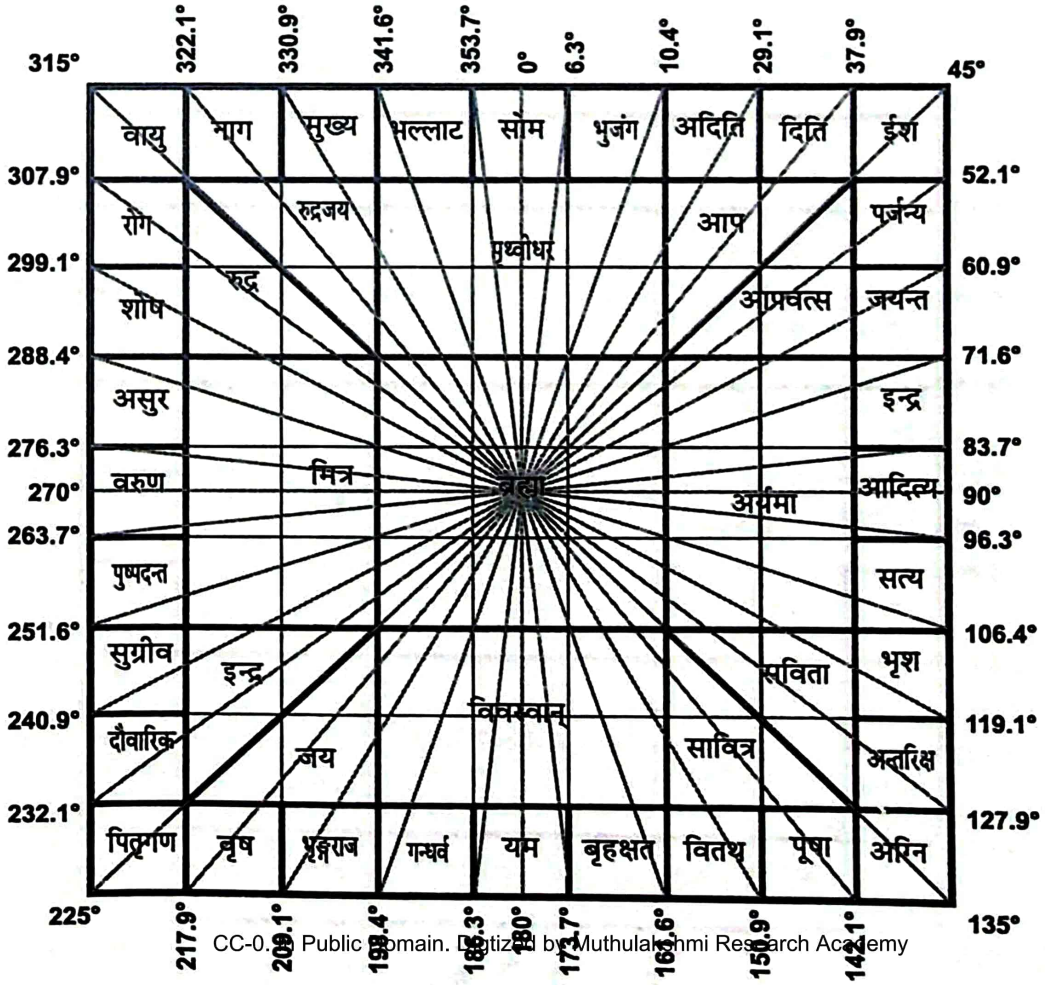

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

वृत्ताकार वास्तुमण्डल

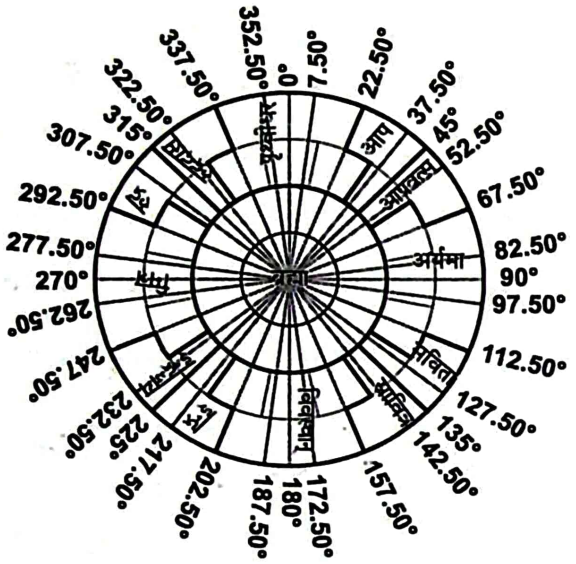

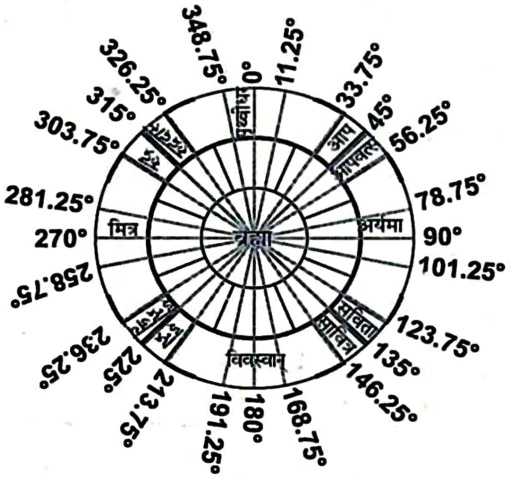

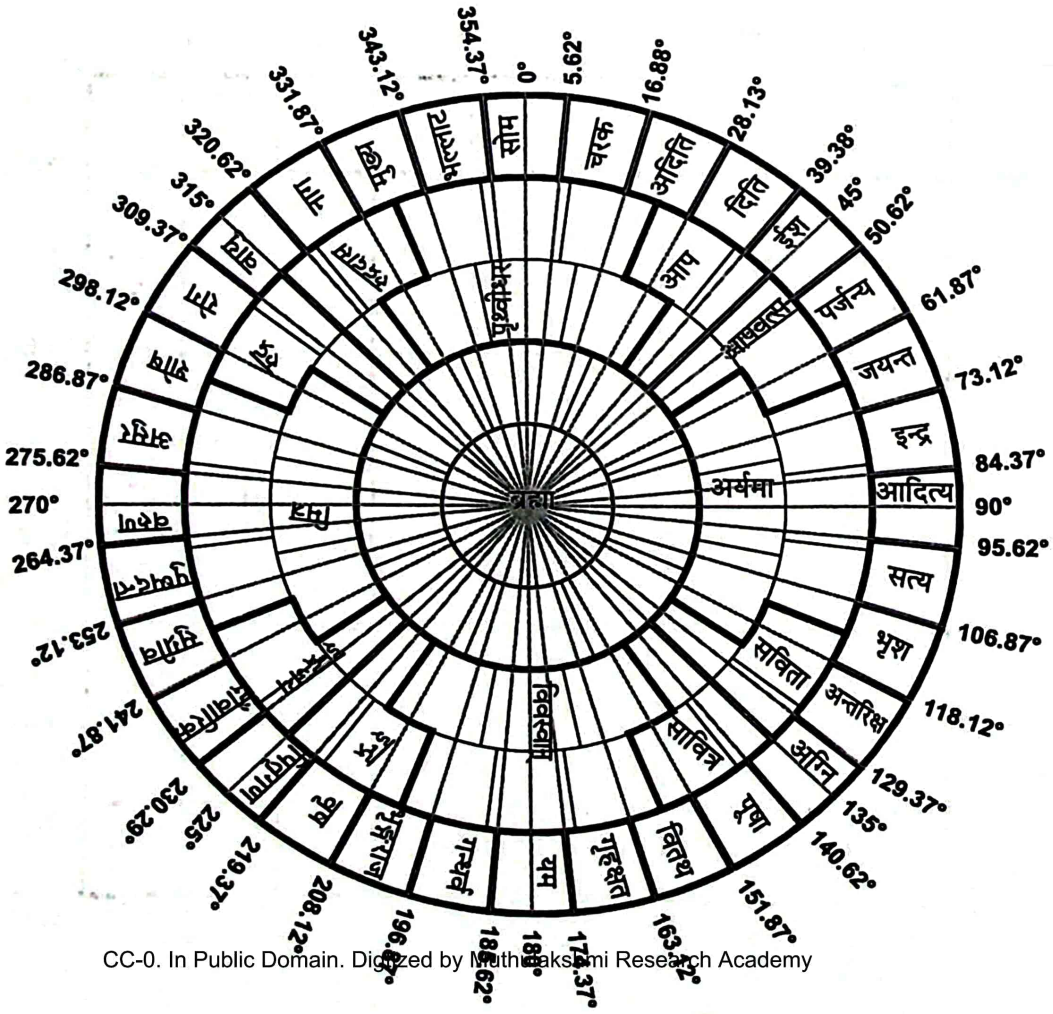

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

त्रिकोण वास्तुमण्डल

वर्ग वास्तुमण्डल के आधार पर

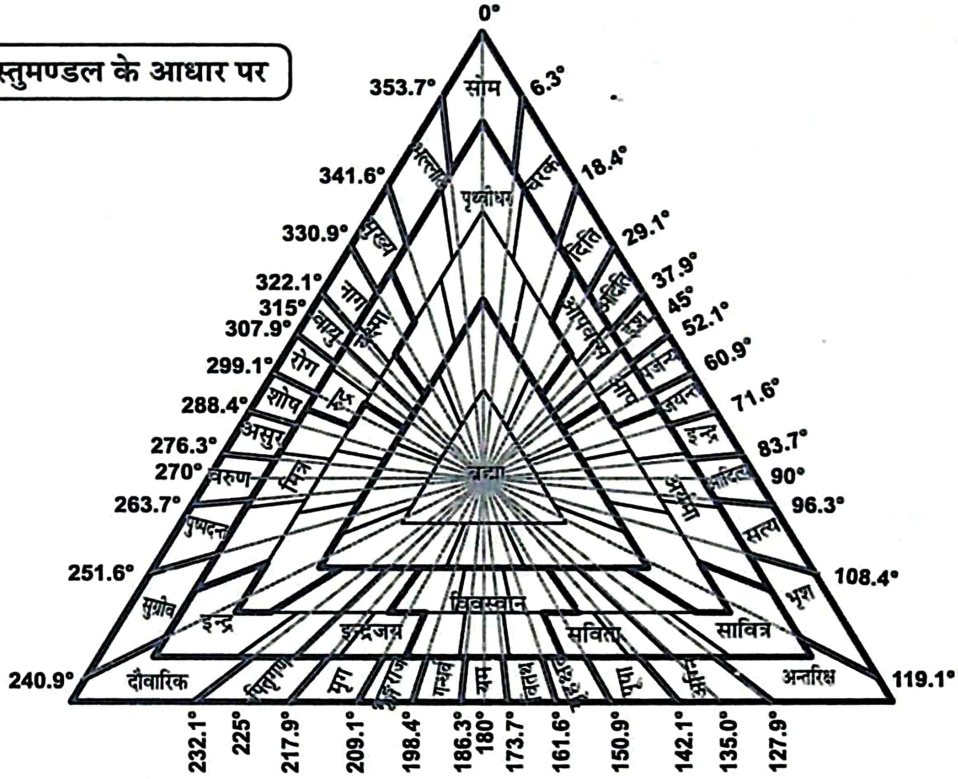

वृत्त वास्तुमण्डल के आधार पर

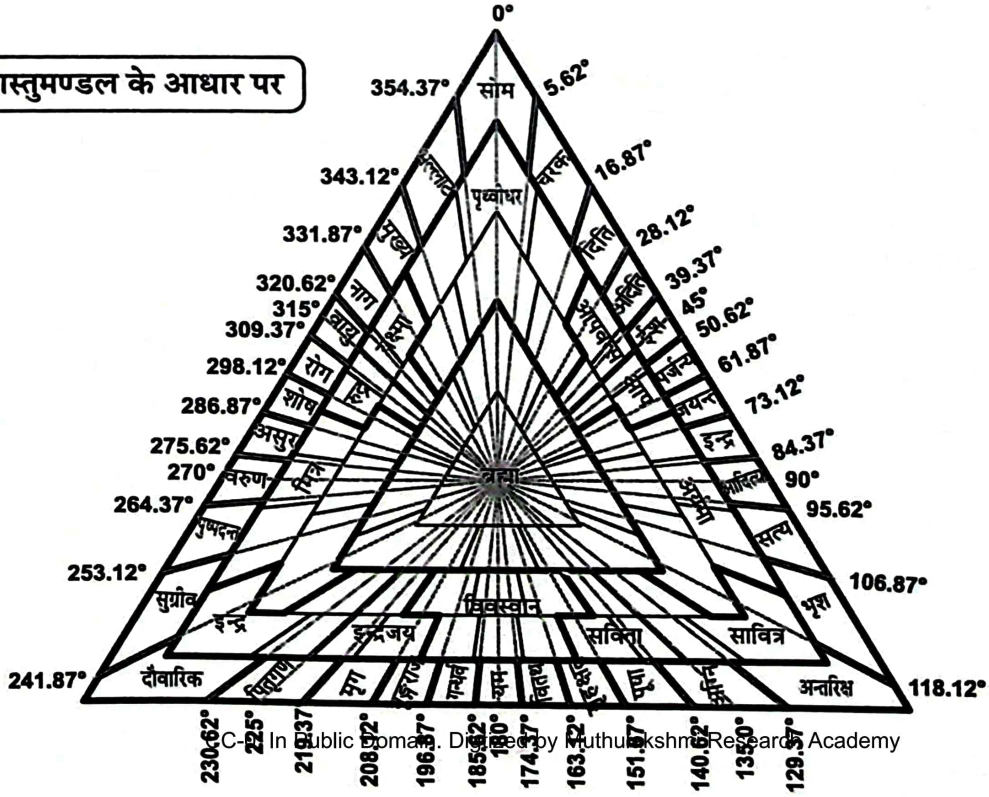

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy

पद	1 मानसार	2 मयमतम्	3 वास्तुविद्या	4 शिल्परत्न	5 ईशानशिव गुरुदेवपद्धति	6 मनुष्यालय चन्द्रिका
अन्त: संश्रयस्थ देवता						
1. मध्यपद के देवता	ब्रह्मा	शम्भू	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा
पूर्वादि चारों दिशाओं के अन्त: पदीय देवता						
2.	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	मारीचि	मारिची	अर्यमा
3.	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्
4.	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र
5.	भूधर	भूधर	महीधर	महीधर	महीधर	भूभृत
अन्त: कोणों के देवता						
6.	आप	आप	आप	आप	आप	आप
7.	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स
8.	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता
9.	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र
10.	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	महेन्द्र	इन्द्र	इन्द्र
11.	इन्द्रजय	इन्द्रराज	इन्द्रजय	इन्द्र	इन्द्रजय	इन्द्रजित
12.	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	शिव
13.	रुद्रजय	रुद्रजय	रुद्रजय	रुद्रजय	रुद्रजय	शिवजित
बहिसंश्रयस्थ देवता						
पूर्व दिशा में स्थित देवता						
14.	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश
15.	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य
16.	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त
17.	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	इन्द्र	शक्र	इन्द्र
18.	आदित्य	आदित्य	आदित्य	अर्क	अर्क	रवि
19.	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य
20.	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश
21.	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष
दक्षिण दिशा में स्थित देवता						
22.	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि
23.	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा
24.	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ
25.	गृहत्क्षत	राक्षस	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहरक्षत	गृहक्षत
26.	यम	यम	यम	यम	यम	यम
27.	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व
28.	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज
29.	वृष	मृष	मृग	मृग	मृग	मृग
पश्चिम दिशा में देवता						
30.	पितृगण	पितृगण	निर्ऋति	पितृगण	निर्ऋति	पितृ
31.	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	प्रतिहार
32.	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
33.	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त
34.	वरुण	जलाधिप	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण
35.	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर
36.	शोष	शोष	शोष	शोष	शोष	शोष
37.	रोग	रोग	रोग	रोग	पापयक्ष्मा	रोग
उत्तर दिशा में स्थित देवता						
38.	मरुत्	वायु	वायु	पवन	मरुत	अनिल
39.	नाग	नाग	नाग	भुजङ्ग	नाग	नाग
40.	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य
41.	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट
42.	सोम	सोम	सोम	निशाकर	निशाकर	इन्दु
43.	मृग	मृग	अर्गला	अर्गला	अर्गला	अर्गला
44.	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति
45.	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
काश्यप शिल्प	काश्यप संहिता	विष्णु संहिता	शारदा तिलक	तन्त्रराजतन्त्र	तन्त्रसमुच्चय	वास्तुमञ्जरी	ज्ञानरत्नकोष	अपराजित पृच्छा	वास्तु राजवल्लभ
ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा
समरी	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	मरीचि	मारीचि	अर्यमा
विवस्वान्	दण्डिधर	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्
मित्र	पाशभृत	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र
पृथ्वीधर	दण्ड	क्षितिभृत	महीधर	महीधर	महीधर	भूधर	भूधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर
आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप
आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स
सविता	सावित्री	सविता	सविता	सविता	सविता	सावित्र	सावित्री	सविता	सविता
सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सविता	सविता	सावित्र	सावित्र
इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	शर्क	शर्क	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र
ायन्त	इन्द्रजय	जयन्त	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	जय
रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र
रुद्रदास	रुद्रजय	राजयक्ष्मा	रुद्रजय	रुद्रजय	रुद्रजय	रुद्रराज	रुद्रदास	रुद्रदास	रुद्रदास
ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश
पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य
जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जय	जयन्त	जयन्त	जय
महेन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	शर्क	शर्क	इन्द्र	इन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	इन्द्र
आदित्य	आदित्य	सूर्य	भाष्कर	भाष्कर	सूर्य	सूर्य	रवि	आदित्य	सूर्य
सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य
भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश
अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	अम्बर	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	नभ	व्योम	अन्तरिक्ष	आकाश
अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	वह्नि	अग्नि	वह्नि	अग्नि	वह्नि
पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा
वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ
राक्षस	गृहत्क्षत	गृहक्षत	गृहरक्षक	गृहरक्षक	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत
यम	यम	धर्मराज	यम	यम	यम	यम	यम	यम	प्रेतपति
गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व
भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्ग
मृष	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग
निर्ऋति	निर्ऋति	पितृगण	निर्ऋति	निर्ऋति	पितृगण	पितृगण	पितृ	पितृगण	पितृ
दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	नन्दी
सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त
वरुण	वरुण	जलाधिप	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	प्रचीतस	वरुण	जलाधिप
असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर
शोष	शोष	शोष	शोष	शोष	शोष	शेष	शोष	शोष	शोष
पापक्षय	रोग	पापयक्ष्मा	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	पापयक्ष्मा	पापयक्ष्मा
वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	रोग	रोग
नाग	नाग	नाग	नाग	नाग	नाग	नाग	नाग	नाग	नाग
मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य
भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट
सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	कुबेर
ऋक	अर्गला	कुबेर	अर्गल	अर्गल	अर्गल	गिरी	चक्र	गिरी	शैल
अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति
दिति	सुरीदेवा	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27
प्रसाद मण्डन	वास्तु मण्डन	वास्तुसार	दीपार्णव	सुखानन्द वास्तु	अजितागम	पद्म संहिता	अग्नि पुराण	विश्वकर्माकृत वास्तुविद्या	प्रयोग पारजित	वास्तु होमविधि
ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा
मरीचि	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	मरीचि	मरीचि	अर्यमा	मरीचि	मरीचि
विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्
मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	अत्रि	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र
धराधर	पृथ्वीधर	विष्णु	पृथ्वीधर	महीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	धराधर	पृथ्वीधर	धराधर	धराधर
आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप
आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स
सविता	सविता	सावित्र	सविता	सावित्र	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता
सावित्र	सावित्र	सविता	सावित्र	सविता	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र
इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र
जयन्त	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	इन्द्रजय	जय	इन्द्रजय	जयन्त	जयन्त
रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र
रुद्रदास	रुद्रजय	रुद्रजय	रुद्रदास	रुद्रदास	जय	रुद्रजय	यक्ष्मा	रुद्रदास	रुद्रदास	रुद्रदास
ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश	ईश
धन्नजय	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	धन्नजय	पर्जन्य	धन्नजय	धन्नजय
जयन्त	जयन्त	जय	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जय	जयन्त	जयन्त
शक्र	शक्र	इन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	शक्र	इन्द्र	शक्र	शक्र
अर्क	भाष्कर	सूर्य	आदित्य	आदित्य	आदित्य	भाणु	अर्क	सूर्य	अर्क	अर्क
सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य
भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृगु	भृश	भृश	भृश	भृश
व्याम	अम्बर	नभ	अन्तरिक्ष	आकाश	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	व्योम	अन्तरिक्ष	व्योम	व्योम
वह्निवाह	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	हव्यवाह	अग्नि	हव्यवाह	हव्यवाह
पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा
वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	कृशभानु	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ
भौम	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहत्क्षत	भृहक्षत	भौम	गृहक्षत	भौम	भौम
कृतान्त	यम	यम	यम	यम	यम	यम	कृतन्ता	यम	कृतन्ता	कृतन्ता
गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व
भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्ग	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृश	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज
मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग
पितृगण	पितृ	पितृगण	पितृगण	पितृ	पितृगण	पितृ	पितृगण	पितृ	पितृगण	पितृगण
द्वारपाल	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	नन्दि	द्वारपाल	द्वारपाल
सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त
वरुण	जलाधिप	जलाधिप	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण	वरुण
दैत्य	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	भृश	दैत्य	असुर	दैत्य	दैत्य
शोष	शोष	शोष	शोष	शोष	शोष	यक्ष्मा	शोष	शोष	शोष	शोष
यक्ष्मा	यक्ष्मा	यक्ष्मा	पापयक्ष्मा	पापयक्ष्मा	पापयक्ष्मा	मनोज	यक्ष्मा	पापयक्ष्मा	यक्ष्मा	यक्ष्मा
रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग
नाग	नाग	अहि	नाग	नाग	नाग	नाग	अहि	नाग	अहि	अहि
मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य
भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट
सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	कुबेर	सोम	सोम
गिरी	शैल	गिरी	गिरी	शैल	ऋक	शैल	शैल	शैल	शैल	शैल
अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति
दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

28	29	30	31	32	33	34	35	36	37	38
समराङ्गण सूत्रधार	विश्वकर्म प्रकाश	बृहत्संहिता	नारद संहिता	वशिष्ठ संहिता	मानसोल्लास	मेरु तन्त्र	मत्स्य पुराण	भविष्य पुराण	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	गरुड पुराण
ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा
अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा	अर्यमा
विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्	विवस्वान्
मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र	मित्र
पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	सुमेरू	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर	पृथ्वीधर
आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप	आप
आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स	आपवत्स
सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सविता	सावित्री
सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सावित्र	सविता
इन्द्र	विवूधिपती	विवूधिपती	विवूधिप	विवूधिप	जय	इन्द्र	विबूधपती	इन्द्र	इन्द्र	जय
जय	जय	जय	जयन्त	इन्द्रजय	विवूधिप	जयन्त	जय	जयन्त	जय	विवूधिप
रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र	रुद्र
यक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा	यक्ष्मा	राजयक्ष्मा	राजयक्ष्मा
अग्नि	शिखी	शिखी	कृपिटयोनी	अग्नि	शिखी	ईश	शिखी	ईश	हुताशाना	ईश
पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य	पर्जन्य
जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	जयन्त	करग्रह	जय
इन्द्र	इन्द्र	इन्द्र	पाकशान	इन्द्र	कुलिशायुद्ध	इन्द्र	कुलीशायुद्ध	इन्द्र	महेन्द्र	कुलिशायुद्ध
रवि	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य	सूर्य	आदित्य	रवि	सूर्य
सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य	सत्य
भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृश	भृगु
नभ	अन्तरिक्ष	अन्तरिक्ष	आकाश	आकाश	आकाश	अन्तरिक्ष	आकाश	अन्तरिक्ष	गगण	आकाश
अनिल	वायु	अनिल	वायु	वायु	वायु	वात	वायु	अनिल	पवन	वायु
पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा	पूषा
वितथ	वितथ	वितथ	निऋति	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ	वितथ
गृहक्षत	गृहक्षत	भृहत्क्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	भृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षत	गृहक्षेत्र
यम	यम	यम	दण्डधर	पितृपति	यम	यम	यम	यम	यम	यम
गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व	गन्धर्व
भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृङ्गराज	भृश	भृङ्गराज
मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग	मृग
पितृगण	पितृ	पितृगण	पितर	पितृगण	पितृगण	पितृगण	पितृगण	पितृगण	पितृ	पितृगण
दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक	दौवारिक
सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	कुसुमदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त
जलेश्वर	वरुण	अम्बुधिप	जलाधिश	जलाधिप	जलाधिप	वरुण	वरुण	जलेश्वर	वरुण	जलाधिप
असुर	असुर	असुर	असुर	निशाचर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर	असुर
शोष	शोक	शोष	शोष	शोष	शोष	शोष	शोक	शोष	शोष	शोष
पापयक्ष्मा	पाप	पापयक्ष्मा	पाप	पाप	पाप	पापयक्ष्मा	पाप	पापयक्ष्मा	यक्ष	पाप
रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग	रोग
नाग	सर्प	अहि	भोगी	अहि	अहि	नाग	सर्प	नाग	नाग	अहि
मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य	मुख्य
भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट	भल्लाट
सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	सोम	शशि	सोम
चक्र	सर्प	भुजङ्ग	सर्प	सर्प	नाग	भुजङ्ग	सर्प	मृग	कुबेर	सर्प
अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति	अदिति
दैत्यमाता	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति	दिति

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नगरनिर्माणार्थ भूमि चयन

डॉ. सुधीर कुमार

नगर या ग्राम का निर्माण करने के लिए किस प्रकार का स्थान चयन किया जाए, इस विषय में वास्तुशास्त्र उपदेष्टा ऋषियों ने विविध नियमों, विधियों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड में और ब्रह्माण्ड में निवास करने वाले प्राणियों में एक विशेष प्रकार की समानता है। प्रकृति प्रदत्त पञ्चभौतिक सन्तुलन से ही प्राणियों में निरन्तर सक्रियता एवं स्फूर्ति रहती है। व्यक्ति अपने आवास में पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश का अधिकतम सदुपयोग कैसे करें? जिससे उसका जीवन रोगमुक्त, सुरक्षित तथा सर्वविध सुविधामय हो सके, अतः इस प्रयोजन को समझने के लिए पञ्चमहाभूत तत्त्वों में द्वितीय तत्त्व **'जल'** के विषय में जानना आवश्यक है। 'जल' ही जीवन का आधार है। वनस्पति एवं जीव-जन्तु दोनों समुदायों का जीवन जल से ही सम्भव है। पुरातन सभ्यताओं पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अधिकतर नगर या ग्राम किसी नदी जलाशय या समुद्र के तट पर ही बसे हुए थे। वैज्ञानिकों ने भी यही सिद्ध किया है कि जिस ग्रह पर जल है, वहीं जीवन सम्भव है। समस्त धरातल के लगभग दो-तिहाई (2/3)भाग में जल विद्यमान है जो सागर, नदी, झील, जलाशय या सरोवर के रूप में पाया जाता है। भौगोलिक विविधता एवं जलवायु को ध्यान में रखकर ही नगर व्यवस्था की जाती थी तथा भवन-निर्माण किए जाते थे। इसी सन्दर्भ में नगर व्यवस्था के साथ-साथ भवनों में निवास करने वाले वासियों को जल की उपलब्धि एवं आपूर्ति आदि विविध संसाधनों का विचार वास्तु-शास्त्र में निहित है। जीवन के आधारभूत तत्त्व जल का महत्त्व 'यजुर्वेद' में निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है– **'आपो हि ष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥'**[1] (हे जलों! तुम लोक की सुख को देने वाले बनो, तुम लोग हमें अपने रस के अनुभवार्थ स्थापित करो, तथा हमें रणणीय (रमणीय) ब्रह्म साक्षात्कार के योग्य बनाओ।), **'यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥'** (हे जलो! तुम्हारा जो शान्ततम (सुख का एकमात्र हेतु) रस है, उसे इस लोक में स्थित हम लोगों को प्राप्त कराओ (भागी बनाओ) जैसे कामना वाली प्रीतियुक्त माताएँ अपना स्तनरस बालकों को पिलाया करती हैं।), **'तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥'** (हे जलों! तुम से सम्बद्ध रस के विषय में हम सदा तृप्त होवें। जिस जगत् के आधारभूत (आहुति के

1. यजुर्वेद संहिता, ११.५०,५१,५२

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परिणाम भूत) रस के एकादेश से तुम ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त जगत् को तृप्त करते हो तथा हे जलों! हमें वहाँ तुम भोक्ता रूप में स्थापित करो।

वास्तुशास्त्र में जल की उपलब्धता को ध्यान में रख कर ही नगर, उपनगर, महानगर, भवन, देवालय एवं ग्राम का निर्माण किया गया है। 'बृहत्संहिता' में बताया गया है कि वनों, नदियों, पर्वतों एवं झरनों के समीप तथा बाग-बगीचों से युक्त नगरों के समीप देवता रमण करते हैं–

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु।

रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवस्तु च।।[2]

पुर तथा नगर में कूप के शुभाशुभ फल का विचार करते हुए कहा है कि यदि गाँव, नगर अथवा पुर के आग्नेय कोण में कूप हो तो इस गाँव या नगर में नित्य अनेक प्रकार का भय होता है। अधिकतर आग लगती है और मनुष्य भी जलकर मरते हैं। नैऋत्यकोण में कूप हो तो बालकों का क्षय और वायव्य कोण में स्त्रियों को भय होता है। शेष पाँच दिशाओं में शुभ होता है–

आग्नेये यदि कोणे ग्रामस्य पुरस्य वा भवेत् कूपः।
नित्यं स करोति भयं दाहं च समानुषं प्रायः।।
नैर्ऋतकोणे बालक्षयं च वनिताभयं च वायव्ये।
दिक्त्रयमेतत्त्यक्त्वा शेषासु शुभावहाः कूपाः।।[3]

जल की प्रशंसा में कहा गया है– "इष्ट कर्म (यज्ञ आदि) करने से एवं पूर्त (वापी, कूप, तडाग आदि) बनाने से मनुष्य को यश एवं धर्म की वृद्धि के साथ-साथ उत्तम लोक की भी प्राप्ति होती है।"[4] जिस जल से जीव अपना जीवन धारण करते हैं, उस जल के स्रोत, कुआँ अथवा जलाशय का निर्माण जो व्यक्ति पृथ्वी पर गाय के पैर के बराबर भी करता है वह 60 हजार वर्ष पर्यन्त स्वर्गलोक में सम्पूर्ण सुखों का उपभोग करता है यथा–

विधारितं जीवनमेव येन तद्गोपदैकेन समं पृथिव्याम्।

स षष्टिसंख्यं च सहस्रवर्षं स्वर्गलोकसौख्यान्यखिलानि भुङ्क्ते।।[5]

आचार्य वराहमिहिर ने जल की गुणवत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य शरीर में शिराएँ होती हैं उसी प्रकार भूमि में भी ऊँची-नीची शिराएँ होती हैं। आकाश से केवल एक वर्ण, रस तथा स्वाद वाला जल पृथ्वी पर गिरता है किन्तु वही जल भूमि की विशेषता

---

2. बृ० सं०, प्रासाद लक्षण, श्लोक -८
3. बृ० सं०, दकार्गलाध्याय, श्लोक -९७,९८
4. बृ० सं०, प्रासादलक्षण, श्लोक -२
5. वास्तुराजवल्लभः ४.३५

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

को धारण कर विभिन्न रूप एवं वर्ण वाला हो जाता है। अतः भूमि के वर्ण एवं रस के अनुरूप ही जल के रस और स्वाद का परीक्षण करना चाहिए।[6] भूमि के तत्त्व पर विचार करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है– 'पूर्व आदि आठ दिशाओं के क्रम से इन्द्र, अग्नि, यम, राक्षस, वरुण, वायु, चन्द्र और शिव स्वामी हैं। इन आठ दिक्पतियों के नाम से आठ (ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्यादि) शिराएँ प्रसिद्ध हैं। आठ शिराओं के मध्य में नौंवी शिरा 'महाशिरा' नाम वाली है। इनके अतिरिक्त भी सैंकड़ों शिराएँ हैं। पाताल से ऊपर की तरफ निकलने वाली शिरा और पूर्वादि चारों दिशाओं में स्थित शिराएँ शुभ होती हैं तथा अग्नि कोणादि विदिशाओं में स्थित शिराएँ अशुभ फल वाली होती हैं।[7] उपर्युक्त दिशाओं एवं जल शिराओं के अध्ययन के पश्चात् नगर एवं भवन में जल व्यवस्था हेतु प्रशस्त एवं अप्रशस्त दिशाओं का वर्णन इस प्रकार है[8]– **पूर्व** दिशा में जल व्यवस्था होने से ऐश्वर्य, वृद्धि, कोश वृद्धि, **आग्नेय** में पुत्र-हानि, धनहर, **दक्षिण** में होने से स्त्री-हानि, **नैर्ऋत्य** में मृत्यु, **पश्चिम** में सम्पत्ति-लाभ, **वायव्य** में शत्रु-पीड़ा, **उत्तर** में सुख, **ईशान** में पुष्टि तथा **गृह-मध्य** में जल व्यवस्था करने से अर्थ-नाश होता है।

भूमि चयन

वास्तु निर्माण योजना में 'भूमिचयन' एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। नगर निर्माण हेतु कैसी भूमि हो? कहाँ हो? किस दिशा में हो? शुभ या अशुभफल दात्री? इन सभी बातों का विचार भूमि चयन करते समय किया जाता है। वास्तुरत्नाकर में उल्लिखित है कि सर्वप्रथम ग्राम/नगर की अनुकूलता, देखकर तत्पश्चात् दिशा की अनुकूलता एवं भूमि की अनुकूलता का परीक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् ही पिण्ड, आय, वार, नक्षत्रादि का शास्त्रानुसार विचार करना चाहिए।[9] ग्राम व दिशा की अनुकूलता के सन्दर्भ में नाम की राशि से ग्राम/नगर की नामाक्षर राशि २, ५, ६, १०,११ इन संख्याओं में होने पर नगर में निवास अनुकूल होता है, निम्न चक्रानुसार अपनी राशि के अनुसार शुभ ग्राम दिशा वर्णित है[10]–

राशि नाम		शुभ ग्राम दिशा
कन्या	–	दक्षिण
कर्क	–	नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम)
धनु	–	पश्चिम

6. बृ० सं०, दकार्गलाध्याय, श्लोक १-२
7. वही ३-५
8. वास्तुमाणिक्य रत्नाकर से उद्धृत, गृहवास्तुप्रदीप्र पृ० ३५-३६
9. वास्तुरत्नाकर, भूमिपरिग्रहण प्रकरण, श्लोक सं.११
10. मुहूर्त चिन्तामणि १२/२

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तुला	-	वायव्य (पश्चिम-उत्तर)
मेष	-	उत्तर
कुम्भ	-	ईशान (उत्तर-पूर्व)
वृश्चिक	-	पूर्व
मीन	-	आग्नेय (दक्षिण-पूर्व)
वृष, मिथुन, सिंह, मकर	-	ग्राम मध्य

वर्ग काकिणी के अनुसार – व्यक्ति के नाम वाले वर्ग की संख्या को दोगुणा कर, नगर के नाम वाले वर्ग की वर्ग संख्या को जोड़कर, योगफल में आठ का भाग देने पर जो शेष बचेगा वह उस व्यक्ति की काकिणी संख्या होगी। इसी सूत्र का विपरीत करने पर नगर की काकिणी संख्या प्राप्त होती है- **स्ववर्गं द्विगुणं कृत्वा पुरवर्गेण योजयेत्। अष्टभिश्च हरेद्भार्गः योऽधिकः स ऋणी भवेत्॥**[11] यदि नगर की काकिणी संख्या व्यक्ति की काकिणी संख्या से कम हो तो वह नगर व्यवसाय या आवास की दृष्टि से अशुभ है। यदि नगर तथा व्यक्ति की काकिणी संख्या समान हो तो उस स्थान पर न लाभ होगा न हानि। वर्गबोधक तालिका का विवरण इस प्रकार है[12]–

वर्ग बोधक तालिका

वर्ग	वर्गनाम	वर्गाधिपति	वर्गाधीन वर्ण	वर्ग की दिशा
१.	अवर्ग	गरुड	अ,इ,उ,ए,ऐ,ओ,औ	पूर्व
२.	कवर्ग	मार्जार	क,ख,ग,घ,ङ	आग्नेय
३.	चवर्ग	सिंह	च,छ,ज,झ,ञ	दक्षिण
४.	टवर्ग	श्वान	ट,ठ,ड,ढ,ण	नैर्ऋत्य
५.	तवर्ग	सर्प	त,थ,द,ध,न	पश्चिम
६.	पवर्ग	मूषक	प,फ,ब,भ,म	वायव्य
७.	चवर्ग	मृग	य,र,ल,व	उत्तर
८.	शवर्ग	मेष	श,ष,स,ह	ईशान

वर्ग, राशि, दिशा आदि की अनुकूलता के उपरान्त नगर हेतु स्थान चयन करते समय भूमि

11. वास्तुरत्नाकर, १/२३

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

का ढलान देखना भी अनिवार्य है इसे 'भूमि प्लत्व' कहा जाता है। भूमि ढलान से अभिप्राय है कि चयनित भू खण्ड की ऊँचाई या ढलान किस दिशा में है? यह तथ्य भी कहीं न कहीं दिशा आदि से सम्बन्धित है। वास्तुशास्त्र प्रशस्त भूमि के लक्षण से प्रारम्भ होकर भूमि के आकार, प्रकार प्लवत्व, उच्चत्व, नीचत्व, भूमिपरीक्षण, भूमिलक्षण के विधानार्थ शुभाशुभ काल का निर्णय करता है तथा भूखण्ड चयन करने में सहायता करता है। आचार्य वराहमिहिर ने प्रशस्त भूमि का लक्षण बताते हुए कहा है– "जिस भूमि पर उत्तम औषधि, वृक्ष, लता उत्पन्न होते हों, मिट्टी मधुर, सुगन्धित, चिकनी एवं समतल हो, गति से रहित हो, जहाँ के वातावरण और भूखण्ड में परिश्रम से थके हुए प्राणी के शरीर को सुख शान्ति देने का सामर्थ्य हो, वहाँ पर क्षण भर के लिए बैठने पर भी लक्ष्मी प्राप्त होती है।"

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा स्निग्धा समान सुषिरा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।[13]

ऐसा प्रशस्त भूखण्ड ही वास्तुशास्त्र के अनुसार निवास योग्य, श्री, सुख और शान्ति प्रदायक होता है– **"मनसश्चक्षुषो यत्र सन्तोषो जायते भुवि। तस्यां कार्यम् गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।।"**[14]

भूखण्ड चयन में भूमि का ऊँचा नीचा होने का परीक्षण एवं दिशाओं के अनुसार लाभ हानि अनिवार्य एवं विचारणीय है। भूमि प्लवत्व में गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, भूमि लक्षणों सहित भूमि परीक्षण किया जाता है।[15]

भूखण्ड नाम	लक्षण	वास फल/अफल
गजपृष्ठ	दक्षिण पश्चिम नैर्ऋत्य एवं वायव्य में उच्च	लक्ष्मी एवं आयु के लिए शुभ है।
कर्मपृष्ठ	मध्य में उच्च एवं चारों ओर नीची	नित्योत्साह, धन-धान्य एवं विपुलता।
दैत्यपृष्ठ	पूर्व, अग्नि एवं ईशान में ऊँची, पश्चिम में नीची	लक्ष्मी, धन, पुत्र-हानि एवं शत्रुवृद्धि।
नागपृष्ठ	पूर्व पश्चिम में लम्बी,	मन का अशान्त एवं उच्चाटन

12. मु॰ चिन्तामणि, ६/३६
13. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय श्लोक ८८
14. वास्तुसार संग्रह, ३.१२
15. बृ॰ वा॰ मा॰, श्लोक ८२-८९, पृ॰ १६,१७,१८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तर दक्षिण में ऊँची होना, गृहपति की मृत्यु,
स्त्री-हानि, पुत्रनाश एवं शत्रुभय।

सारांशतः पूर्व की ओर ढलान वाली भूमि धन धान्य की वृद्धि करने वाली, पश्चिम की ओर ढाल वाली भूमि अर्थनाश कारक, उत्तर की ओर ढलान वाली भूमि धन सम्पति देने वाली एवं दक्षिण की ओर ढलान वाली भूमि मृत्युकारक होती है–

पूर्वप्लवा वृद्धिकरी उत्तरा धनदा स्मृता।
अर्थक्षयकरीं विद्यात् पश्चिमप्लवना ततः॥
दक्षिणप्लवना पृथ्वी नराणां मृतिदा भवेत्।
वारुणोच्चसमायुक्ता नीचमाहेन्द्र संयुता॥[16]

भूमि का ढलान उत्तर ईशान व पूर्व दिशा में **शुभ, सर्वकामना पूरक, आग्नेय कोण व दक्षिण दिशा में** धन, पुत्र नाश एवं दोष करने वाला, **नैर्ऋत्य व पश्चिम दिशा में** अशुभ, **मध्य में** रोगप्रद व सर्वनाश करने वाला होता है **मध्य में ऊँची एवं चारों तरफ ढलान वाली भूमि** ही निवास के लिए श्रेष्ठ होती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से भूमि का किसी दिशा में ऊँचा या नीचा होना, दिशानुसार शुभ या अशुभ होने का आधार उस दिशा से आने वाली सकारात्मक/नकारात्मक ब्रह्माण्डीय शक्ति ऊर्जा का उस भूखण्ड में प्रवेश करना है। अनियन्त्रित जनसंख्या वृद्धि के कारण आवास स्थान विस्तृत करना पड़ रहा है। स्थानाभाव के कारण कृषि भूमि को आवासीय भूमि में परिवर्तित कर प्रयोग किया जा रहा है। परिस्थिति वश भू-खण्डों की आकृति विभिन्न प्रकार की होती जा रही है। ये विभिन्न आकृतियाँ मानव शरीर, धन-धान्य, वंश, व्यवसाय आदि को भी कहीं न कहीं प्रभावित करती हैं। निर्माण हेतु प्रशस्त भूमि की आकृति आयताकार एवं चौकोर मानी गई है। वास्तुशास्त्र में वर्गाकार, आयताकार और वृत्ताकार भू-खण्डों को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि ये भू-खण्ड क्रमशः धन का लाभ, सर्वसिद्धिदायक एवं बुद्धि की वृद्धि करने वाले होते हैं–

आयते सिद्धयस्सर्वाश्चतुरस्त्रे धनागमः।
वृत्ते तु बुद्धिवृद्धिः स्याद्भद्रं भद्रासने भवेत्॥[17]

वास्तु निर्माण का मुख्य आधार भूमि है। भूमि जितनी निर्दोष, ठोस और विभिन्न प्रकार के शुभ लक्षणों से युक्त होगी, उस पर होने वाला नगर या भवन निर्माण भी उतना ही स्थायी, सुदृढ़ तथा सुखदायी होगी। उपजाऊ भूमि, जलाशयों युक्त भूमि, वृक्षों एवं वनस्पति से लहलहाती भूमि

---

16. वही ४१-४२, पृ० १०
17. बृ० वा० मा०, भूमेजीवितादिज्ञानम्, श्लोक ९०, पृ० १८

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सदैव चित को आनन्द प्रदान करने वाली होती है। मानसिक आह्लादकता ही भौतिक सुख दे सकती है।

विभिन्न परीक्षण विधियों द्वारा निवास योग्य भूमि उपयुक्त पाए जाने पर भूमि का शुद्धिकरण, मार्जन, गंगाजल द्वारा सिंचन, शल्य शोध में पाँच या छह फीट तक मिट्टी परिवर्तित करने अथवा गाय को भूखण्ड पर एक अहोरात्र बांधकर परीक्षण करने का विधान भी वास्तु ग्रन्थों में वर्णित है। शिलान्यास के समय गंगा-यमुना सरस्वती एवं महार्तीथों के जल से शिला सिञ्चन करना चाहिए - **'महानदीजलं शस्तं शुभतीर्थभवं तथा।'**[18] वास्तुदेवताओं का स्वस्तिवाचन करके, दीपक जलाकर यथेष्ट बलि देनी चाहिए- **'निवेद्य वास्तोष्पतये भूतेभ्यश्च ततो बलिम्।'**[19] भूमि अधिग्रहण के अन्तगर्त देवताओं को बलिकर्म प्रदान करने की विधि का भी विधान है[20]। सभी देवताओं को क्रम से साधारण बलि के रूप में शुद्ध भोजन, घी, दही, चावल व इत्र आदि समर्पित करें। देवताओं का आह्वान कर, नैवेद्य आदि से उनका अर्चन करना चाहिए। 'आहत्य बलि' में विभिन्न वर्गों के सभी देवताओं की विविध प्रकार के नैवेद्य से पूजा की जाती है और बलि प्रदान करके प्रसन्न किया जाता है। उपर्युक्त सामग्री के अभाव में अक्षत से पूजा मान्य होती है। गर्भ विन्यास विधि भी भूमि अधिग्रहण के लिए शुभ या अशुभ फल प्रदायक सिद्ध होती है। गर्भ विन्यास के लिए साधारणतः नींव की चौड़ाई, भवन के आधार के बराबर होनी चाहिए। तदनन्तर तीर्थो का जल, पत्थर, ईंट व मिट्टी की परत बिछाकर वास्तु चक्र एवं देवस्थापना करनी चाहिए। **'ॐ पृथिवीमूर्तये नमः। ॐ पृथिवीमूर्त्यधिपतये ब्रह्मणे नमः।'**[21] आदि मन्त्रोच्चारण से पूजन सम्पन्न करना चाहिए। वास्तु के बाह्य एवं मध्य में जो भी देवता हैं, उन सभी का विधिवत् पूजन करना ही कल्याणकारी होता है - **'सर्वान् सम्पूज्य विधिनैव पुरोहितः'**[22]।

अतः किसी भी नगर, ग्राम, या पुर के निर्माण के लिए उक्त विधियों द्वारा जल ज्ञान, जल स्रोत एवं जल व्यवस्था भूमिचयन एवं स्थान चयन और महत्त्वपूर्ण तथ्यों का प्रतिपादन वास्तुसम्मत निर्देशों के अनुसार ही करना चाहिए।

---

18. वास्तुसार संग्रह, द्वादशतम सोपानम्, श्लोक ५९
19. वही २१
20. वास्तुप्रबोधिनी, अध्याय-१३, पृ० ६७-६९
21. अग्निपुराण, अध्याय ६२.५४
22. वास्तुसार संग्रह, द्वादशतम् सोपानम्, श्लोक ५६

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शुल्बसूत्र एवं वास्तुशास्त्र में आधाराधेय सम्बन्ध

डॉ. सुन्दरनारायण झा

यह सर्वविदित है कि वेद विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान के स्रोत हैं। वेदशब्द के उच्चारण मात्र से ज्ञान-विज्ञान का ही बोध होता है, इसलिए शब्दविज्ञान के परम तपस्वी मर्मज्ञ अन्वेषक मुनि पाणिनि ने सर्वप्रथम विद्-ज्ञाने धातु से वेदशब्द की निष्पत्ति प्रस्तुत की है। ज्ञान एवं विज्ञान इन दोनों शब्दों में अभेदान्वय सम्बन्ध होते हुए भी दोनों को अलग-अलग इसलिए कहना पड़ता है क्योंकि दोनों में स्वरूप का भेद है। जैसा कि अमर सिंह ने कहा है- **मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।**[1] अर्थात् मोक्षप्राप्त्यर्थ ब्रह्मज्ञानादि में प्रवृत्त बुद्धि ज्ञान शब्द से बोधित है, तथा शिल्पादि शास्त्रों में प्रवृत्त बुद्धि विज्ञान का बोधक है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है- **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः**[2]। अर्थात् हे अर्जुन ! मैं तुम्हें विज्ञान के साथ ज्ञान प्रदान करता हूँ। तात्पर्य यह है कि भूख का अनुभव होना ज्ञान है किन्तु भूख मिटाने के लिए रसोई तैयार करना विज्ञान कहलाता है। वेदों में इन दोनों की समष्टि है, अतः ज्ञान-विज्ञान समन्वित कहा जाता है। ज्ञान की शाखा संक्षिप्त हो सकती है किन्तु विज्ञान की शाखा उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है। एक तत्त्व को मुख्य मान कर किया गया प्रयत्न ज्ञान तथा एक से अनेकत्व का बोध विज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ को विज्ञान एवं योग को ज्ञान कहते हैं। एक से अनेक होना यज्ञ है तथा अनेक से एक में अंतर्लीन हो जाना ही योग है।

वेदों में विज्ञान सम्बन्धी रहस्यों के स्पष्टीकरण हेतु यथार्थ प्रतिपादक शास्त्रों का समन्वय किया गया है। इसलिये वेद के स्वयं चार विभाग- मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् हैं तथा छः वेदाङ्ग कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त पुराणेतिहास, नीति, दर्शन, कला एवं विद्या आदि से सम्बन्धित समस्त शास्त्र उक्त वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। उक्त समस्त शास्त्रों का आधार वेद ही है। इसलिए मनु ने कहा है- **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[3]।

जिस प्रकार संसार के समस्त धर्मों का मूल वेद ही हैं, उसी प्रकार समस्त शिल्प शास्त्रों

---

1. अमरकोश, धीवर्ग, श्लोक- 6
2. गीता- 7-2
3. मनुस्मृति- 2-6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के आधार शुल्बसूत्र हैं ऐसा कहना क्वचिदपि अतिशयोक्ति नहीं होगी। षड्वेदाङ्गों में **हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते**[4] इस सिद्धान्त के अनुसार विज्ञानात्मक कर्म सम्पादनार्थ हाथ की आवश्यकता सर्वप्रथम होती है। हाथ के बिना कर्म संपादन नहीं होगा, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु विज्ञानजनित कर्म हाथ से ही होगा यह यथार्थ, सर्वमान्य एवं अनुभवसिद्ध है। इसलिए कल्प को हस्त की संज्ञा दी गयी। कल्पसूत्रों के चार विभाग हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र।

श्रौतसूत्र- श्रौतसूत्रों में श्रौतयज्ञों की विधियाँ बताई गई हैं।

गृह्यसूत्र- गृह्यसूत्रों में स्मार्त कर्मों की विधियाँ बताई गई हैं।

धर्मसूत्र- धर्मसूत्रों में आचार-विचार एवं व्यवहार की विधियाँ बताई गई हैं।

शुल्बसूत्र- शुल्बसूत्र में क्षेत्रविन्यास की विधियाँ बताई गई हैं।

शुल्बसूत्र का मुख्यावलम्बन स्थापत्यवेद है। स्थपति (**स्था+क**), तस्य पतिः स्थपतिः अर्थात् राजा, प्रभु, वास्तुकार, रथकार, अन्तःपुररक्षक, बृहस्पतियज्ञ करने वाला, सारथि, कुबेर, इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं। **यद्यपि ष्ठा गतिनिवृत्तौ**[5] धातु से स्था धातु एक जगह स्थिर रहने के अर्थ में प्रयुक्त है। उसी आधार पर गृह को वास्तु अर्थात् वासस्थान, निवासस्थान कहते हैं। दुनियाँ भर का कार्य करने के उपरान्त जीव जहाँ विश्राम हेतु स्थिर होता है वह स्था का अर्थ है। वह घर मात्र हो सकता है। उस घर का स्वामी स्थपति कहलाता है। इस प्रकार स्थपति का अर्थ होता है- घर में रहने वाला गृहस्थ। उससे सम्बन्धित वेद स्थापत्यवेद कहलाता है। स्थापत्यवेद अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। चरणव्यूह के अथर्ववेद-खण्ड में **सर्वेषामेव वेदानामुपवेदा भवन्ति ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो, यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः सामवेदस्य गान्धर्ववेद उपवेदोऽथर्ववेदस्य स्थापत्यवेद उपवेदः इत्याह भगवान् कात्यायनः।**[6]

स्थापत्यवेद में नगरनिर्माण, जनभवन, राजभवन, देवभवन, शय्यासन-रचना, आभूषण, आयुध, नानावर्गीय प्रतिमा, अनेक जातिक चित्रनिर्माण, बहुविध यन्त्ररचना आदि विविध स्थापत्य कौशलों का वर्णन किया गया है। ये सब विषय भारतीय वास्तुशास्त्र के उपजीव्य हैं। वास्तुशास्त्र ही स्थापत्यशास्त्र तथा शिल्पशास्त्र के नाम से जाना जाता है। शिल्प को ही कला कहा जाता है। कला के अन्तर्गत तीन विषय वर्णित हैं- वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र एवं चित्रशास्त्र जो स्थापत्य से सम्बन्धित हैं। वास्तुशास्त्र को 64 कला के अन्तर्गत गिना गया है। अतः यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित कलाविशेष है।

4. पाणिनीय शिक्षा, श्लोक- 41
5. पा.धा.- 928
6. चक्रव्यूहपरिशिष्टम्

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थापत्यवेद नामक उपवेद का षड्वेदाङ्गों में कल्पशास्त्रान्तर्गत शुल्बसूत्रों से साक्षात् सम्बन्ध है, चूँकि शुल्बसूत्रों में भूमिति विषयक सूक्ष्म विवेचन किया गया है। क्षेत्रविन्यास का अत्यन्त प्रामाणिक एवं आधारग्रन्थ शुल्बसूत्र ही है। यहाँ दिक्-साधन से आरम्भ कर क्षेत्रविन्यास की विविध पद्धतियाँ दी गई हैं। भारतीय भूमितिशास्त्र में चकबन्दी आदि प्रमुख क्रियाओं का मूल आधार शुल्बसूत्र ही है। भारतीय ज्यामितिशास्त्र का उद्भव भी यहीं से हुआ है।

तदनुसार वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार गृह, भवन, प्रासाद, आलय आदि के निर्माण से पूर्व की क्रियाएँ शुल्बसूत्र में वर्णित हुए हैं। अतः यह कहना कोई अनुचित नहीं होगा कि वास्तुशास्त्र का आधार शुल्बसूत्र हैं। क्योंकि शुल्बसूत्रों में जिन विधियों का वर्णन है उससे आगे का विवेचन वास्तुशास्त्र में उपलब्ध होता है। इस प्रकार पूर्वापर क्रिया सम्बन्ध के आधार पर यह सिद्ध होता है कि जिन सिद्धान्तों पर वास्तुशास्त्र खड़ा है उससे पूर्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन शुल्बसूत्रों में किया गया है।

वस्तुतः अङ्गादि से सम्पन्न पुरुष ही पुरुष तथा तदनुरूप अन्य पुरुष की कल्पना ही उपपुरुष होता है। इस लौकिक सिद्धान्त के आधार पर वेद अङ्गों सहित ही पूर्ण है। उस साङ्गवेद से ही उपवेदों की कल्पना सम्भव है। अतः यह कहना भी परम्परा से भिन्न नहीं होगा कि उपवेदों से पूर्व अङ्ग हुए। इस आधार पर शुल्बसूत्र जो वेद का हस्त-स्थानीय कल्पनामक वेदाङ्ग है, उससे स्थापत्यवेद का उद्भव या विकास माना जा सकता है। यद्यपि इतिहासकारों ने इस विषय में बहुत अधिक चिन्तन किया होगा, किन्तु समस्त चिन्तनों व सिद्धान्तों का आधार प्रमाण या तर्क ही होता है, इस सन्दर्भ में प्रमाण का सर्वथा अभाव है। अस्तु तर्क के बलाबल के आधार पर इस तथ्य को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होगा। तदनुसार वेदाङ्गों में प्रतिपादित स्थापत्य सम्बन्धी विषयों का विस्तार ही उपवेद का स्वरूप माना जाना चाहिए। जैसा की श्रुति कहती है- **एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः।**[6]

इस श्रौतवचन के अनुसार साङ्ग सकल्प सरहस्य सब्राह्मणादि वेद की उत्पत्ति प्रदर्शित है। इस साङ्गवेद से उपवेद कल्पित हुए यह तथ्य सामने आता है।

उक्त विवेचनों से यह सिद्ध होता है कि वेदों के अन्तर्गत उपवेदों की उपस्थिति होने के कारण उपवेद भी वेदवत्पूज्य एवं आदरणीय हैं। वेद अङ्गों के साथ ही परिपूर्ण हैं, अतः अङ्गों से युक्त वेद से उपवेद की उत्पत्ति ही सर्वमान्य है। वेदाङ्गों में जिन तथ्यों का प्रकाशन हो चुका है उससे आगे के क्रम को कहे जाने से भी यह स्पष्ट होता है। वेदाङ्ग कल्पशास्त्र के अन्तर्गत

6. गोपथब्राह्मणे- 1-2-10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शुल्बसूत्रों में मण्डलाकार भूमि को चतुरस्र, चतुरस्र को मण्डलाकार, आयताकार को चतुरस्रादि तथा त्रिकोणादि भूमियों को चतुरस्रादि में परिवर्तित करने की विधियाँ बताई गई हैं।

वास्तुशास्त्र में सर्वप्रथम भूमि परीक्षण का क्रम आरम्भ होता है। वासयोग्य भूमि कैसी हो? इस पर चिन्तन किया गया है। भूमि चौकोर समतल हो इत्यादि निर्देश किया गया है। यदि भूमि तिरछी हो तो उसे चोकोर कैसे बनाएँ? एतदर्थ शुल्बसूत्र की आवश्यकता पड़ेगी ही। इन समस्त तर्कों एवं प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वास्तुशास्त्र का आधार शुल्बसूत्र हैं। इन दोनों में परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध है।

शुल्बसुत्रों में वर्णित कतिपय भूमिति सम्बन्धी सिद्धान्त

चतुस्राकार भूमि को वृत्ताकार में परिवर्तित करने का नियम-

चतुस्रं मण्डलं चिकीर्षन् मध्यादंसे निपात्य पार्श्वतः परिलिख्य तत्र यदतिरिक्तं भवति तस्य तृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत्स समाधिः॥[7]

चतुस्राकार क्षेत्र को वृत्ताकार में बदलने हेतु चतुर्भुज के मध्य अर्थात् केन्द्रबिन्दु के ऊपर से कोणों को काटने वाली रेखा खीचें उस के बाद केन्द्र से भुजा की ओर एक सीधी रेखा खींचें। केन्द्र से भुजा तक खींची गई रेखा को कर्ण (अक्ष्णया) अर्थात् कोणों को काटने वाली रेखा पर रखें। भुजार्द्धमान की रेखा अक्ष्णया को जहाँ काटे वहाँ एक चिह्न दें। उस चिह्न से कोण की ओर जितने मान की रेखा बचे उसे तीन समान भागों में बाँट दें। उसमें से तृतीय अंश को भुजार्द्ध मान में मिला दें। उस के बाद जो रेखामान प्राप्त हो उसे व्यासार्द्ध मानकर वृत्त खींचें। इस वृत्त का क्षेत्रफल पूर्वोक्त चतुर्भुज के क्षेत्रफल के बराबर होगा। उदाहरण-

प्रस्तुत चित्र सं-1 में अ-ब-स-द समचतुरस्र है, जिसके चारों भुजाओं का मान 13-13 है।

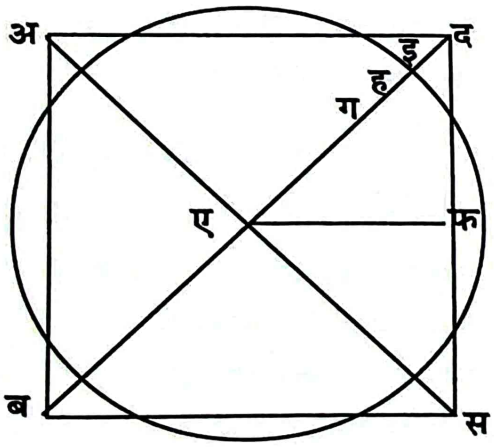

समचतुरस्र को ही गणितीय भाषा में वर्ग कहते हैं। वर्ग का क्षेत्रफल= भुजा^{2} होता है। तदनुसार 13^2 =13×13=169 हुआ। सचतुरस्र के अ-स एवं ब-द दोनों कोणों को मिलाने वाली कर्ण (अक्ष्णया) रेखा चतुरस्र के मध्यभाग को जहाँ काटती है, वह बिन्दु चतुरस्र का केन्द्र ए द्वारा चिह्नित है-

7. कात्यायन शुल्बसूत्र- 3-13

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ए-फ भुजार्द्धमान = 6.50 है। कर्ण^2 (अक्ष्णया रेखा) का मान= भुजा^{2}+ भुजा^{2} होता है। तदनुसार 13^2+ 13^2= 169+169= $\sqrt{338}$ = $13\sqrt{2}$ हुआ। 338 का वर्गमूल निकालने पर 18.384776310 मान प्राप्त हुआ। इस मान को दो भागों में विभाजित करने पर 18.384776310÷2= 9.192388155 यह ए-द कर्णरेखार्द्ध (अक्ष्णयार्द्ध) मान है - शुल्बसूत्रोक्त नियमानुसार कर्णरेखार्द्ध मान में भुजार्द्ध मान घटाने पर 9.192388155-6.50= 2.692388155 भुजार्द्ध मान के अतिरिक्त मान प्राप्त हुआ, जो ग बिन्दु द्वारा द्योतित है। ग चिह्न से द चिह्न तक का यह शेष मान 2.692388155 है। उक्त मान को तीन भागों में विभाजित किया तो 2.692388155÷3= 0.8974627183 शेष का तृतीयांश प्राप्त हुआ, तीनों भागों को प्रदर्शित करने के लिये ग से द तक दो बिन्दु ह एवं इ डाला गया है। इस मान को भुजार्द्धमान में मिलाने पर 6.50.8974627183= 7.3974627183 प्राप्त हुआ, जो कर्णार्द्धरेखा पर ए एवं ह द्वारा प्रदर्शित है। उक्त मान के व्यासार्द्ध से खींचा गया वृत्त (मण्डल) का क्षेत्रफल समचतुरस्र के क्षेत्रफल के समान होगा। सम्प्रति इस कथन को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यथा-

पैथागोरस ने वृत्त का क्षेत्रफल= π r^2 **कहा है।** π का मान उन्होंने $\frac{22}{7}$= 3.14 दिया है उससे शुल्बसूत्रोक्त गणितीय प्रक्रिया का हल नहीं हो पा रहा है।

जैसे- 3.14 × 7.3974627183 × 7.3974627183= 171.82850765 हुआ। ध्यातव्य हो कि वर्ग का क्षेत्रफल 169 है। इन दोनों में बहुत अधिक अन्तर आ रहा है। अत: यहाँ सबसे पहले पाइ का मान सिद्ध करना आवश्यक प्रतीत होता है, फलत: एतद्विषयक तर्क विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का दुस्साहस मात्र कर रहा हूँ।

परिधि/व्यास (पाई) का मान

पाइ π एक संकेताक्षर है। यह अक्षर ग्रीक भाषा का है। भारतवर्ष में पाई को परिधि/व्यास के नाम से जाना जाता था। अर्थात् परिधि/व्यास (पाई) के सन्दर्भ में विस्तृत सटीक गणितीय चर्चा शुल्वसूत्रों में उपलब्ध होती है। शुल्वसूत्रों में वर्ग के बराबर वृत्त बनाने के प्रसंग में परिधि/व्यास (पाई) के मान की चर्चा अन्तर्निहित है। जैसा कि बौधायन के वृत्त को वर्ण और वर्ग को वृत्त में परिणित करने के नियम में निम्न सूत्र का उपयोंग किया है जिसमें पाई का मान 3.0984 के आसन आता है। यथा–

मण्डलं चतुरश्रं चिकीर्षन्विष्कम्भमष्टौ भागान् कृत्वा भागनेकोनत्रिंराधा विभज्याष्टाविंशति भागानुद्धरेद् भागस्य च षष्टमष्टभागेनम्।[8]

8. बौधायन शुल्बसूत्र 1/59 उद्धृत प्राचीन भारत में रेखागणित शोधप्रभा जुलाई-जनवरी 2006

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् परिधि/व्यास (पाई)= $4 \times \left(1 - \frac{1}{8} + \frac{1}{8+29} + \frac{1}{8x29x28} + \frac{1}{8x29x6x8}\right)^2$

=3.0984 शुल्वसूत्र काल में पाई (π) का मान दशमलव के एक स्थान तक स्पष्टरूप में ज्ञात हो गया था। इसी आधार पर वर्ग एवं वृत्तक्षेत्रों के क्षेत्रफल परिणित होते थे। इसी प्रकार मानव शुल्व सूत्र में भी बताया गया है कि 2 हाथ का वर्ग, 1 हाथ 3 अंगुल के व्यासार्द्ध से बने वृत्त के बराबर होता है। इसको गणितीय भाषा में इस प्रकार लिखा जा सकता है–

24 अंगुल = 1 हाथ

1 हाथ, 3 अंगुल $= 1\frac{3}{24} = 1\frac{1}{8} = \frac{9}{8}$

$2^2 = \Pi \left(\frac{9}{8}\right)^2$

$\Pi = 4 \left(\frac{8}{9}\right)^2$

$\Pi = 8 \text{ x } \frac{64}{81} = 3.16049$

इसके पश्चात् आर्य भट्ट ने 499 ई. ने पाई का सूक्ष्मतम मान 3.1416 निकाला जो यहाँ तक के पाई के मानों में सर्वाधिक सूक्ष्म और सटीक था। यथा–

चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम्।
अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्त परिणाह।।[9]

परिधि/व्यास (π) के मान 3.0984 पूर्ण रूप से शुल्बसूत्रोक्त विधि में स्वीकार करने पर शुल्बसूत्रोक्त प्रक्रिया पूर्णरूपेण घटित होती है, जिसका प्रदर्शन चतुरस्र को मण्डल में बदलने की विधि एवं मण्डल को चतुरस्र में बदलने की विधि के वर्णन द्वारा प्राप्त किया गया है।

वृत्त का व्यासार्द्ध (r) = 7.3974627183

वृत्त का क्षेत्रफल = πr2

तदनुसार 3.0984 × 7.3974627183 × 7.3974627183 =

---

9. आर्यभट्टीयारम् म.पा.श्लोक 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

169.5520535453 मान प्राप्त हुआ जो वर्ग के क्षेत्रफल के आसन्न है। अतः स्वल्पान्तरात् गणितीय नियम के अनुसार ग्राह्य है।

इसी तरह मण्डलाकार भूमि को चतुरस्राकार में बदलने के लिये महर्षि कात्यायन ने अधोलिखित नियम प्रतिपादित किया है। यथा-

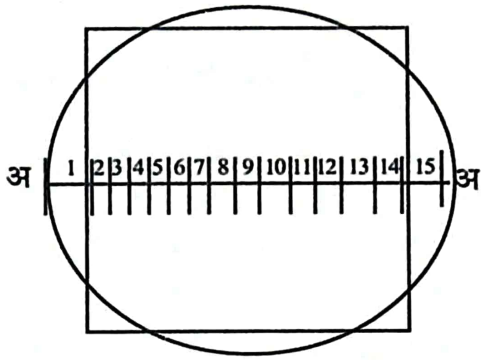

मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् विष्कम्भं पञ्च-दशभागान् कृत्वा द्वावुद्धरेच्छेषः करणी।।[10]

वृत्त के व्यास को पन्द्रह समान भागों में विभाजित करें। दो भागों को छोडकर शेष तेरह भाग के मान को करणी (भुजा) मानकर विन्यस्त समचतुरस्र का क्षेत्रफल वृत्त के क्षेत्रफल के समान होगा। उदाहरण-

चित्र सं-1 में समचतुरस्र के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल के बने वृत्त का व्यासार्द्धमान= 7.3974627183 है। वृत्त का व्यास= व्यासार्द्ध × 2 अर्थात् 7.3974627183 × 2 = 14. 794925436 हुआ। यहां भी दशमलव के बाद का अङ्क अर्धाधिक है अतः पूर्ण ग्रहण करने पर 15 अङ्क प्रात हुआ। चित्र सं- 2 में विन्यस्त वृत्त का व्यास 15 है। इसे पन्द्रह समान भागों में विभाजित कर दोनों ओर से एक-एक भाग छोड़कर शेष 13 को ग्रहण किया।

13 को करणी मानकर विन्यस्त समचतुरस्र (वर्ग) की प्रत्येक भुजा का मान 13 है। इस प्रकार वर्ग का क्षेत्रफल= भुजा^{2} अर्थात् (भुजा × भुजा) 13 × 13 = 169 सिद्ध हुआ।

उक्त विवरणों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि शुल्बसूत्रों में ज्यामिति पर आधारित भूमिति शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। उक्त ज्ञान के अभाव में वास्तुसम्बन्धी सूक्ष्मविचारों को समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य होगा। वास्तु के तत्त्वों को सम्यक्तया समझने के लिये शुल्बसूत्रोक्त प्रक्रिया का ज्ञान परमावश्यक है। यह तो सर्वविदित ही है कि गृहनिर्माणादि विषय वास्तुशास्त्र में प्रतिपादित हैं किन्तु गृह निर्माण से पूर्व वास्तुशास्त्रकारों ने भू-परीक्षण का विधान बतलाया है। भू-परीक्षण के अन्तर्गत शुल्बसूत्रोक्त दिशा साधन से लेकर भूमि विन्यास तक की समस्त विधियां आवश्यक रूप से विचारणीय होंगे। इन समस्त साक्ष्यों प्रमाणों तर्कों तथा विधियों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि वास्तुशास्त्र का आधार शुल्बसूत्र है अतः कह सकते हैं कि इन दोनों में आधाराधेय सम्बन्ध है।

---

10. कात्यायन शुल्बसूत्र- 3-14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मर्म स्थान

डॉ. शिवाकान्त मिश्र

भारत में वास्तुशास्त्र की परम्परा वैदिक काल से लेकर आज तक अविरत रूप से चली आ रही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, आरण्यक, ब्राह्मणग्रन्थ तथा गृह्यसूत्रों में मानव जाति के कल्याणार्थ वास्तुपरक अमूल्य सिद्धान्त वर्णित हैं। भारतीय संस्कृति के संरक्षक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आरण्यक, ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषदादि सभी ग्रन्थों की भाषा देववाणी होने के कारण यह सामान्य लोगों के समझ एवं प्रयोग से बाहर होती गयी। इन समस्याओं को दूर करने के लिये ऋषियों ने षड्वेदाङ्गों की रचना की, जिसका मूल उद्देश्य था वेदों को समझना तथा वेदों में निहित ज्ञान को प्रायोगिक रूप देना। वेदाङ्गों की संख्या छः हैं[1]–1. शिक्षा, 2. कल्प, 3. व्याकरण, 4. ज्योतिष, 5. निरुक्त एवं 6. छन्द। वेदाङ्गों में सर्वाधिक महत्त्व ज्योतिषशास्त्र का है इसे कालविधानशास्त्र और वेद पुरुष का नेत्र कहा जाता है। जिस प्रकार एक मानव नेत्र के बिना किसी भी कार्य को करने में असमर्थ होता है ठीक उसी प्रकार ज्योतिशास्त्र के बिना वेद के द्वारा विहित कर्म का सम्पादन सम्भव नहीं है[2]। वेद का मुख्य कार्य यज्ञ का सम्पादन करना है तथा यज्ञ का आधार ज्योतिषशास्त्र है[3]। ज्योतिषशास्त्र न केवल समय का निर्धारण करता है अपितु स्थान एवं दिशा का भी निर्धारण करता है क्योंकि यदि यज्ञ का स्थान उचित नहीं होगा तो यज्ञ का फल कर्ता के स्थान पर किसी और को मिल जायेगा अर्थात् स्थान के स्वामी को यज्ञ का पूरा फल प्राप्त होगा[4]। इससे यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ के लिये घर परमावश्यक है। गृह निर्माण से पूर्व अनेक विचारणीय बिन्दु होते हैं जिनका विचार करना आवश्यक होता है जैसे–काकिणी विचार, भूमि प्लवत्व विचार, भूमि परीक्षण, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक विचार, पिण्डज्ञानादि। इन बिन्दुओं

---

1. शब्दशास्त्रं मुखं ज्यौतिषं चक्षुषी क्षोत्रमुक्तं निरुक्तञ्च कल्पः करौ।
   या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः।। सि.शि.ग्र.ग.का.मा.श्लो.10
2. वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्योतिषं मुख्यता चाऽङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
   संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः।। सि.शि.ग्र.ग.का.मा.श्लो. 11
3. वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
   शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्।। सि.शि.ग्र.ग.का.मा.श्लो. 9
4. परगेहे कृताः सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
   निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।। वास्तुरत्नाकर, भूपरिग्रहप्रकरण, श्लो. 8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के विधिवत् परीक्षण के उपरान्त शुभमुहूर्त में गृहनिर्माण के निमित्त शिलान्यास किया जाना चाहिए।

गृहनिर्माण के समय गृह में मर्मस्थान का विशेष विचार किया जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर स्थित मर्म की सुरक्षा जीवन के लिये आवश्यक होती है ठीक उसी प्रकार से सुखमय जीवन यापन के लिये मर्मस्थान को बाधा से मुक्त रखना आवश्यक होता है। मर्म का शाब्दिक अर्थ किसी भी अंग का सन्धि स्थान होता है। आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर में 107 मर्म स्थान होते हैं, जहाँ आघात लगने पर असह्य पीड़ा अथवा मृत्यु हो सकती है। मानव शरीर में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अति मर्म हृदय, शिर एवं वस्ति हैं। ये मुख्यत: त्रिमर्म कहलाते हैं। ठीक इसी प्रकार वास्तुपुरुष का भी मर्म विचार किया गया है[5]। बृहत्संहिता में आचार्य वराहमिहिर ने पदों के ठीक मध्य स्थान में वंशों (कोण से कोण तक गत सूत्रों) का परस्पर जो सम्पात होता है उसे मर्म स्थान कहा है[6], इसी प्रकार वास्तुसौख्यं नामक ग्रन्थ में आचार्य टोडरमल्ल ने मर्म स्थान के सम्बन्ध में कहा है–

सम्पातानां वंशानां मध्यानि यानि च पदानाम्।
तानि मर्माणि विद्यान्न तानि परिपीडयेत् प्राज्ञः॥[7]

ईशान से नैऋत्य एवं वायव्य से अग्निकोण तक कर्णाकार विस्तृत सूत्रों का सम्पात् जिस पूर्वापर रेखा व कोष्ठ से होता है, वह रेखा, सम्पात् स्थान व कोष्ठ-संपात् स्थान सभी वास्तु-पुरुष के मर्म स्थान हैं। समराङ्गणसूत्रधार के निर्माता ने स्पष्ट किया है कि मर्म वेध का विचार प्रधानतया तीन वास्तुपदों में किया जाना चाहिए[8]–1. इक्यासी पद वास्तु (9X9=81), 2. शत पद वास्तु (10X10=100), 3. चौंसठ पद वास्तु (8X8=64)। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के भवनों, राजप्रासादों, वेश्म-हवेलियों, इन्द्रस्थान इत्यादि के निर्माण में इक्यासी पद वास्तु का प्रयोग करना चाहिए। प्रसाद, देवमन्दिर तथा उसके अनुरूप चित्र-विचित्र प्रकार के मण्डपों के निर्माण में शत पद वास्तु का प्रयोग करना चाहिए। राजा के शिविर, ग्राम, खेट और नगर के निर्माण में चौंसठ पद वास्तु का प्रयोग वास्तुविदों को करना चाहिए[9]।

---

5. मर्मशतं सप्तोत्तरमत्र प्रहारात् रुजा च मृत्युश्च।
   हृदयं शिरश्च वस्तिः मर्मत्रयमेतदुपदिष्टम्।। षोडशाङ्गहृदयम्, शारीरम्, श्लो. 24
6. सम्पाता वंशानां मध्यानि यानि च पदानाम्।
   मर्माणि तानि विन्द्यान्न तानि परिपीडयेत्प्राजः।। बृ.सं. वास्तुविद्याध्याय, श्लो. 57
7. वास्तुसौख्यम्, अष्टम भाग, श्लो. 305, पृ. संख्या 104
8. एकाशीतिपदो यः स्यात् तथा शतपदश्च यः।
   चतुः पष्ठिपदो यश्च वास्तुरत्र त्रिधोदितः।। समराङ्गणसूत्रधार, अ. 13, श्लो. 1
9. वर्णानां भवनादीनि निवेशा राजवेश्मनाम्।
   नरेन्द्रशिबिरग्रामखेटादि नगरादि च।। स.सू.अ. 13, श्लो. 3-5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

1. वास्तु पुरुष का शरीर विभाग–

वस्तुतः वास्तुपुरुष एक ही है किन्तु उसे संस्थान के अनुसार बहुरूपों में परिकल्पित किया जाता है। गृह निर्माण से पूर्व भूमि पर वास्तु पुरुष के शरीर की कल्पना कर गुण दोषों का विचार करना चाहिए। वास्तु पुरुष की रचना में क्रमशः पहले मुख, दो कान, दो आँख, तालु, ओष्ठ, दन्त, वक्ष, कण्ठ, दो स्तन, नाभि, मेढ्र, दो अण्डकोष, गुदा, दो बाहु एवं दो प्रबाहू, दो हथेलियाँ, स्फिक्, दो ऊरु, दो जंघा एवं महावंश ये सभी वास्तु की पुरुषाकृति बनानी चाहिए[10]। सिराएँ, वंश, अनुवंश, संधि, अनुसंधियाँ, मर्म एवं महावंश ये सभी वास्तु की पुरुषवत् आकृति के अङ्ग में विभक्त माना गया है[11]।

2. वंश, अनुवंश, सूत्र, मर्म, अतिमर्म एवं शिरादि का लक्षण–

समराङ्गणसूत्रधार में भवन के सन्दर्भ में चार प्रकार के मर्मदोष कहे गये हैं–1. सशल्य (जिसमें हड्डी आदि दबी हों) 2. पादहीन (नीचे जो क्षीणकाय हो) 3. समसन्धि (जिसमें एक समान सन्धि हो जैसा कि ईंट पर उसी आकार के ईंट की चिनाई की गई हो) और 4. शिरोगुरु (ऊँचाई या मोटाई) इत्यादि[12]। रोग से वायु तक, पिता से शिखी तक, वितथ से शोष तक, मुख्य से भृश तक, जयन्त से भृङ्ग तक और अदिति से सुग्रीव तक सूत्र बांधे, इन सूत्रों के परस्पर नव सम्पात स्थान वास्तुपुरुष के अतिमर्म स्थान हैं। ये नव स्थान मध्य कोष्ठ के ब्रह्म स्थान में ही होते हैं। अतः प्राचीन परम्परानुगत आँगन गृह के मध्य भाग में होना चाहिए जो किसी प्रकार के उपोद्घात से रहित हो। जैसा कि कहा गया है[13]–

रोग से वायु तक, पिता से शिखी तक, वितथ से शोष तक, मुख्य से भृश तक, जयन्त

---

10. एक एव पूमानेषु बहुधा परिकल्पितः।
कल्पयेदेवतमतेन स भवेत् पुरुषाकृतिः।। स.सू.अ.12, श्लो. 21-23

11. सिरावंशानुवंशाश्च सन्धयः सानुसन्धयः।
मर्माण्यथ महावंशा लक्ष्म्या वास्तुशरीरगाः।। स.सूत्रधार, अ.12, श्लो. 24

12. स.सू.अ. 48, श्लो. 20

13. रोगाद्वायुं पितृतो हुताशनं शोषसूत्रमपि वितथात्।
मुख्याद् भृशं जयन्ताच्च भृंगमदितेश्च सूग्रीवम्।।
रोगाद्वायुं नयेत् सूत्रं पितृतोऽथ हुताशनम्।
एतत् सूत्रद्वयं प्रोक्तं मुनिभिवंशसंज्ञितम्।।
वितथाच्छोषकं चान्यद्भृशं मुख्यात्तथा नयेत्।
जयन्ताद् भृगंराजाख्यं सुग्रीवमदितेस्तथा।।
एतच्चतुष्टयं प्रोक्तं रज्जुसंज्ञं मनीषिभिः।।
बृ.सं.वास्तुविद्याध्याय, श्लो.63-64, पृष्ठ संख्या 339

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से भृङ्ग तक और अदिति से सुग्रीव तक इन (6) सूत्रों की वंश संज्ञा, तथा कर्णाकार रेखाएँ अनुवंश संज्ञक होती है। वास्तु विभाग के लिये एकाशीति पद वास्तु वा चतु:षष्ठि पद वास्तु में पूर्वापरा तथा दक्षिणोत्तरा दश-दश रेखाएँ एवं नौ-नौ रेखाएँ की गयी हैं उनकी शिरा संज्ञा होती है। एकाशीति पद वास्तु में स्थित पूर्वापरा दश शिराओं के नाम[14] 1. शान्ता, 2. यशोवती, 3. कान्ता, 4. विशाला, 5. प्राणवाहिनी, 6. सती, 7. सुमाना, 8. नन्दा, 9. सुभद्रा एवं 10. सुरथा हैं। एकाशीति पद वास्तु में स्थित दक्षिणोत्तरा दश शिराओं के नाम[15] 1. हिरण्या, 2. सुव्रता, 3. लक्ष्मी, 4. विभूति, 5. विमला, 6. प्रिया, 7. जया, 8. काली, 9. विशोका, 10. ऐन्द्रा हैं। चतु:षष्ठि पद वास्तु में स्थित पूर्वापरा नौ शिराओं के नाम[16] 1. श्रिया, 2. यशोवती, 3. कान्ता, 4. सुप्रिया, 5. परा, 6. शिवा, 7. सुशोभा, 8. सन्धिनी एवं 9. ईभा हैं। चतु:षष्ठि पद वास्तु में स्थित दक्षिणोत्तरा नौ शिराओं के नाम[17] 1. धान्या, 2. धरा, 3. विशाला, 4. स्थिरा, 5. रूपा, 6. गदा, 7. निशा, 8. विभवा एवं 9. प्रभवा हैं।

रोग	नाग	मुख्य	भल्लार	सोम	चरक	अदिति	दिति	शिखी
राजयक्ष्मा								पर्जन्य
शोष								जयन्त
असुर								इन्द्र
वरुण								सूर्य
प्रियापुष्पदन्त								सत्य
सुग्रीव								भृश
दौवारिक								नभ
पितर	मृग	भृंगराज	गन्धर्व	यम	गृहक्षत	वितथ	पूषा	अनिल

14. शान्ता यशेवती कान्ता विशाला प्राणवाहिनी।
सती च सुमना नन्दा सुरथा तथा।। वा. सौख्यम, अ. 8, श्लो. 313

15. पूर्वापरायता ह्येता उदग्याम्याश्रिता शृणु।
हिरण्या सुव्रता लक्ष्मीर्विभूतिर्विमला प्रिया।।
जया काली विशोका च तथेन्द्रा दशमी स्मृता।
एकाशीतिपदे ह्येता: शिराश्च परिकीर्तिता:।। वास्तु सौख्यम, अध्याय, 8, श्लो. 314, 315, पृ.

16. श्रिया यशोवती कान्ता सुप्रियाऽपि परा शिवा।
सुशोभा सन्धिनी ज्ञेया तथेभा नवमी स्मृता।। वास्तु सौख्यम, अध्याय 8, श्लो. 316, पृ. 107

17. पूर्वापरायता ह्येताश्चतु:षष्ठिपदे स्थिता:।
धान्या धरा विशाला च स्थिरा रूपा गदा निशा।।
विभवा प्रभवा चान्या सौम्ययाम्याश्रिता: शिरा:।। वास्तु सौख्यम, अध्याय 8, श्लो. 317, पृ. 107

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तु में एक पाद का विस्तार जितने हाथ हो, उतने अंगुल एक वंश का विस्तार और विस्तार से ड्योढ़ा शिरा का विस्तार होता है[18]। वंशाकार रेखाओं का परस्पर संपात् मर्मस्थान कहलाता है। वंशानुवंशों का जो भाग पद के मध्य में आयेगा उसे उपमर्म कहते हैं। उपमर्म का मान पद के आठवें, दसवें, बारहवें व सोलहवें भाग के बराबर होता है[19]। वंशादि का मान पदमाप के अनुरूप ही होता है। आठों वंशो की सन्धियाँ ही उन वंशो की सन्धियाँ कही जाती है। उन वंशों के अन्तर्गत जो सन्धियाँ हैं, वे अनुसन्धि के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन सन्धियों का प्रमाण केश के अग्र भाग के समान होता है। केश के अग्र भाग के बराबर अनुसन्धियों का प्रमाण कहा जाता[20]। वास्तु न्यास में अन्दर के तेरह एवं बाहर के बत्तीस देवता के पद कल्पित होते हैं। उन सभी के स्थान, मर्म, सिराएँ और वंश के अन्तर्गत 1. मुखप्रदेश, 2. हृदयप्रदेश, 3. नाभिप्रदेश, 4. शिर प्रदेश, 5. दक्षिण स्तन प्रदेश एवं वाम स्तन प्रदेश में वास्तु पुरुष के मर्म स्थल होते हैं। ये छहों महान मर्म स्थल हैं[21]। अग्निपुराण में मर्मस्थलों की संख्या बारह बतायी गयी है। अग्निपुराण का मत है कि समस्त नाड़ी सम्पात, महामर्म, कमल, हल, त्रिशूल, स्वस्तिक, वज्र, महास्वस्तिक, सम्पुट, त्रिकट, मणिबन्ध, सुविशुद्ध और पर ये बारह मर्मस्थल हैं[22]।

वंश, अनुवंश एवं सम्पात् सहित जो पद के मध्य में देवताओं के स्थल हैं, वे प्रथमतः सोलह पद वास्तु के अन्तर्गत स्थित होते हैं। इसी प्रकार से देव स्थल एवं सम्पात् चौंसठ पदों वाले वास्तु न्यास में होते हैं। ठीक ऐसे ही इक्यासी पद एवं शत पद वास्तु के अन्तर्गत भी जानना चाहिए। इसके अन्तर्गत यह भी ज्ञातव्य है कि चार विभागों और चारों ही दिशाओं में जो सिराएँ होती हैं और जो द्वार के मध्य स्थल पर होते हैं, वे सभी मर्म के नाम से जाने जाते हैं[23]। भित्ति की चौड़ाई का मान जितना हो, उतना ही ऊँचाई शृङ्गक्रम यानी शिखर रखें। गर्भ के मध्य में यदि रेखा आए तो महामर्म समझे जो क्षयकारक होता है। प्रसाद निर्माण में छन्द भेद अथवा जाति भेद नहीं करना चाहिए। इनमें भेद करने से महामर्म का उद्भव होता है[24]। गर्भ गृह को चतुरश्र, भद्रक, सुभद्र,

18. पदहस्तसंख्यया सम्मितानि वंशोऽङ्गुलानि विस्तीर्णः।
वंशव्यासोऽध्यर्धः शिराप्रमाणं विनिर्दिष्टम्।। बृ.सं. वास्तुविद्याध्याय, श्लो. 65, पृ. 339
19. वंशास्तेऽस्मिन् समुद्दिष्टा रेखा ----- दशे द्वादराः षोडशोऽपि च।। स.सूत्रधार, अ. 12, श्लो. 27-29
20. पदतो मानमिष्टं स्याद् --- यत्रेनैतानि सन्त्यज्य वास्तुविद्याविशारदः।। समराङ्गणसू. अ. 12, श्लो. 30-32
21. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 13, श्लो. 6, 7 एवं समराङ्गणसूत्रधार, अ. 48, श्लो. 117-125
22. समस्तनाडीसंयोगे महामर्मानुजं हलम्।
त्रिशूलं स्वास्तिकं वज्रं महास्वस्तिकसम्पुटौ।।
त्रिकटं मणिबन्धं च सुविशुद्धं पदं तथा।
इति द्वादशमर्माणि वास्तोर्भित्यादिषु त्यजेत्।। अग्निपुराण, अध्याय 93, श्लो. 7, 8
23. समराङ्गणसूत्रधार, अ.13, श्लो. 8-10
24. अपराजितपृच्छा, सूत्र 138, श्लो. 7-10, पृ. 7, 12

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

प्रतिभद्रक एवं फालना युक्त बनाएँ जिससे कोई मर्माङ्ग पीड़ित न हो[25]।

3. मर्म स्थान स्थित शल्य का फल-

हवन काल या प्रश्न काल में गृह का स्वामी अपने जिस अङ्ग को खुजलावे वास्तु नर के उस अङ्ग स्थान में शल्य कहना चाहिए अथवा जिस देवता की आहुति देने के समय अशुभ निमित्त अर्थात् छींक, रोना, चिल्लाना, अशुभ शब्द सुनायी दे, या अग्नि में विकार उत्पन्न हो तो उस देवता के स्थान में शल्य कहना चाहिए। यदि काष्ठ का शल्य हो तो धन हानि, हड्डी का शल्य हो तो पशुओं को पीड़ा और रोग भय, लोहे का शल्य हो तो शस्त्र का भय, कपाल या केश का शल्य हो तो मृत्यु, कोयले का शल्य हो तो चोर भय और भस्य का शल्य हो तो सदा अग्नि भय होता है। सोना और चाँदी के अतिरिक्त कोई शल्य वास्तु पुरुष के मर्म स्थान स्थित हो तो अत्यन्त अशुभ होता है। यदि धान्यों की भूसी मर्म स्थान या किसी अन्य स्थान में स्थित हो तो धन के आगमन को रोकता है। नागदन्त मर्म स्थान में हो तो दोष पैदा करने वाला होता है, पर मर्म स्थान से अतिरिक्त स्थान में हो तो शुभ होता है[26]।

4. पीड़ित मर्म स्थान का फल-

मर्म स्थान अपवित्र भाण्ड आदि वस्तु, कील, खम्भा, पाषाणादि एवं शस्त्रों से पीड़ित हो तो तत्तुल्य अङ्ग में गृह स्वामी को पीड़ा होती है, अर्थात् पीड़ित मर्म स्थान वास्तु नर के जिस अङ्ग में पड़े तत्तुल्य अङ्ग में गृह स्वामी को पीड़ा होती है[27]। भवन निर्माण के समय विस्तृत भित्ति के मध्य में अथवा काष्ठकर्म शहतीर, द्वार, चौखट आदि के मध्य में जो मर्म पीड़ित होते हैं, उनसे गृह में निवास करने वाले की दुर्गति होती है। ऐसा होने पर गृहस्वामी के कुल की हानि होती है। यदि स्तम्भों का परस्पर वेध होता है तो गृहस्वामी का क्षय होता है। स्तम्भों पर स्थापनीय तुलाओं के वेध होने पर स्त्री का नाश होता है। जयन्तियों के परस्पर वेध होने पर स्नुषा या बन्धुवधू का वध होता है। अधिक सामग्री का निर्माण में उपयोग किया हो तो बन्धुओं का नाश करती है। यदि मर्म स्थलों पर कोई हो जाये अर्थात् मर्म स्थल पीड़ित हों तो भवन निर्माणकर्त्ता का शरीर पीड़ित होता है। सन्धिपालों के वेध से अच्छे मित्रों की क्षति होती जाती है। नागपाशों के वेध होने पर धन की क्षति होती है। नागदन्तों के वेध होने पर सुहृदों का क्षय होता है। कपिच्छक के मर्म स्थल के पीड़ित होने पर सेवकों, कर्मचारियों की हानि होती है। षट्दारु, अनुसिराएँ, गवाक्ष और दर्शनीय खिड़कियाँ यदि मर्म स्थल के मध्य में पड़ते हों तो सम्पत्ति का क्षय करते हैं। द्वार, द्रव्य, तुला, स्तम्भ, नागदन्त, गवाक्षों से यदि भवन का द्वार सम्पीड़ित होता हो अर्थात् ये द्वार के मध्य में कहीं पड़ते हों तो गृहस्वामी के लिये रोग, पीड़ा धन, क्षय के कारक होते हैं। द्वार के मध्य भागों में वेध

---

25. अपराजितपृच्छा, सूत्र 127, श्लो. 7-10, पृ. 23
26. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, श्लो. 59-62, पृ. संख्या 339-340
27. बृहत्संहिता, वास्तुविद्याध्याय, श्लो. 58, पृ. संख्या 339

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

होने पर एवं षट्दारु के मध्य में वेध होने पर पूर्ववर्ती विद्वानों ने राजा से दण्ड की प्राप्ति का भय एवं गृहपति के लिये पीडाकारक बताया है। इसी प्रकार का परिणाम वास्तुपुरुष के कर्ण-द्रव्य के वेध होने पर भी विद्वानों ने बताया है। सोने का स्थान यदि अनुवंश के क्षेत्रगत हो तो गृही के कुल के लिये नाशकारक कहा है। पलंग के वितान में यदि नागदन्त पड़ते हों तो गृहस्वामी के लिये हानिकारक होते हैं। इसी प्रकार नागदन्त या वातायन या स्तम्भों से विद्ध होते दिखायी दें तो आयुधजन्य भय के कारक होते हैं। ये ही वेध चोरों-तस्करों का भय पैदा करते हैं। धन धान्य का विनाश, शोक एवं कलह भी इस कारण होता है। गृह के बीचो बीच द्वार बनाने से परिवार की स्त्रियाँ, वनिताएँ दूषित हो जाती है। अतः गृह के मध्य में द्वार नहीं रखना चाहिए। अन्य निर्मितियों के कारण यदि महामर्म स्थल पीड़ित होते हैं तो गृहस्वामी के लिए सर्वनाश एवं मरण या मरण तुल्य कष्ट होता है।[28] द्वार निर्माण के सम्बन्ध में ऋषि भारद्वाज का मत है कि गृह वास्तु में शिरा, मर्म, वंश एवं नाल के बीच को छोड़कर द्वार बनाना शुभ होता है[29]।

वास्तुविद्या के अनुसार गृह वास्तुकर्म में किसी भी प्रकार कोई मर्म स्थान आहत नहीं होना चाहिए। यदि कोई मर्म स्थान पीड़ित होता है तो क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण ही नहीं, पशुओं को भी पीड़ा होती है। जो शिल्पी त्रुटिवश भी ऐसा करता है तो उसकी सन्तान, पत्नी, भ्राता और सम्बन्धियों को भी पीड़ा पहुँचती है। यदि मूर्धा स्थान - ईश पद, मुख - आप, कण्ठ - आपवत्स, हृदय - ब्रह्मपद पीड़ित होता है तो उसका फल मरण होता है। उर या महेन्द्रादि स्थान के विद्ध होने पर हृदय रोग, पाद या पितृ का पद विद्ध होने पर कलह होता है। ललाट स्थान के विद्ध होने पर भ्रातृहानि, अङ्गुलियों और पीठ के विद्ध होने पर धन का क्षय होता है। उरु या यम-वरुण के स्थान के विद्ध होने पर बन्धुओं या पत्नी की मृत्यु होती है। गुह्य - इन्द्र स्थान के विद्ध होने पर पुत्र का नाश और अष्टसूत्र के सन्धि स्थल के विद्ध होने पर गर्भस्खलन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य छह पदों के विद्ध होने पर शत्रुओं की वृद्धि, चार पदों के विद्ध होने पर स्वजनों का क्षय, पाँच पदों के विद्ध होने पर व्याधि एवं उद्दिष्ट वेध से चोर-तस्करादि का भय होता है[30]।

28. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 13, श्लो. 12-23
29. मुहर्त्तचिन्तामणि, अ. 12, श्लो. 17, पी.टी.
30. स्थानान्येतानि वास्तोर्गृकरणविधौ पीडयेन्नैव विद्वान्
पीडा स्यात् पीडितेषु क्षितिपतिविषयब्राह्मणानां पशूनाम्।
तत्कर्तुः शिल्पिनां च स्वतनयवनिताभ्रातृसम्बन्धिनां च
यत् तस्मात् स्थानवेधे पृथगपि निहितान् वच्मि दोषान् विभज्य।।
मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठे च हृदये मरणं भवेत्। विद्धे चोरमि हृद्रोगः पादयोः कलहो भवेत्।।
ललाटे भ्रातृहानिः स्याद् वित्तध्नोऽङ्गुलिपृष्ठयोः। ऊर्वोर्मृत्युश्च बन्धूनां पत्नीनाशस्तु वा भवेत्।।
गृह्यस्थे सुतनाशः स्यादष्टके गर्भविच्युतिः। षट्के च वृद्धिशत्रुणां चतुष्के स्वजनक्षयः।।
पञ्चके व्याधिरुद्दिष्टस्तस्करेभ्यस्त्रिके भयम्।
वर्जयेत् कुड्यमध्ये च नाडीरज्जवादिसङ्गमम्।। वास्तुविद्या, अ. 8, श्लो. 18-22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अपराजितपृच्छा में केवल संज्ञाओं का अन्तर है विषय का नहीं। यहाँ सूत्र सम्पात के आगे की छह पङ्क्तियाँ- पंक्ति षट्क 'लाङ्गल' कहलाती है। शिरा सूत्रपात को भी लाङ्गल कहा जाता है। इस तरह के चौबीस लाङ्गल पदों के आधे भाग करते हुये विकर्ण की ओर जाते हैं। ब्रह्मा के चारों ओर आठ सूत्रों के पद्मक होते हैं और दोनों पक्षों में दो-दो लाङ्गल षट् रेखाओं से बनते हैं। चारों कर्णों में शूल तथा षड्रेखाओं में वज्र और त्रिशूल लाङ्गल पद्म शिरा नाड़ी वर्जित होते हैं[31]। अपराजितपृच्छा में कहा गया है कि उपवंश के प्रभावित होने पर बन्धुओं में विरोध-विच्छेद तथा मर्मों में कुलक्षय और वज्र में वज्रपात की आशंका रहती है और त्रिशूल मर्म हो तो शत्रुओं से भय बना रहता है। पद्म से पति का विनाश और लाङ्गल से प्रजा, बाल-बच्चों का क्षय होता है। कर्ण शिरा से स्त्री का विनाश होता है और सम्पात मर्म दोष से अग्रज की मृत्यु होती है। ब्रह्मा के चारों कर्णों पर महामर्म विख्यात है जिनका वेध होने से धन-धान्य के विनाश के साथ ही सर्वनाश तक हो जाता है। पदव्यास के षोडशांश भाग तथा पुनः बारह भाग ये सब बालाग्र, सन्धि सम्पातों में शिल्पियों ने वर्ज्य माना है। कर्णों के पार्श्व भाग के अष्टवर्ग नाम कहे जाते हैं। ब्रह्मकर्ण और पद्म के अन्त में महामर्म चतुष्टय होता है[32]।

वास्तु पद न्यास के अनुसार गृह में जिस स्थान पर भित्ति, स्तम्भ और तुलादि के कारण मर्मस्थल पीड़ित होता हो, वहाँ भित्ति आदि के प्रमाण में न्यूनाधिकता करते हुये मर्म पीड़ा का सर्वसम्भव त्याग करना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि निर्मिति को जहाँ वृद्धि करनी आवश्यक हो वहाँ बढ़ाएँ इससे मर्मजन्य पीड़ा में कमी होती है[33]। स्थपति को चाहिए कि वह गृह निर्माण के समय किसी भी द्रव्य से महावंशों का अतिक्रमण नहीं करे इसके साथ ही वंशों को भी द्रव्य से बाहर रखना चाहिए क्योंकि महावंशों के अतिक्रमण से निश्चय ही गृहस्वामी का वध होता है। वंशों के निपीड़न से वर्षा से त्रास व ताप का भय जानना चाहिए। उपमर्मों के निपीड़न से रोग एवं मर्मों के पीड़न से अचानक कुल की हानि होती है। शिरा के उत्पीड़न से उद्वेग और अनर्थ उत्पन्न होता है। सन्धि एवं अनुसंधियों के पीड़न से कलह होता है। इन प्रकार दोषजन्य फलों को जानकर वास्तुपुरुष के शरीर के शिराओं, अनुशिराओं, नाडियों, वंशों, अनुवंशों एवं मर्मों को समझकर उन्हें पीड़ित न कर वास्तु का निवेशन करना चाहिये क्योंकि वेध रहित निर्माण हमेशा निरापद होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि कभी भी मर्मवेध वाले स्थान, द्वारवेध गत स्थान और अपने स्थान से हटाये या ध्वस्त किये गए निर्माण स्थलों पर कभी अपने हित की कामना करने वालों को निर्माण नहीं करना चाहिए[34]।

---

31. अपराजितपृच्छा, सूत्र 59, श्लो. 7-10, पृ. 306-307
32. अपराजितपृच्छा, सूत्र 59, श्लो. 11-15, पृ. 306-307
33. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 24, श्लो. 23-24
33. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 51, श्लो. 14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सास-बहू का मन्दिर

डॉ. उमाशंकर

मध्यकालीन मेवाड़ ने मात्र जगत् का प्रासाद निर्मित कर भारतीयकला के विकास में योगदान नहीं किया, अपितु जगतप्रासाद की कोटि के ही कई उत्कृष्ट मूर्तियों से सुसज्जित अन्य प्रासाद भी मेवाड़ में निर्मित हुए। ऐसे प्रासादों के गुहिलवंशी शासकों की प्राचीन राजधानी 'नागदा' के प्रासाद उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। मेवाड़ की राजधानी उदयपुर से 21 किमी. उत्तर में नागदा नाम की एक प्राचीन नगरी के खण्डहर हैं। यह 12वीं शती तक एक समृद्धशाली नगरी थी। 1239 ई. में दिल्ली के शासक इल्तुतमिश ने आक्रमण करके यहाँ के मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया। अब इनके केवल कुछ अंश ही शेष हैं। ये हिन्दूधर्म से सम्बन्धित हैं, इनमें सास-बहू के दो मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ये दोनों प्रासाद कब निर्मित हुए, तत्सम्बन्धी विश्वसनीय ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु राजकीय संग्रहालय उदयपुर में सुरक्षित संवत् 1083 (1026 ई.) के एक लघु शिलालेख व इन प्रासादों की मूर्तिकला से यह प्रकट होता है कि इन प्रासादों का निर्माण 11वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ होगा और दोनों प्रासाद वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध रहे होंगे।[1]

ये दोनों मन्दिर पूर्वाभिमुखी[2] व सोलंकी शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और 140 फुट आकार के चबूतरे पर निर्मित हैं। प्रत्येक मन्दिर के अङ्ग हैं—पञ्चरथ गर्भगृह, अन्तराल, सभामण्डप और पार्श्वद्वार से युक्त व गवाक्षों से घिरा हुआ। अर्धमण्डप, चौकी व चबूतरे का उभार साधारण है। दीवार सादे ग्रासमुखों की पट्टिका द्वारा दो पट्टिकाओं में विभक्त है। चबूतरे के बाद सिंहद्वार है और फिर स्तम्भयुक्त विशालमण्डप हैं। इसके बाद गर्भगृह है। मन्दिर के चारों ओर छोटे-छोटे देवकुलिक मन्दिर थे, (इनमें से सास मन्दिर 10 सहायक देवमन्दिरों से घिरा हुआ है जबकि

---

1. अग्रवाल, गिर्राज किशोर - शिल्प-दर्शन, पृ. 74.
2. सास-बहू मन्दिर का द्वार वास्तुशास्त्रानुसार है क्योंकि दोनों ही मन्दिर वैष्णव सम्प्रदाय के हैं और विष्णु पूर्वाभिमुखी देव है।
   एकद्वारं भवेत् पूर्वं द्विद्वारं पूर्वपश्चिमे।
   त्रिद्वारं मध्यजं द्वारं दक्षिणास्यं विवर्जयेत्।।
   चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु शिवब्रह्मजिनालये।
   होमशालायां कर्त्तव्यं क्वचिद् राजगृहे तथा।। - प्रा.म.—अ.-5, पद्य-9-10, पृ. 97-98.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

बहूमन्दिर पञ्चायतन प्रकार का है) इनमें से कुछ गिर गये हैं। शिखर ईंटों द्वारा निर्मित है, जिसका अधिकांश भाग गिर गया है। शिखर के अतिरिक्त सम्पूर्ण मन्दिर श्वेत सङ्गमरमर की शिलाओं से निर्मित है। शिखर पर छोटे-छोटे शृङ्गों का समूह अभी भी दिखाई पड़ता है।[3] सभामण्डप का पार्श्वखण्ड, अर्धमण्डप का आन्तरिक व बाह्यभाग मूर्तिपट्टिका एवं अलंकरणों से युक्त है, जबकि गर्भगृह व अन्तराल इसके विपरीत बिल्कुल सादे हैं। इस युगल प्रासादभवन (सास-बहू के मन्दिर) में 'सास का मन्दिर' नाम से पहचाना जाने वाला प्रासाद बड़ा एवं 'बहू का मन्दिर' नाम से पहचाना जाने वाला प्रासाद छोटा है। साथ ही पहले, बड़े वाले प्रासाद में प्रतिमा परिसज्जा अधिक एवं सूक्ष्म है। सास के मन्दिर में अन्दर प्रवेश करते ही अर्द्धमण्डप में चारों ओर लघ्वाकृति मूर्तियों का विशिष्ट अलंकरण दिखाई देता है। इस अर्द्धमण्डप की मूर्तियों एवं अलंकरण में सबसे पहले इस मण्डप के बाहर, सामने प्रवेश करते समय दाहिनी ओर अष्टाङ्ग हठयोग की मुद्राओं से सम्बद्ध 'मिथुनासन' उत्कीर्ण है। अर्द्धमण्डप के दाएँ भाग के खुले गवाक्ष के ऊपर के उत्तरङ्ग पर 'कल्पवृक्ष' उत्कीर्ण है। इस 'कल्पवृक्ष' के जटिल तक्षण में ॐ की आकृति द्रष्टव्य है, जो भारतीयस्थापत्य और मूर्तिकला की दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं रहस्यवाद की परम्परा के मेवाड़ में निर्वाह का द्योतक है।[4] इस 'कल्पवृक्ष' के अतिरिक्त प्रवेशमण्डप में ही छत के आन्तरिकभाग में लगभग 6 फुट की ऊँचाई का 'गोवर्धनधारी कृष्ण' और अर्द्धमण्डप से सभामण्डप में प्रवेश करने के लिए बने द्वार पर 'लक्ष्मीनारायण' की आलिङ्गन मुद्रा में 10 स्थानक लघु प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। उनके नीचे दोनों ओर द्वारपालों की मूर्तियाँ बनी हैं। अर्द्धमण्डप से सभामण्डप में प्रवेश करने पर कोरनियों, अप्सराओं व अन्य अभिप्रायों से सज्जित स्तम्भ दिखाई देते हैं, जो चार 'मकरतोरणों' से परस्पर जोड़े गए है। इस प्रासाद के ये मकरतोरण अनेकानेक अभिप्रायों व भावों की लघ्वाकृति मूर्तियों से सुशोभित हैं। इन स्तम्भों एवं मकरतोरणों की मूर्तियों व अभिप्रायों इत्यादि में सबसे महत्त्वपूर्ण अभिप्राय दाहिनी ओर के पहले स्तम्भ पर रामायण से सम्बद्ध है। इसमें लक्ष्मण को शक्ति-आघात लगा हुआ एवं खिन्न मुद्रा में राम, जटायु, हनुमान इत्यादि को उनके निकट बैठे दर्शाये गए हैं। रामायण के एक दूसरे अभिप्राय में राम-लक्ष्मण धनुष लिए खड़े हैं और जटायु व हनुमान क्रमशः नीचे और ऊपर दर्शाये गए हैं। हनुमान को पर्वत उठाए उड़ता हुआ दिखाया गया है। इन अभिप्रायों का मेवाड़ की मूर्तिकला में दुर्लभता के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान है।[5] इसके अतिरिक्त अन्य स्तम्भों व तोरणों पर भी ब्रह्मा, सावित्री, शिव-पार्वती, लक्ष्मी-नारायण, अष्टबाहु नृसिंह, द्विबाहु आसनस्थ चामुण्डा, महिषमर्दिनी, बुद्ध, वराह, शिव-पार्वती विवाह प्रसङ्ग, रमणियाँ

3. बहू मन्दिर का शिखर अनेकाण्डक है और इस पर 37 शृङ्ग दिखाई देते हैं। यह सभी ईंटों से निर्मित है।
4. व्यास, राजशेखर—मेवाड़ की कला और स्थापत्य, पृ. 89.
5. मे.की.क. और स्था., पृ. 89.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

और आमोद-प्रमोद में व्यस्त नर-नारी उत्कीर्ण हैं, जिनके अङ्ग-विन्यास, भाव-भङ्गिमा इत्यादि के लक्षण में बड़ी विलक्षणता दिखाई देती है।

सासमन्दिर का गर्भगृह सप्तशाखायुक्त (बाह्यशाखा, गन्धर्वशाखा, रूपशाखा, रूपस्तम्भ शाखा, रूपशाखा, गन्धर्वशाखा और अन्तरशाखा) है। द्वार के उत्तरङ्गभाग में ललाट-बिम्ब पर गरुड़ारुढ़ विष्णु का अंकन है और उदुम्बरभाग में मन्दारक और ग्रास का अंकन है। इस प्रासाद के गर्भगृह के प्रमुखद्वार के दोनों ओर के स्तम्भों में से दाहिने स्तम्भ पर शिव-पार्वती, त्रिविक्रम, विष्णु, स्थानक चतुर्बाहु, नृसिंह, वराह नृसिंह एवं विष्णु की तीन मुखाकृतियों वाले अष्टबाहु आयुध युक्त त्रिमुखी विष्णु एवं द्वारपाल की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इसी प्रकार बाएँ स्तम्भ पर गजेन्द्रमोक्ष, वराह, त्रिमुखी आयुधयुक्त स्थानक दशमुख विष्णु एवं द्वारपाल उत्कीर्ण हैं। इस प्रासाद के बाह्यभाग में भी मुख्यतः सभामण्डप के बाह्य-जंघाभागों पर कई शिलापट्ट जड़े हुए हैं जिनके उत्तरदिशा की ओर के भाग पर गरुड़ारुढ़ अष्टभुज विष्णु, आलिङ्गनमुद्रा में स्थानक लक्ष्मीनारायण तथा गजेन्द्रमोक्ष प्रदर्शित हैं। उत्तरदिशा की प्रधान ताक में गरुड़ारुढ़ गजेन्द्रमोक्ष के अभिप्राय की अष्टभुजा विष्णु की मूर्ति लगी हुई है। इस मूर्ति में विष्णु का बायाँ चरण हाथी के ऊपर एवं दायाँ चरण मकर के ऊपर दर्शाया गया हैं। इस प्रासाद के दक्षिणदिशा की प्रधान ताक में दशभुज गरुड़ारुढ़ नृसिंह विष्णु और वराह की त्रिमुखी विष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित है, जो बड़ी आकर्षक है। इस प्रतिमा के ऊपर बद्धाञ्जलि पद्मासनस्थ भगवान् सूर्य व विष्णु की संयुक्त चतुर्बाहु मूर्ति लगी हुई है, जिसके ऊपर के दोनों हाथों में नालयुक्त कमल दर्शाए गए हैं। सूर्य और विष्णु के संयोजन से यह योग-नारायण अभिप्राय बन गया है।[6] ऐसा ही अभिप्राय इसी स्थान से दूसरे छोटे प्रासाद के गर्भगृह के द्वार के उत्तरङ्ग पर उत्कीर्ण है। सासमन्दिर के सभामण्डप के दक्षिणी-बाह्यभाग पर कीर्तिमुख पंक्ति, इन्द्र, वरुण इत्यादि दिक्पाल, शिव-पार्वती एवं युगल मानवाकृतियाँ बड़ी सजीव एवं आकर्षक हैं। इस प्रासाद के गर्भगृह की पीछे वाली प्रधान ताक में चतुर्बाहु विष्णु की आसनस्थ प्रतिमा प्रतिष्ठित है और उसके ऊपर चतुर्बाहु बलराम की मूर्ति स्थित है। ऐसी ही मूर्ति छोटे प्रासाद के गर्भगृह की प्रधान ताक में भी प्रदर्शित है। बड़े प्रासाद के गर्भगृह की उत्तरी दिशा की ताक में क्रमशः आसनस्थ ब्रह्मा और उसके ऊपर वरदाक्षमुद्रा में चार भुजा वाले दशरथी राम की लघुप्रतिमा लगी है तथा दक्षिणदिशा की ताक में श्री जटाधारी शिव लकुलीश की प्रतिमा और उसके ऊपर आसनस्थ चार बाहु वाले वरदाक्षमुद्रा में परशुराम की लघु प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। छोटे प्रासाद के गर्भगृह के बाहर की उत्तरी व दक्षिणी दिशा की ताकों में भी ऐसी ही प्रतिमा प्रतिष्ठित है।[7]

नागदा के सासमन्दिर की तुलना में बहुमन्दिर में प्रतिमाएँ कम हैं तथा अलंकरण भी

---

6. यह एक संघाट मूर्ति है, जिसमें दो या अधिक देवताओं की समन्वित या मिश्रित मूर्ति होती है। इसमें समन्वित सभी देवताओं की विशेषताएँ विद्यमान रहती है।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अधिक नहीं है। इस प्रासाद के सभामण्डप के स्तम्भों के ऊपर की लघु ताकों में मातृका भाव की प्रतिमाएँ लगी हैं। इसके ऊपर के दो हाथों में कमल, नीचे के लम्बे हाथ में बिजौरा एवं नीचे का दायाँ हाथ वरदमुद्रा में है। इस प्रासाद की सर्वाधिक सुन्दर व आकर्षक प्रतिमाओं में सभामण्डप की छत के आन्तरिकभाग पर लटकती-सी दिखाई देने वाली अप्सराओं एवं सुर-सुन्दरियों की प्रतिमाएँ हैं। ये लगभग 3-3 फुट की ऊँचाई की हैं। यद्यपि इन मूर्तियों में अलंकरण अत्यल्प हैं, किन्तु शरीर के अङ्गों की बनावट कुछ इस प्रकार की गई है कि इनमें हड्डी, हड्डी के ऊपर मांसपेशियाँ और उसके ऊपर चमड़े से मानव के शरीर की रचना का-सा आभास होता है। इस प्रासाद की विशिष्ट प्रतिमाओं में गर्भगृह के प्रवेशद्वार के दोनों ओर की शाखाओं पर लगी गुप्तकालीन परम्परा में गङ्गा-यमुना की प्रतिमाएँ हैं, जो 11वीं शताब्दी के प्रासादों में अत्यल्प द्रष्टव्य है। इस प्रासाद के गर्भगृह के बाहर दक्षिणी भाग की प्रधान ताक के नीचे रावणानुग्रह अभिप्राय एक लघु शिलापट्ट के रूप में उत्कीर्ण है। इसमें आसनस्थ शिव-पार्वती को रावण ने उठा रखा है। बहूमन्दिर का गर्भगृहद्वार त्रिशाखायुक्त (वल्लीशाखा, पद्मपत्रशाखा और वल्लीशाखा) है।

नागदा के प्रासादों में लगाई गई विविध प्रतिमाओं में बड़े मन्दिर के बाह्यभाग की पिछली प्रधान ताक में लगी विष्णु की अनन्त स्वरूप को व्यक्त करने वाली प्रतिमा अत्यधिक विलक्षण है। 23X18" आकार की इस प्रतिमा का मध्यवर्तीमुख पुरुषाकृति का है तथा बाजू के मुख वराह और सिंह के हैं। इस प्रतिमा को पुरुषाकृति गरुड़ ने उठा रखा है। यह प्रतिमा 12 हाथों की है। इस प्रतिमा के बायें पार्श्व के हाथों में शंख, धनुष, कलश, चक्र, कमण्डलु एवं पाश तथा दाएँ पार्श्व वाले हाथों में गदा, वज्र, ढाल, अंकुश प्रदर्शित हैं।[8]

नागदा के सास-बहू मन्दिर के लघु देवालयों की मूर्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसी मूर्तियों में छोटे प्रासाद के पीछे के लघुदेवालय के पृष्ठभाग की प्रधान ताक में लगी एक 'मार्तण्ड-भैरव' की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा में भगवान् सूर्य और शिव को एक ही स्वरूप में संयुक्त कर प्रदर्शित किया गया है। यह आसनस्थ चतुर्भुजा प्रतिमा है। इस मूर्ति के मस्तक पर मुकुट, छाती पर कवच और नीचे के हाथों में धारण किए गए कमलों से इस मूर्ति में सूर्य का भाव स्पष्ट होता है, ऊपर के हाथों में त्रिशूल एवं खट्वाङ्ग के प्रदर्शन से शिव का भाव स्पष्ट होता

---

7. ढाकी, मधुसूदन–इण्डियन टेम्पल आर्किटेक्चर, पृ. 178-179.
8. अनन्तोऽनन्तरूपस्तु हस्तैर्द्वादशाभिर्युतः।
   अनन्तशक्तिसंवीतो गरुडस्थश्चतुर्मुखः।।
   दक्षिणे तु गदाखड्गौ चक्रं वज्राङ्कुशौ शरः।
   शङ्खः खेटं धनुः पद्मं दण्डपाशौ च वामतः।। - रूप-मण्डल–अ.-3, पद्य-58-59, पृ. 148-149.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है। इस प्रकार की मिश्रित प्रतिमाओं की विशद व्याख्या डॉ. गोपीनाथ राव ने की है।[9] नागदा के प्रासादों में उपलब्ध यह प्रतिमा वस्तुतः मेवाड़ और राजस्थान की एक अमूल्य निधि है। उपर्युक्त मार्तण्ड-भैरव के अतिरिक्त नागदा के इन प्रासादों में दो या तीन देवों अथवा अवतारों की मिश्रित स्वरूप की प्रतिमाएँ और हैं। इनमें आसनस्थ हरिहर (शिव-विष्णु), आसनस्थ त्रिमुखी विष्णु तथा आसनस्थ अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमाएँ भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिहर की प्रतिमा के बायें ऊपरी हाथ में चक्र, बायें नीचे के हाथ में शंख तथा दाहिने ऊपर के हाथ में त्रिशूल प्रदर्शित है और दाहिना नीचे का हाथ वरदमुद्रा में। हरिहर-शिव-नारायण स्वरूप में प्रदर्शित यह प्रतिमा बड़ी विलक्षण है।[10] इसी प्रकार आसनस्थ चतुर्बाहु त्रिमुखी विष्णु की मूर्ति में नृसिंह, वराह और विष्णु के तीन मुख दर्शाए गए हैं, लेकिन वाहन गरुड़ को प्रदर्शित नहीं किया गया है। इस प्रतिमा के ऊपर के दोनों हाथ खण्डित हैं और नीचे बायें हाथ में शंख विद्यमान है। नीचे का दाहिना हाथ वरदाक्ष है। आसनस्थ अर्द्धनारीश्वर प्रतिमा का वामाङ्ग पार्वती का और दक्षिणाङ्ग भगवान् शंकर का है। बायें भाग के ऊपरी हाथ में एक दर्पण तथा नीचे के हाथ में बिजौरा फल दिखाया गया है। दक्षिणाङ्ग वाले ऊपर के हाथ में त्रिशूल है और नीचे का हाथ वरदाक्ष मुद्रा में है।[11] नागदा प्रासादों की अधिकांश प्रतिमाएँ श्वेत पाषाण की हैं।

नागदा के मूर्तिविन्यास की सर्वप्रमुख विशेषता लघ्वाकृति मूर्तियों की रचना है। यहाँ के प्रासादों में तुलनात्मक दृष्टि से लघु-प्रतिमाएँ अथवा लघु-प्रतिमाओं से युक्त शिलापट्ट अधिक बनाए गए हैं।

---

9. राव, गोपीनाथ–एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, भाग 1, पृ. 86.
10. वरं त्रिशूलचक्राब्जधारिणो बाहुकाः क्रमात्।
    दक्षिणे वृषभः पार्श्वे वामे विहगराडिति।। -रू. म.-अ. 4, पद्य-31, पृ. 161.
11. श्रीवास्तव, पंकजलता–हिन्दू तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. 340.

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र एवं जलव्यवस्था

डॉ. सुशील कुमार

'जलमेव जीवनम्' इस उपनिषद वाक्य को उद्धृत करते हुए हमारे प्राचीन महर्षियों ने जल की आवश्यकता को रेखांकित करने का प्रयास किया है। वनस्पति और जीव-जन्तु दोनों ही वर्गों के समुदायों को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए जल अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। पञ्च महाभूतों में पृथ्वी के बाद जल तत्व हमारे जीवन के लिए सबसे महत्वपूर्ण है। प्राणियों के रक्त में 80 प्रतिशत मात्रा जल की होती है जबकि वनस्पति में ये मात्रा अधिक होती है। दोनों ही वर्गों के लिए जल जीवन का आधार है। जीव-जन्तु और पशु-पक्षी जल पीकर तथा वनस्पति जड़ों द्वारा जल ग्रहण कर जीवित रहते हैं। समस्त पृथ्वी के लगभग दो-तिहाई (2/3) हिस्से पर जल विद्यमान है, जो सागरों, नदियों, झीलों, जलाशयों एवं कुंओं के रूप में पाया जाता है। एक-चौथाई (1/4) हिस्सा पृथ्वी का स्थल है। धरती पर अधिकतम लोगों का वास ऐसे स्थान पर है जहाँ जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। सागर, नदी एवं झील के किनारों पर बसे नगर एवं बस्तियां इस बात का प्रमाण हैं। जल की उपलब्धि एवं जलीय स्रोतों को ध्यान में रखकर ही भवन-निर्माण किया जाता है। भौगोलिक विविधता के कारण हिमपात, अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि तथा चक्रवाती तूफानों से प्रभावित होने वाले समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों में वहाँ की जलवायु को ध्यान में रखकर ही भिन्न-भिन्न प्रकार के भवन-निर्माण का विधान है। अतिवृष्टि तथा हिमपात वाले क्षेत्रों में भवन की छतों को ढालदार बनाया जाता है ताकि उनके ऊपर बर्फ या जल का भराव अथवा ठहराव न हो सके, अन्यथा मकान के ऊपर बर्फ का ढेर लग जाने से मकान को खतरा होगा। अल्पवृष्टि वाले क्षेत्रों में घर में ही जल-संग्रह के लिए उपयुक्त स्थान बनाना तथा समुद्र-तटीय क्षेत्रों में समुद्री तूफान से बचाव को ध्यान में रखकर घर के चारों ओर सुरक्षा भित्ति आदि का निर्माण करवाने की बात यह शास्त्र बताता है। इसी सन्दर्भ में भवन-निर्माण के साथ-साथ भवन वासियों को जल की उपलब्धि उचित मात्रा में हो इस हेतु बोरिंग, नलकूप, कुंआ, भूमिगत टंकी, ओवर हैडटैंक की एवं सामान्य नल आदि से जल की आपूर्ति एवं भण्डारण के विविध संसाधनों की उपयुक्त स्थिति का विचार इस शास्त्र में किया जाता है।

जिस देश अथवा प्रदेश के ईशान कोण में जल हो वे देश या प्रदेश बहुत शीघ्रता से उन्नति को प्राप्त करते हैं। पृथ्वी पर प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थित भिन्न है। विश्व के

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

मानचित्र को देखकर कह सकते हैं कि जिस देश में नदियों का प्रवाह अधिक है। अथवा जो देश समुद्र के जल से घिरे हुए होते हैं या जिन देशों के ईशान में जल होता है वे देश आर्थिक रूप से सम्पन्न देखे गए हैं। यदि हम जापान देश का वास्तुशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करेंगे तो जानेंगे कि उस देश का ईशान-पूर्व का जो तट है वह प्रशान्त महासागर का विशाल तट है। जिसके कारण यह देश आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्ध है। इस देश का क्षेत्रफल न्यून होने पर भी यह देश विकास की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है। परन्तु इस देश के दक्षिण-पश्चिम तट पर भी जल है जो की ठीक नहीं है। जिस कारण इस देश पर आपदायें आती रहती हैं।

शिलाओं के आधार पर भूमिगत जल शिराओं की पहचान की परंपरा 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के काल से चली आ रही है। इस विद्या को 'दकार्गल' कहा गया है और इसे धर्म तथा यश प्रदायक स्वीकार किया गया है! प्राचीन मान्यता रही है कि जिस तरह मनुष्यों के अंग में नाड़ियाँ हैं उसी तरह भूमि में ऊंची, नीची शिराएं हैं। भूमि भेद और पाषाण आदि के आधार पर इनकी पहचान होती है।[1] आकाश से केवल एक ही स्वाद का जल पृथ्वी पर गिरता है लेकिन पृथ्वी की विशेषता से स्थान के अनुरूप अनेक रस एवं स्वाद वाला हो जाता है। इसीलिए धार्मिक मनुष्य नगर के बाहर एवं अन्दर जलाशयों का निर्माण अवश्य करवाते हैं। प्रत्येक श्रेष्ठ मनुष्य को चार बावड़ी, दस कुएं, चार कुण्ड एवं छः तालाबों का निर्माण पशु-पक्षियों और मनुष्यों के कल्याण के लिए अवश्य ही करना चाहिए।[2] 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में जलाशय की प्रशंसा में लिखा है-'उदकेन बिना वृत्तिर्नास्ति लोकद्वये सदा।' अर्थात् भूलोक तथा स्वर्गलोक में पानी के बिना जीवन असम्भव है। कुंआ खुदवाने का फल अग्निष्टोम यज्ञ के समान है। वह भी यदि मरुभूमि में खुदवाया जाए तो उसका अश्वमेध यात्रा के समान फल होता है। पर्याप्त जलवाला कूप खुदवाने वाले के समस्त पापों का हरण कर लेता है। कुएं का निर्माण करने वाला पुरुष स्वर्ग में जाकर सब प्रकार के सुखों का उपभोग करता है। बृहद्वास्तुमाला में कहा गया है-

अग्निष्टोमसमः कूपः सोऽश्वमेधसमो मरौ।
कूपः प्रकृतपानीयः सर्वं हरति दुष्कृतम्॥
कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समश्नुते।[3]

वास्तु मनीषियों ने भी कहा है-''गृहात्प्रवासः पयसः पूर्वोत्तरगतिः शुभः।'' गृह से पूर्व तथा उत्तर दिशा में जल का प्रवाह शुभ माना गया है। कूप, वापी, तड़ाग, वन एवं उद्यान तथा समस्त जलाशय निर्माण में 196 पद वाले वास्तुपुरुष की पूजा करनी चाहिए। यथा-

---

1. बृहत्संहिता 54, 1-2
2. बृहद्वास्तुमाला दकार्गल प्रकरण, श्लो. 1
3. तत्रैव, श्लो. 2,3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ग्रामे भूपतिमन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतुष्षष्टिकै-
रेकाशीतिपदैः समस्तभवने जीर्णे नवाब्ध्यशंकैः।
प्रासादेऽथ शतांशकैस्तु सकले पूज्यस्तथा मण्डपे
कूपे षण्णवचन्द्रभागसहिते वाप्यां तडागे वने।।[4]

पूर्वापर एवं याम्योतर अथवा सीधी एवं तिरछी लम्बरूप पन्द्रह-पन्द्रह रेखाओं के खींचने से 196 पद चक्र का निर्माण हो जाएगा। इस चक्र में परस्पर रेखाओं की दूरी समान इस चक्र में देवताओं का क्रम इस प्रकार होता है। केन्द्र में बत्तीस पदों में ब्रह्मा, 12 पदों में अर्यमादि कोणों के दो-दो पदों में आठ देवता, बाहर के देवता 1½-1½ पदों में, देवता तीन-तीन पदों में, पुनः दो-दो पदों में तथा शेष देवता 6-6 पदों में होते हैं। तालाब एवं बांधादि निर्माण 196 पद वास्तु के अनुसार किया जाना चाहिए।[5] देवालय में जल व्यवस्था हेतु चौंसठ पद वास्तु का विचार करना चाहिए। ठीक उसी प्रकार गृह के लिए इक्यासी पद वास्तु का विचार करना चाहिए। एकाशीतिपद के विषय में वाराह-संहिता में कहा गया है–

एकाशीति विभागे दश-दश पूर्वोत्तरायता रेखाः।
अन्तस्त्रयोदश सुरा द्वात्रिंशद्बाह्य कोष्ठस्थाः।।[6]

पद के वास्तुचक्र में दश पूर्व और दश उत्तर की ओर आयत रेखाओं के द्वारा निर्मित 81 कोष्ठक वाले वास्तु-चक्र का निर्माण होता है। इस चक्र में 45 देवताओं का वास होता है। देवताओं का क्रम इस प्रकार है–

शिखिपर्जन्यजयेन्द्रसूर्यसत्याभृशोऽन्तरिक्षश्च ।
ऐशान्यादिक्रमशो दक्षिणपूर्वेऽनिलकोणे।।
पूषा वितथ बृहत्क्षतयमगन्धर्वाख्यभृङ्गराजमृगाः।
पितृदौवारिक-सुग्रीवकुसुमदन्ताम्बुपत्यसुराः ।।
शोषोऽथ पापयक्ष्मा रोगः कोणे ततोऽहिमुख्यौ च।
भल्लाटसोमभुजगास्ततोऽदितिर्दितिरिति क्रमशः।।[7]

चक्र के पूर्वी भाग में स्थित देवताओं में पर्जन्य, इन्द्र एवं सूर्य का जल की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर्जन्य और इन्द्र का सीधा सम्बन्ध जल से है और सूर्य का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व में आने वाले तेज एवं ओज से है। सभी प्राणियों के लिए जल जीवनयापन करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। जिसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है।

4. वास्तुराजवल्लभ 2/4
5. भारतीय वास्तु विद्या के वैज्ञानिक आधार पृ. सं. 189
6. विश्वकर्म प्रकाश अ. 11, पृ. 84
7. वास्तुसौख्य 8/288-290

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इसीलिए हमारे पूर्वजों ने नदियों और प्राकृतिक जल स्रोतों के पास ही नगरों व भवनों का निर्माण करवाया तथा जहाँ प्राकृतिक जल न उपलब्ध हो सके वहाँ पर भूमि परीक्षण, शिला परीक्षण तथा वृक्ष की स्थिति आदि के द्वारा जल की स्थिति का सही ज्ञान करवाया ताकि सुख पूर्वक भवन में निवास के लिए जल की व्यवस्था कुंआ, तालाब आदि के माध्यम से आसानी से की जा सके।

आज के युग में उपर्युक्त शास्त्रीय विधि की आवश्यकता इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि सूखे की समस्या से जूझ रहा समाज सही मार्ग निर्देशन के अभाव में यहाँ-वहाँ भटक कर दु:ख एवं मृत्यु को प्राप्त कर रहा है। ऐसे में हमारे शास्त्र के आधार पर जल व्यवस्था के निर्माण की आवश्यकता और उसका सही क्रियान्वयन यदि किया जाए तो समाज की एक बहुत बड़ी समस्या का निराकरण हो जाएगा। ऐसा करने में हमारा शास्त्र पूर्ण रूप से समर्थ है और वह कई सदियों से इस व्यवस्था को चला भी रहा है। लेकिन जीवन शैली और संसाधनों के निरन्तर शोषण से ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। जल व्यवस्था जैसे गम्भीर विषय पर हमारे महर्षियों ने कई शताब्दियों तक शोध परीक्षण और निष्कर्ष के बाद हमारे लिए एक सम्पन्न व्यवस्था का निर्माण किया है। लेकिन आज आधुनिकता और पाश्चात्यकरण की दौड़ में हम उन महान विचारों को पीछे छोड़कर दु:खी हो रहे हैं। जिसने हमें संस्कारों और परम्पराओं के रूप में यह वरदान स्वरूप गुण दिए जैसे जल को देवता मानो, नदियों को मां मानो क्योंकि ये जीवनदायिनी हैं।

वापी–वापी का निर्माण पूर्व-पश्चिम दिशा में आयताकार में होना चाहिए। उत्तर-दक्षिण दिशा में आयत वापी बहुत काल तक जल की स्थिरता हेतु उपयुक्त नहीं मानी गई है। दक्षिणोत्तर वापी में वायु की तरंगों से जल नष्ट हो जाता है। अत: यदि दक्षिणोत्तर वापी निर्माण अभीष्ट हो तो तरंगों से बचाने के लिए तटों को मजबूत पत्थर या लकड़ी आदि से चिनवा दे तथा वापी निर्माण के समय वापी की मिट्टी को हाथी-घोड़े आदि के पैरों से रुंधवाया जाए अथवा आधुनिक यन्त्रों द्वारा मिट्टी को मजबूत करने के लिए प्रयत्न करे तथा किनारे पर ककुम (अर्जुन), वट, आम, पिलखन, कदम्ब, निचुल, जामुन, बेंत, नीप (एक तरह का कदम्ब), कुरबक, ताल, अशोक, मघूक (महुआ), बकुल, विभिन्न मोलसरी आदि इन वृक्षों का रोपण करना चाहिए। वापी के एक तरफ जल निकालने के लिए पत्थरों से बंधवाया हुआ एक मार्ग बनाना चाहिए। उस मार्ग को छिद्र रहित लकड़ी के तख्ते से ढककर मिट्टी से दृढ़ कर देना चाहिए। वापी को पाली नाम देते हुए वराहमिहिर ने कहा है–

पाली प्रागपरायताम्बु सुचिरं धत्ते न याम्योत्तरा
कल्लोलैरवदारमेति मरुता सा प्रायशः प्रेरितैः।
तां चेदिच्छति सारदारूभिरपां सम्पातमावारयेत्
पाषाणादिभिश्च वा प्रतिचयं क्षुण्णं द्विपाश्वादिभिः॥

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ककुभवटाम्रप्लक्षकदम्बैः सनिचुलजम्बूवेतसनीपैः।
कुखकतालाशोकमधूकैः बकुलविमिश्रैश्चावृततीराम्।।
द्वारंच नैर्वाहिकमेकदेशे कार्यं शिलासञ्चितवारिमार्गम्।
कोशस्थितं निर्विवरं कपाटं कृत्वा ततः पांशुभिरावपेतम्।।[8]

वापी चार प्रकार की होती है। नन्दा, भद्रा, जया एवं विजया। एक मुख तीन कूट की वापी को नन्दा, दो मुख छः कूट की वापी को भद्रा, तीन मुख नो कूट की वापी को जया एवं चार मुख बारह कूट की वापी को विजया कहते हैं। वापी में जाने के रास्ते को मुख एवं ऊपर खुले हुए मुख को कूट कहते हैं। वास्तुरत्नाकर में कहा गया है–

वापी च नन्दैकमुखा त्रिकूटा षट्कूटिका युग्ममुखा च भद्रा।
जया त्रिवक्त्रा नवकूटिका च त्वेकैस्तु कूटैर्विजया मता सा।।[9]

कूप–भूमि में खोदा गया जो गर्त अल्प विस्तार, मण्डलाकृति, गहरा, इष्टिका अथवा पाषाण खण्डों से चिना गया हो वह कूप कहलाता है। कहा गया है–

भूमौ खातोऽल्पविस्तारो गम्भीरो मण्डलाकृतिः।
बद्धोऽबद्धः सः कूपः स्यात्तदम्भः कौपमुच्यते।।[10]

जल का ज्ञान करने के लिए प्रश्नकाल के चन्द्र नक्षत्र में तिथि की संख्या को जोड़ दें। उसमें चार का भाग दें। शेष के अनुसार जल की स्थिति को जाने। 1 शेष में जल का अभाव, 2 में पूर्ण जल, 3 में पूर्ण जल, 0 में जल का अभाव कहना चाहिए। कहा है–

वर्तमाने च नक्षत्रे तिथिश्चैव समन्विता।
चतुर्भिश्च हरेद्भागं शेषांके फलं ववेत्।।
एक शेषे जलं नास्ति द्विशेषे बहुलं जलम्।
तृतीये तु जलं पूर्णं शून्यं शून्यं जलं भवेत्।।[11]

जल का स्रोत किस दिशा में आएगा इस प्रश्न के उत्तर में तिथि, दिन, नक्षत्र और चार का योग करे उसमें 8 का भाग दें। शेष के क्रम में पूर्वादि दिशा से जल का स्रोत प्राप्त होता है। 1 शेष में पूर्व में, 2 शेष में आग्नेय में, 3 शेष में दक्षिण में इत्यादि प्रकार से आगे जाने। इस सन्दर्भ में कहा है–

---

8. बृहत्संहिता दकार्गलाध्याय श्लोक. 118/120
9. वास्तुरत्नाकर, जलाशयप्रकरण श्लोक. 39
10. भावप्रकाश निघण्टु वारिवर्ग 48
11. भारतीय ज्योतिष का वैज्ञानिक विवेचन पृ.सं. 254

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तिथिवारं च नक्षत्रं वेदसंख्या वसूद्धतम्।
शेषात्पूर्वादितो दिक्षु निर्झरः कूपकर्मणि।।[12]

तिथि, दिन, नक्षत्र और नाम अक्षर की संख्या के योग में 8 का गुणा करें और 36 का भाग दे जो शेष हो उतने हाथ नीचे जल प्राप्त होगा।

तिथिवारं च नक्षत्रं नामाक्षरसमन्वितम्।
अष्टभिर्गुणितञ्चैव षट्त्रिंशेण विभाजितम्।।
हस्तशेषप्रमाणेन जलं प्रोक्तं पुरातनैः।[13]

ग्राम या घर के आग्नेय कोण में यदि कूप हो तो वह निरन्तर भय, दाह देने वाला नैर्ऋत्य कोण में बालकों का नाश करने वाला, वायव्य कोण में स्त्री को पीड़ा देने वाला होता है। अतः इन तीन दिशाओं को छोड़कर शेष दिशाओं में कूप बनाना उत्तम होता है। वास्तुरत्नाकर में कहा गया है–

आग्नेये यदि कोणे ग्रामस्य पुरस्य वा भवेत्कूपः।
नित्यं स करोति भयं दाहं च समानुषं प्रायः।।
नैर्ऋतकोणे बालक्षयं च वनितां च वायव्ये।
दिक्त्रयमेतत्त्यक्त्वा शेषासु शुभावहाः कूपाः।।[14]

गृह के बीचों बीच कूप बनाने या रहने से निम्न फलों की प्राप्ति होगी–[15]

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान	मध्य
फल	ऐश्वर्य	पुत्रनाश	स्त्रीनाश	मृत्यु	सम्पत	शत्रुभय	सौख्य	पुष्टि	धनहानि

5 हाथ व्यास का वृत्ताकार कूप सब वर्गों के लिए श्रेष्ठ होता है। वापी 10 दण्ड अर्थात् 40 हाथ से लेकर 100 दण्ड अर्थात् 400 हाथ तक बनाना उत्तम है। ऐसा देवी पुराण में कहा गया है।[16]

इसीलिए वास्तुशास्त्र की दृष्टि में सरोवर, स्नानागर, कूप इत्यादि ईशान-पूर्व दिशा में ही अधिक सम्पत्ति को देने वाला होता है तथा आग्नेय, वायव्य या नैर्ऋत्य दिशाओं में कूपादि का

---

12. भारतीय ज्योतिष का वैज्ञानिक विवेचन पृ.सं. 255
13. भारतीय ज्योतिष का वैज्ञानिक विवेचन पृ.सं. 256
14. वास्तुरत्नाकर, जलाशयप्रकरण श्लो सं. 19-20
15. वही, श्लो, सं. 21
16. तत्रैव श्लो. 23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

खनन कदापि नहीं करना चाहिए। कूपों के प्रकार के विषय में हमारे ऋषियों ने इस प्रकार कहा है–

कूपाः श्रीमुखवैजयौ च तदनु प्रान्तस्तथा दुन्दुभि-
स्तस्मादेव मनोहरं च परतः प्रोक्तश्च चूड़ामणिः।
दिग्भद्रो जयनन्दशङ्करमतो वेदादिहस्तैर्मितै-
र्विश्वान्तैः क्रयवर्धितैश्च कथिता वेदादधः कूपिकाः॥[17]

कूप परिमाप चक्र

कूप	श्रीमुख	विजय	प्रान्त	दुन्दुभि	मनोहर	चूड़ामणि	दिग्भद्र	जय	नन्द	शंकर
परिमाप	4 हाथ	5 हाथ	6 हाथ	7 हाथ	8 हाथ	9 हाथ	10 हाथ	11 हाथ	12 हाथ	13 हाथ

चार हाथ से कम व्यास वाले को कूपिका कहते हैं।

कूपचक्र–जिस दिन कूप खुदवाना हो, उस दिन के नक्षत्र को कूपचक्र में रोहिणी से गिनकर देखें। यदि चक्र में सुजल-सुन्दर, शुभ नक्षत्र के मध्य अभीष्ट नक्षत्र पड़ता हो तो कूप अवश्य खुदवाना चाहिए।

कूपचक्र[18]

दिशा	मध्य	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
नक्षत्र सं.	3	3	3	3	3	3	3	3	3
नक्षत्र नाम	रोहिणी मृगाशिरा आर्द्रा	पुनर्वसु पुष्प श्लेषा	मघा पू.फा. उ.फा.	हस्त चित्रा स्वाती	विशाखा अनु. ज्ये.	मूल पू.षा. उ.षा.	श्रवः धनि. शत.	पू.भा. उ.भा. रेवती	अश्वि. भरणी कृत्ति.
फल	शीघ्र सुस्वादु जल	सुन्दर जल	सुजल शीघ्र जल	निर्जल	अमृत जल	शीतल जल	जल हानि	मधुर जल	कटुक्षार जल
शुभाशुभ	शुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	मध्यम

सूर्यनक्षत्र से कूप चक्र–जिस दिन कूप खुदवाना हो, उस दिन के नक्षत्र को कूपचक्र में सूर्य नक्षत्र से गिनकर देखें। यदि चक्र में सुजल, शुभ नक्षत्र के मध्य अभीष्ट नक्षत्र पड़ता हो तो कूप अवश्य खुदवाना चाहिए। स्पष्टता के लिए निम्न चक्र देखें।

17. वास्तुराजवल्लभे 4/27
18. वास्तुरत्नाकर जलाशयप्रकरण श्लो. 25–27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कूपचक्र[19]

दिशा	मध्य	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
नक्षत्र सं.	3	3	3	3	3	3	3	3	3
फल	सुस्वादु जल	स्वल्प जल	सुस्वादु जल	निर्जल	सुस्वादु जल	क्षार जल	जल हानि	मीठा जल	क्षार जल
शुभाशुभ	शुभ	मध्यम	शुभ	अशुभ	शुभ	मध्यम	अशुभ	शुभ	मध्यम

मंगल नक्षत्र से कूप चक्र—जिस दिन कूप खुदवाना हो, उस दिन के नक्षत्र को कूपचक्र में मंगल नक्षत्र से गिनकर देखें। यदि चक्रमें सुजल एवं शुभ नक्षत्र के मध्य अभीष्ट नक्षत्र पड़ता हो तो कूप अवश्य खुदवाना चाहिए।

कूपचक्र[20]

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
नक्षत्र सं.	1	5	4	3	3	4	3	4
फल	जल में वधभय	सुसिद्धि	अभङ्ग	रोग	असिद्धि	यश	धन प्राप्ति	जलभङ्ग
शुभाशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	अशुद्ध

राहु नक्षत्र से कूपचक्र—जिस दिन कूप खुदवाना हो, उस दिन के नक्षत्र को कूपचक्र में राहु के नक्षत्र से गिनकर देखे। यदि चक्र में शुभ नक्षत्र के मध्य अभीष्ट नक्षत्र पड़ता हो तो कूप अवश्य खुदवाना चाहिए।

कूपचक्र[21]

दिशा	मध्य	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान	मध्य
नक्षत्र सं.	3	3	3	3	3	3	3	3	4
फल	शोक	जल	स्वामी मृत्यु	दुःख	सुखसौभाग्य	जल वृद्धि	निर्जल	जल वृद्धि	सजल
शुभाशुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	शुभ

19. वास्तुरत्नाकर जलाशयप्रकरण श्लो. 30-31
20. वास्तुरत्नाकर जलाशय प्रकरण श्लो. 32
21. वास्तुरत्नाकर जलाशय प्रकरण श्ला. 33-35

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कुण्ड–"कुण्ड्यते रक्ष्यते जलं वह्निर्वा कुडि रक्षणे आधारे जलाशये वृत्ताकारे च" इस परिभाषा के आधार पर कुण्ड निर्माण भी जलाशय के रूप में महत्वपूर्ण है। चतुस्र कुण्ड को भद्र, भद्रयुक्त कुण्ड को सुभद्र, प्रतिभद्र कुण्ड को नन्द। जिस कुण्ड के मध्य मिट्टी होती है उसे परिघ कहते है। जिस कुण्ड के बाहर मंदिरादि बनाए हुए होते हैं उसे भिट्ट कहते हैं।[22] कुण्ड का निर्माण 7 हाथ से लेकर 100 हाथ तक होता है। जिसके चारों ओर दरवाजे होने चाहिए, बीच में झरोखे होने चाहिए एवं चारों कोनों में पट्टशाला होनी चाहिए। कुण्ड में गंगा की मूर्ति, सूर्यादि नवग्रहों की मूर्तियां, विष्णु के दशावतारों की मूर्तियां, एकादश रुद्रों की मूर्तियां एवं दुर्गादि की मूर्ति होनी चाहिए।[23]

तालाब–प्रशस्त भूमि में जो स्थल लम्बे समय से जलाशय के रूप में स्थित हो, वह तालाब है। ये दो प्रकार के होते हैं। 1. स्वतः निर्मित एवं 2. मनुष्य निर्मित। कहा गया है–

प्रशस्तभूमिः भागस्थो बहुसंवत्सरोषितः।
जलाशयस्तडागः स्यात् ताडाग तज्जलं स्मृतम्।।[24]

तालाब खुदवाने के लिए इस चक्र का शोधन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए सूर्य नक्षत्र के अभीष्ट दिन के नक्षत्र तक गिनें और इस चक्र में निवेशित नक्षत्र संख्या के अनुसार फल को देखे। यदि फल शुभ हो तो तालाब खुदवाना चाहिए।

तडाग चक्र[25]

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान	मध्य	बाह्य
नक्षत्र सं.	2	3	2	2	3	2	3	3	5	3
शुभाशुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	शुभ
फल	जलहीन शोक	जलाधिक्य	जल नाश	अमृत जल	सुस्वादु जल	जलहीन	स्थिर जल	नष्ट जल	पूर्ण जल	अमृत जल

22. वास्तुरत्नाकर 4/31
23. वास्तुरत्नाकर जलाशय प्रकरण श्ला. 43
24. भावप्रकाश निघण्टु वारिवर्ग 44
25. वास्तुशास्त्र विमर्श पृ. 214

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सरोवर/तालाब

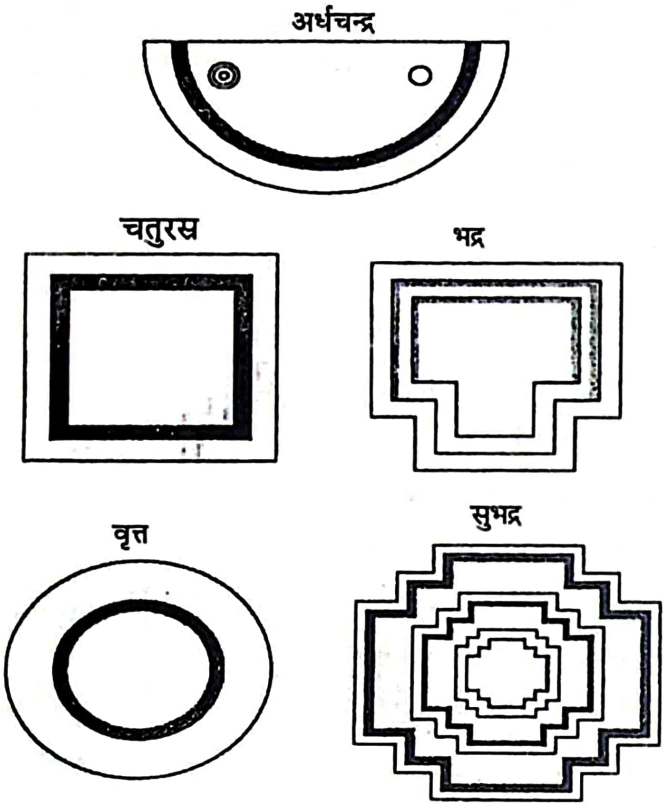

सरोवर–''सरोभिर्जलैर्व्रियतेऽसौ'' सरोवर शब्द की यह व्युत्पत्ति जल संग्रह जलाशय का ही संकेत करती है। सरोवर भी दो प्रकार के होते हैं प्राकृतिक एवं मनुष्य निर्मित। पर्वतीय क्षेत्रों के सरोवर प्राय: प्राकृतिक होते हैं तथा समतल भूमि पर निर्मित किए जाने वाले मनुष्य निर्मित होते हैं। कहा गया है–

नद्या शैलादिरुद्धायाः यत्र संस्रुत्य तिष्ठति।
तत्सरो जलजच्छन्नम् तदम्भः सारसं स्मृतम्।।[26]

प्राकृतिक सरोवरों के तडाग, तालाब झील एवं सरोवर पर्याय हैं। तालाब, सरोवर एवं झील का आकार अर्धचन्द्राकार, वृत्ताकार, वर्गाकार होता है। जो अर्धचन्द्राकार युक्त हो उसका नाम चन्द्राकार सरोवर है। जो वृत्तयुक्त हो उसका नाम महासर है। जो चतुष्कोण हो उसका नाम भद्र है। जो चार भद्र से युक्त हो उसका नाम समुद्र है। इसमें एक ही परिघ और एक या दो वकस्थल (पक्षियों के बैठने का स्थान) होने चाहिए। 4000 हाथ लम्बा 2000 हाथ चौड़ा तालाब उत्तम संज्ञक है। 2000 हाथ लम्बा 1000 हाथ चौड़ा तालाब मध्य श्रेणी का है। 1000

26. भाव प्रकाश निघण्टु वारिवर्ग 42

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हाथ लम्बा 500 हाथ चौड़ा तालाब कनिष्ठ श्रेणी का होता है।[27]

जल परीक्षा–जो भूमि मूँज, कास, कुश इत्यादि से युक्त हो, नीलवर्ण की हो मृदु (कोमल) और बालुका युक्त हो या काली अथवा लाल वर्ण की हो उस भूमि में स्वादिष्ट और अधिक जल होता है।[28] रेतीली एवं लाल वर्ण की भूमि के अन्दर कटु रस का जल होता है। पिङ्गल वर्ण की भूमि के नीचे खारा जल होता है। धूसर रंग की भूमि के नीचे नमकीन जल होता है। नील आभा से युक्त भूमि में मीठा जल होता है। जिस भूमि पर सागेन, अश्वकर्ण, अर्जुन, बिल्व, सर्ज, श्रीपर्णी, अरिष्ट (निम्ब), और जिसके पत्तों में छेद हो जाये, इस तरह के वृक्ष जहाँ हो, गुल्म एवं लताएं जहां पैदा हों वहां बहुत नीचे जल होता है।[29] सूर्य, अग्नि, राख, ऊँट, गधा इनके रंग वाली भूमि निर्जल होती है। जहाँ लाल पल्लव और दुधार करील वृक्ष हो और लाल रंग की जमीन हो वहाँ पाषाण के नीचे जल रहता है। लहसुनिया, मूंगा, बादल सदृश रंग वाली, गूलर के समान रंग वाली वा भौरे एवं काजल के समान व कपिल रंग वाली शिला हो तो उस भूमि पर बहुत पास जल होता है। कबूतर पक्षी, शहद और घी के रंगवाली तथा रेशमी वस्त्र के समान रंग वाली और सोमलता के समान रूप वाली शिला जिस भूमि पर हो वहाँ जल जल्दी एवं कभी कम न होने वाला प्राप्त होता है।[30]

पानी-टंकी-ट्यूब्वेल आदि की व्यवस्था–आजकल प्राय: आधुनिक तरीके से बनाए जा रहे घरों में नल के द्वारा हर स्थान एवं कक्ष में पानी पहुंचाना आवश्यक सा हो गया है। खासकर स्नानगृह, पाकगृह तथा शौचालय के लिए नितान्त आवश्यक होता है। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु घर की ऊपरी छत पर छोटी-बड़ी टंकी रखनी जरूरी होती है। इस व्यवस्था को केवल गृहमण्डलान्तर्गत ही न समझ कर पूरे भूखण्ड की व्यवस्था से भी देखा जा सकता है। अत: नीचे बोरिंग-ट्यूबवेल से इलेक्ट्रिक मोटर के माध्यम से पानी खींच कर ऊपर स्थित टंकी को पानी से भरा जाता है। उसके बाद नल के द्वारा गृहमण्डल के प्रत्येक कक्ष या पूरे परिसर में आवश्यकतानुसार जल की व्यवस्था वास्तुनुरूप कर दी जाती है। जैसा कि कहा गया है–

सर्वासु दिक्षु सलिलं प्रकुर्याद्, विहाय नैर्ऋत्ययमाग्निवायून्।
पूर्वोत्तरेशानजलेशदिक्षु कृतं जलं सौख्यसुतप्रदं च।।[31]

नैर्ऋत्य, दक्षिण, आग्नेय और वायु दिशा को छोड़कर शेष सभी दिशाओं में जलाशय (टंकी, कुंआ, तालाब, ट्यूबवेल आदि) बनवाना चाहिए। अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, ईशान

27. वास्तुराजवल्लभ 4/29
28. बृहत्संहिता 53/103
29. वास्तुरत्नाकर 12/10-12
30. वास्तुरत्नाकर 12/13, 14
31. विश्वकर्मप्रकाश 8/14

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दिशा में जलाशय का निर्माण करना सुख और पुत्रदायक होता है। इस तरह टंकी, कुआं, तालाब, ट्यूबवेल गृहमण्डल या भूखण्ड के चारों ओर शुभ दिशानुरोध से बनाना चाहिए। आजकल पानी टंकी की व्यवस्था छत के ऊपर हो रही है। इसकी व्यवस्था देश भेद से किस तरफ और कैसे करें इसकी जानकारी चक्र के माध्यम से सुगमतापूर्वक की जा सकती है।

ईशान	पूर्व	आग्नेय
ऐश्वर्यदायक (शुभ)	सुख, पुत्रदायक (शुभ)	आग्निमय, पुत्रहानि (अशुभ)
सुख, समृद्धि (शुभ)	सर्वदा हानि (अशुभ)	रोग, मृत्यु (अशुभ)
शत्रुभय (अशुभ)	कष्टशमन शुभ	वंशहानि (अशुभ)
वायव्य	पश्चिम	नैर्ऋत्य

उत्तर — दक्षिण

दिशाभेद से टंकी की शुभाशुभ व्यवस्था–

इस चक्रानुसार गृहमण्डल या भूखण्ड के चारों ओर कुआं और ट्यूबवेल आदि का भी शुभाशुभ समझना चाहिए। उपर्युक्त चक्र के आलोक में महर्षि वशिष्ठ का मत द्रष्टव्य है–

ऐश्वर्यं पुत्रहानिश्च स्त्रीनाशो निधनं भवेत्।
सम्पच्छत्रुभयं सौख्यं पुष्टिः प्रागादितः क्रमात्॥
मध्यभागे कृते कूपे धनहानिश्च निश्चयात्।[32]

चक्र

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान	मध्य
फल	ऐश्वर्य	पुत्रनाश	स्त्रीनाश	मृत्यु	धनलाभ	शत्रुभय	सुख	पुष्टिः	धनहानि

32. वास्तुरत्नावली 1/पृ. 122

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अतः जलाशयादि-निर्माण-स्थापन से सम्बन्धित विमर्शात्मक कुछ प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं–

1. गृहपिण्ड या गृहक्षेत्र से दिशादि में कूप, तालाब, ट्यूबवेल आदि बनवाने का शुभाशुभ फल महर्षि वशिष्ठ के कथनानुसार ही जानना चाहिए।

2. छत पर पानी की टंकी रखने हेतु पश्चिम की दिशा सर्वाधिक उपयुक्त होती है। क्योंकि यह दिशा जलाधिपति वरुण देव की दिशा है। इस दिशा में जल रक्षण-भण्डारण से जल की कमी कभी नहीं होती तथा इस दिशा में स्थित जल को पीने से स्वास्थ्य अनुकूल एवं शरीर में बलवर्द्धन होता है।

3. किसी आचार्य ने ईशानजन्य जलाशायादि के शुभ होने से कुआं, ट्यूबवेल, टंकी तथा पानी हेतु जलरक्षण मटका, घड़ा, सुराही आदि के ईशान कोण में स्थापन को सर्वोत्तम कहा है। विमर्श करने पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि चाहे पश्चिम दिशा हो या अन्य दिशा, सभी जलाशायादि के लिए शुभ ही हैं। यदि आप वास्तुनियमानुरूप इसका प्रबन्ध करते हैं तो सोने पर सुहागा, अन्यथा सुविधानुसार इन सबकी व्यवस्था सुनिश्चित करना गृह स्वामी के ऊपर निर्भर करता है, जिसमें उसका हित भी होता है।

4. सार्वजनिक स्थल या शहरी पेयजल-आपूर्ति हेतु जलप्रबन्धन टंकी के द्वारा करना हो तो ऐसी टंकी की व्यवस्था स्वतन्त्ररूप से टावरनुमा बनाकर की जाती है। खम्भों के आधार पर निर्मित टंकी की ऊंचाई अधिक होती है। इसके निर्माण की दिशा उपर्युक्त दिशा के प्रभावक्षेत्र में ही होनी चाहिए। इसमें पानी पहुंचाने हेतु विद्युत-मोटर या संयंत्र की व्यवस्था आग्नेयकोण में टंकी से हटकर सुरक्षित स्थान में करनी चाहिए।

5. मध्यभाग अर्थात् आङ्गन में टंकी आदि की व्यवस्था कदापि न करे। आजकल यह देखा जा रहा है कि जहाँ टंकी-नल की व्यवस्था नहीं है, वहाँ जल की आवश्यकतापूर्ति हेतु हैण्डपम्प (ट्यूबवेल) की व्यवस्था लोग आङ्गन में शौचालय कक्ष के सामने या किनारे में करते हैं। यदि ऐसा करना नितान्त आवश्यक हो तो आङ्गन के ईशान-पूर्व में या पश्चिम-वायव्य के मध्यभाग में करे तो शुभ एवं श्रेयस्कर होगा। जैसा कि चित्र में दिखाया जा रहा है–

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

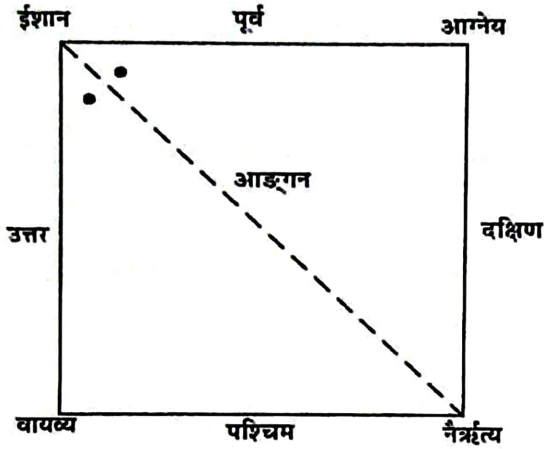

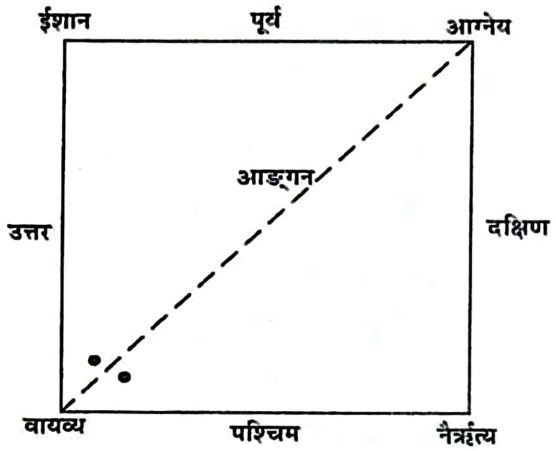

6. यहाँ मतान्तर से जलाशय का तात्पर्य तालाब, बावड़ी, झील आदि से है, जिसमें जल स्थिर रहता हो। आचार्यों ने गृहमण्डल से पूर्वादि दिशाओं में ऐसे जलाशयों के होने के शुभ-अशुभ फल कहे हैं।

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
फल	पुत्र हानि	अग्नि भय	शत्रुभय, विनाश	स्त्री कलह	स्त्रियों में दुष्टता चरित्रहीनता	निर्धनता	धन वृद्धि, लाभ	पुत्र वृद्धि, समृद्धि

आशय यह है कि गृहमण्डल किसी भी जलाशय के किनारे बनाने से पूर्व यह सुनिश्चित कर लें कि आपका गृहमण्डल या भूखण्ड जलाशय के दक्षिण व नैर्ऋत्य कोण की तरफ हो तो अत्यन्त शुभदायक होता है। इसे इस तरह भी जाना जा सकता है कि गृहमण्डल या भूखण्ड के उत्तर एवं ईशान स्थित जलाशय अत्यन्त शुभ एवं श्रेष्ठ होता है। किसी ने जलाशय शब्दार्थ के अन्तर्गत खम्भे पर स्थित ऊर्ध्व (टावरनुमा ऊंची) पानी की टंकी को भी माना है, उसका निर्माण भी उपर्युक्त दिशा के आधार पर करना चाहिए।

7. जल का उपयोग हो जाने के बाद प्रयुक्त जल का प्रवाह दिशादि में होने से वास्तुशास्त्रान्तर्गत शुभाशुभ का विचार बहुत सुस्पष्ट रूप से किया गया है। लोग प्रयुक्त पानी को जैसे-तैसे इधर-उधर बहा देते हैं, यह सर्वथा वास्तु के अनुकूल नहीं होता। अनजाने में

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

इससे वास्तुदोष उत्पन्न होता है। इसलिए थोड़ी सावधानी रखें तो वास्तुदोष से बचा जा सकता है। यथा–

शुभं मृतिश्च निर्धनं क्षयं च पुत्रनाशनम्।
सुखं च राज्यसम्पदा धनं क्रमेण पूर्वतः।।[33]

चक्र

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
शुभाशुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ	शुभ
फल	धनप्राप्ति	मृत्यु रोग	धन नाश	क्षय कलह	पुत्र हानि	सुख प्राप्ति	राज्य सम्पत्ति सर्वसिद्धि	धन सुखप्राप्ति

33. वास्तुरत्नाकर 7/74

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवप्रासाद विधान

डॉ. कैलाश चन्द्र शर्मा

सनातन भारतीय संस्कृति के मूल वेद व वेदाङ्ग हैं। इसके चारों पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, मानव जीवन के बहु आयामी, सफल व्यक्तित्व व समग्र दृष्टि से विकास के द्योतक हैं। सर्वप्रथम पुरुषार्थ धर्म की उपासना हेतु जब मानव मन अग्रसारित होता है तो किसी ब्रह्म या अखिलसृष्टि नियामक तत्त्व का स्वरूप चिन्तन में आता है। इस नियामक तत्त्व की दो विचारधाराएँ साकार व निराकार इस धार्मिक चेतना में व्याप्त हुई और शनै-शनै विकसित होकर निर्गुण व सगुण रूपों का भौतिक स्वरूप भारतीय अध्यात्म जगत पर अवतरित व मुखरित हुआ।

वास्तुशास्त्र उपवेद है और ज्योतिषशास्त्र का अङ्ग भी है, ज्योतिष वेदाङ्गों में नेत्र है जिसकी शरीर में सर्वोत्कृष्ट महत्ता है। इस सम्बन्ध में भास्कराचार्य ने कहा है–

संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चितकरः।।[1]

वर्तमान भौतिक युग में जहाँ चार्वाकीय चिन्तन की प्रधानता ही सर्वत्र दृष्टि गोचर हो रही है ऐसी स्थिति में मात्र कल्पना या शब्द प्रमाण से किसी विचारधारा या विषय अथवा शास्त्र का उपस्थापन सर्वस्वीकार्य होगा यह भ्रम मात्र मानकर उस शास्त्र की प्रतिष्ठा के लिए सतत वैज्ञानिक रीति से स्वाध्याय व चिन्तन मनन द्वारा प्राप्त निष्कर्षो का पूर्णतः वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादन ही एक मात्र साधन है तभी शास्त्र की उपादेयक प्रतिष्ठा समाजगम्य होती है। यथा–

भौतिकज्ञानसंसर्गाद् आधुनिके युगेऽधुना।
एतद् हि वास्तुविज्ञानमाडम्बरं प्रतीयते।।

किन्तु वैज्ञानिकं तथ्यं सर्वथा धटितं भवेत्।
वास्तुविद्भिः स्वानुभूतं, विचिन्तनोदधिस्सृतम्।।

---

1. सिद्धान्तशिरोमणि ग.म.क., श्लोक 11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तु की सामान्य परिभाषा इन शब्दों में जो सकती है कि वास्तु भौतिक रचना है जिसमें विद्यमान शक्ति संचय, मानव जीवन की सर्वविध सौख्य, स्त्री पुत्रों सहित धन एवं विभिन्न कामनाओं की पूर्ति द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती हैं।[2]

वास्तु की यह सामान्य परिभाषा, साधारण व्यक्ति को भी अवगत है। इससे इसकी शास्त्रीय व वैयाकरणीय व्युत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं है। इससे इसमें न सिर्फ आवासीय रचना अपितु सभी प्रकार के स्थापत्यीय घटक यथा नगर योजना, राजनिवास, देवालय, यज्ञशाला, जलाशय, आयुधागार, उद्यान, विपणिकेन्द्र, विद्यालयभवन, आरोग्यभवन, सभाभवनादि सभी रचना विधान समाहित हैं। वास्तु के रचना विधान में भूमिस्वरूप, भूमि चयन, भूमि परीक्षण भूमि के भेद, स्तम्भादि निर्माण, जल स्रोत की व्यवस्था, शल्यशोधन आदि प्रमुख हैं। भूमि का शुभाशुभत्व भवन निर्माण, मानचित्र द्वारा स्वरूपनिर्धारण, द्वारस्थापना, गवाक्षादि विन्यास के साथ-साथ निर्माणारम्भ, वास्तुपूजन गृहप्रवेशादि सभी बिन्दुओं का सूक्ष्मता व गहनता से विचार वास्तुशास्त्र में प्राप्त होता हैं।

वास्तुशास्त्र में मन्दिरों व राजप्रासादों का महत्त्व विशिष्टता लिये हुए है। आदि काल में मन्दिर शब्द का उपयोग गृह, आवास के लिए भी प्रयुक्त होता था, परन्तु परवर्ती साहित्य में यह शब्द देवायतन व देवालयों के लिए प्रयुक्त होने लगा। उत्तरवर्ती काल में मन्दिर भारतीय धार्मिक चेतना व सांस्कृतिक विरासत के सूचक कहलाने लगे। मन्दिरो के निर्माण का भी वैदिक आधार रहा है और इन आधार रूपी व्यवस्था में वेदी या आसन की उपयोगिता सर्वाधिक रही है। यह अवधारणा प्रचलित है कि वेदी का उपस्थापन शास्त्रानुमोदित न होने के कारण देवता उस पर प्रतिष्ठित नहीं होते और साधना या उपासना निष्फल हो जाती है। इसी धारणा ने मन्दिर वास्तु के शास्त्रीय विधान को जन्म दिया जो शनैः शनैः विकसित हुई। इसके पश्चात् इस विधा पर वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विचार और स्वतंत्रग्रंथों की रचना प्रारम्भ हुई। संस्कृत साहित्य को मुगलकालीन समय में तत्कालीन बादशाहों के आक्रामक व पूर्णतः स्वधर्म के प्रति धर्मान्धता के कारण सर्वाधिक हानि हुई। इस विद्या को पूर्ववर्ती शासकों से जितना राज्याश्रय प्राप्त हुआ, वह मुगल काल में गौण हो गया किन्तु तब भी मुगल शासन व्यवस्था के विरोधी शासकों ने संस्कृत साहित्य का संरक्षण व सनातन परम्परा के लेखकों को सम्मान देना अनवरत रूप में जारी रखा। मेवाड़ राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व व उनके शासकों द्वारा संस्कृत साहित्य व ज्ञान विज्ञान का संरक्षण व संवर्धन भारतीय इतिहास के लिए और उसमें भी स्थापत्थ के क्षेत्र में सर्वाधिक चिरस्मरणीय है। तत्कालीन मेवाड़ शासकों ने स्थापत्य की भारतीय परम्परा को नूतन आयामों तक स्थापित करने में सर्वाधिक श्रम किया। जिसके फलस्वरूप स्थापत्य कला के विभिन्न ग्रन्थों की रचना हुई। इन्हीं में

---

2. बृहद्वास्तुमाला 01 : 04

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से एक प्रासादमण्डन ग्रन्थ भी है जिसमें देवालय वास्तु पर स्वतंत्र विचार उपलब्ध होते हैं।

मण्डन सूत्रधार मंगलाचरण में देवों की वन्दना करने के पश्चात् सर्वप्रथम सूत्रधार या वास्तु विधान के आचार्य विश्वकर्मा की कृपा (प्रसाद) मानते हुये ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है यथा-

सृष्ट्याद्यसूत्रधारस्य, प्रासादाद्विश्वकर्मणः।
प्रासादमण्डनं ब्रूते, सूत्रधारेषु मण्डनः॥[3]

भारतीय सभ्यता में देवालय :-

प्राचीन भारतीय राजसत्तात्मक शासन व्यवस्था व वर्तमान लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था दोनों में संघटन व समाज की अन्य शान्तिविधियों का संचालन, उन पर नियंत्रण या उनके सहयोगात्मक रुख का संचालन गुरुकुलों या देव प्रासादों से ही होता था। वेदोत्तरकाल में गुरुकुल व देवालयों की सनातन परम्परा के संरक्षण में विशेषभूमिका होती गई। फलतः देवालयों में सिर्फ अध्यात्मिक उन्नति, सामाजिकता व समाज के उन्नयनादि सभी गतिविधियाँ होने लगीं। अतः देवप्रतिमा के प्रतिष्ठार्थ गर्भगृह के साथ-साथ अन्य कार्यो के लिए भी स्थानाभाव का अनुभव कर उनके योग्य स्थानों का निर्माण भी देवालय में विभिन्न मण्डपों के रुप में साकार हुआ। उन मण्डपों में निम्न कार्य भी होने लगें। यथा-

(i) ज्ञान प्राप्ति।
(ii) शासकों द्वारा परस्पर विचार विनिमय व जनसम्मेलनों का आयोजन।
(iii) धार्मिक एवं आध्यात्मिक उत्थान हेतु समुचित व्यवस्था।

मन्दिरों के आसपास धार्मिक आस्था अत्यन्त बलवान होती है। इस धार्मिक आस्था के प्रेरक उपदेशक/शिक्षक/धर्मगुरु/संन्यासी आदि में से कोई न कोई आश्रम/मठ आदि का भाग होने से इस स्थान का यथोचित उपयोग करता है। राज प्रमुखों द्वारा अपनी नीतियों व कार्यशैलियों के प्रचार हेतु भी इन्हीं प्रासादों का समुचित उपयोग किया जाने लगा जो आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी देखा जाता है। इस प्रकार इन मन्दिरों व प्रासादों का उपयोग मात्र धार्मिक आस्था के रूप में ही नही अपितु जनभावनाओं को जानने व नीतिनिर्णयों के सहायक स्थानों के रूप में भी गणना की जाने लगी।

इसलिए इन प्रासादों के निर्माण हेतु भिन्न-भिन्न नियम, उपनियमों की आवश्यकता हुई। मण्डन सूत्रधार ने प्रासाद निर्माण हेतु अनुकूल समय वर्णित करते हुए प्राण साक्षेपयुक्त भूमि की परीक्षा का निर्देश किया है-

---

3. प्रासादमण्डनम् 01/03

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सर्वदिक्षु प्रवाहो वा प्रागुदकशङ्करप्लवाम्।
भूमिं परीक्ष्य संसिञ्चेत् पञ्चगव्येन कोविदः।।[4]

प्रासाद निर्माण में चतुर्दश प्रासादों का वर्णन मिलता है किन्तु आठ उत्तम स्वीकार्य श्रेष्ठ स्तर के प्रासाद माने गये हैं–

नागरा द्राविडाश्चैव भूमिजा लतिनास्तथा।
सावन्धारा विमानादि नागराः पुष्पकाङ्किताः।।

मिश्रकास्तिलकैः शृङ्गैरष्टौ जातिषु चोत्तमाः।
सर्वदेवेषु कर्त्तव्याः शिवस्यापि विशेषतः।।[5]

इन आठ जातियों के प्रासादों में से ही देव प्रतिमार्थ प्रासाद निर्माण किये जाने चाहिये। देवताओं में से विशेषरूप से भगवान् शिव के लिए तो ये उत्तमोत्तम हैं। देव प्रासाद निर्माण हेतु भूमि परीक्षणानन्तर किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये। इसका विवेचन करते हुये सूत्रधार ने प्रासादमण्डन में स्पष्ट उल्लेख किया हैं कि जिस प्रकार आवासीय वास्तु हेतु विभिन्न नियमोपनियम कहे गये हैं उसी प्रकार देव प्रासादो के लिए भी निर्देश हैं–

देवतानां गृहे चिन्त्यमायाद्यङ्गचतुष्टयम्।
नवाङ्गं नाडीवेधादि स्थापकामरयोर्मिथः।।[6]

जगती विचार :- देवालय निर्माण हेतु भूमि परीक्षण व अन्य प्रारम्भिक सूत्रों से साधित भूमि प्राप्ति के पश्चात प्रासाद निर्माण का अगला सोपान जगती यानि विशिष्ट प्रयोजन वाली भूमि का चयन होता हैं। जगती का देवप्रासाद में वहीं महत्त्व है जो किसी राजपुरुष के लिए सिंहासन का होता है। मण्डन ने जगती की उपादेयता इन शब्दों में प्रतिपादित की है–

प्रासादानमधिष्ठानं, जगती सा निगद्यते।
यथा सिंहासनं राज्ञः प्रासादस्य तथैव सा।।[7]

साथ ही आकार प्रकार निर्देश देते हुये भी लिखा है कि प्रासाद के आकार के अनुरूप ही अधिकतम पाँच आकारों में से एक आकार जगती का रखना चाहिये। ये पाँच आकार हैं–

---

4. प्रासादमण्डनम् 01/12
5. तत्रैव 01/ 7-8
6. तत्रैव श्लोक 01/21
7. प्रासादमण्डनम् अध्याय द्वितीय प्रथम श्लोक

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वर्गाकार (चतुरस्त्र), आयताकार, अष्टकोणाकार वृत्ताकार और वृत्तायताकार (अर्द्धचन्द्रयुत आयताकार)। यथा–

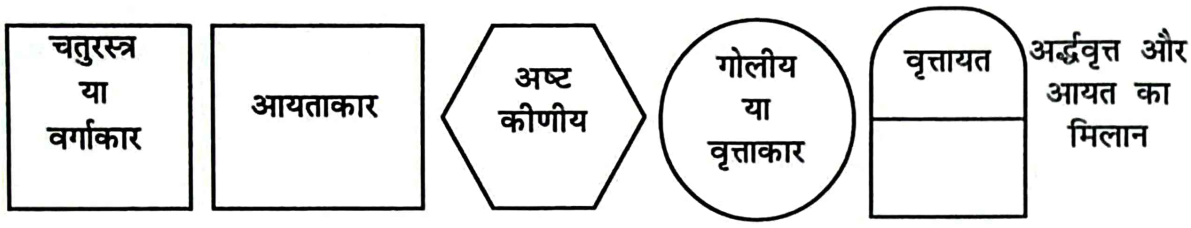

चतुरस्त्रायताष्टासा वृत्ता वृत्तायता तथा।
जगती पञ्चधा प्रोक्ता प्रासादस्यानुरूपतः।।[8]

आकार के साथ-साथ जगती का मान,[9] जगती का उन्नतमान,[10] मण्डप के अनुसार ही जगतीमान को निर्दिष्ट किया गया है। साथ ही जगती के अनुसार ही देवालय में देव भ्रमणिकाओं की भी संख्या,[11] परिमाणादि वर्णित हैं। साथ ही जगती के विभिन्न फालनाओं का वर्णन भी सूत्रधार के प्रासादमण्डन में प्राप्त होता हैं।[12]

मूर्ति स्थापना में भी देवताओं के परस्पर सम्मुख वेध का भी वर्णन एक प्रतिष्ठित धर्मशास्त्रमर्मज्ञ की तरह उल्लिखित हैं। साथ ही देव प्रासाद में वास्तुसम्मत स्थान पर यथा एक देव वाले प्रासाद अथवा अनेकों देवमूर्तियों वाले प्रासाद में मुख्य सहनायक के अनुरूप में जगती के चतुर्दिक् प्रणाल का निर्माण किस रूप व आकार प्रकारादि से हो, यह भली भांति विवेचित है।[13] त्रिदेवों का क्रम भी शास्त्रानुमोदित इस ग्रन्थ में वर्णित है।[14] प्रासाद निर्माण के अन्य अङ्ग प्रासादपीठ की आधारशिला,[15] प्रासादपीठ का गर्भगृह[16] (मण्डोवर,) मण्डोवर की जंघाए, छज्जे, मण्डप की करोट,[17] दर्दरी, द्वारनिर्णय, देहली, पार्श्व में सहायक स्तम्भ,[18] उनके साथ ही उत्तरंग,

---

8. प्रासादमण्डनम् 2/02
9. तत्रैव 2/3
10. तत्रैव 2/9
11. तत्रैव 2/07
12. प्रासादमण्डनम् द्वितीय अध्याय 2/8
13. तत्रैव 2/35
14. तत्रैव 2/46
15. प्रासादमण्डनम् 3/1
16. तत्रैव 03/33, 04/3
17. तत्रैव 3/21-24, 8
18. तत्रैव 3/34

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शिखरनिर्माण,[19] आमलसारविधान,[20] कलशस्थापना पूर्वरचनाविधान,[21] ध्वजहेतु दण्डादि[22] इस ग्रन्थ की उपादेयता को विस्तारित करते हैं।

प्रासादमण्डन में वैराज्यादि प्रासादों की पञ्चीस विधाओं का वर्णन है[23] वहीं प्रासाद जाति के आधार पर भी 25 प्रासादों का वर्गीकरण मिला है।[24] देवप्रासादों के मनोहारी व दर्शनीय निर्माण की परम्परा रही है। जिसमें छज्जा, समघण्ट व शुकनास आदि का समावेश हैं।[25] स्तम्भो की संख्या प्रासाद के अचलत्व व सुरक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। करोट, दर्दरी आदि पर लटकन, घण्टियाँ, या अन्य शोभित चित्रालंकरण, चौदनी (वितानादि) का विभिन्न व लोकानुरञ्जनार्थ निर्माण की प्रविधि प्राप्त होती है।[26] वितान की संख्या तीन तथा अन्य शास्त्रों में चार मानी गई हैं।[27] देवप्रासादों के अत्यन्त समीप ही जलस्थान (वापी, कूप, लघुतडागादि) को समाविष्ट कर पुण्यशाला, विद्यास्थान, व्याख्यान मण्डपादि की संरचना की प्रक्रिया का वर्णन इस ग्रन्थ की सर्वाङ्गीणता को प्रदर्शित करता हैं।[28]

प्रासाद निर्माण में नियम उपनियमों की उपादेयता सर्वविदित है। प्रत्येक देवता व उनकी उपासना मूर्त्ति का आकार-प्रकार और प्रासाद वास्तु का विधान विस्तृत रूप में उपलब्ध है। नियमों के पालन से मूर्त्ति व प्रासादों की संभावित विकृति जन्य दोष को परिमार्जित किया जा सकता है क्योंकि विकार युक्त उपास्यमूर्त्ति व उपासनास्थल किसी भी रूप में समाज व राष्ट्र के लिए अभ्युदयकारी नहीं होते हैं।

प्रासादमण्डन में स्वयं ग्रन्थकार के ग्रन्थ व शास्त्रप्रशंसा की है-

एकेन शास्त्रेण गुणाधिकेन, बिना द्वितीयेन यदार्थसिद्धिः।
तस्मात् प्रकारान्तरो विलोक्य, मणिर्गुणाढ्योऽपि सहायकाङ्गीं।।[29]

---

19. प्रासादमण्डनम् 4/23
20. तत्रैव श्लोक 4/32
21. प्रासादमण्डनम् 4/24
22. तत्रैव 4/40-44
23. प्रासादमण्डनम् 5/3-34
24. प्रासादमण्डनम् 6/1-4
25. प्रासादमण्डनम् 4/26
26. प्रासादमण्डनम् 7/29-35
27. प्रासादमण्डनम् 6/37
28. प्रासादमण्डनम् 7 अध्याय
29. प्रासादमण्डनम् 7/115

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

साथ ही देवप्रासादों की स्थापना के फल को धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति से संयोज्य कर अनायास ही पुरुषार्थ चतुष्टय हेतु पुरुष को मार्गदर्शन दिया है--

देवानां स्थापनं पूजा पापघ्नं दर्शनादिकम्।
धर्मवृद्धिर्भवेदर्थः कामो मोक्षस्ततोनृणाम्।।[30]

अतः वास्तु नियम से आबद्ध देवमूर्त्ति निर्माण व देवप्रासाद में विराजित श्री विग्रह के ही दर्शन से चतुष्टय प्राप्ति होती है।

---

30. प्रासादमण्डनम् 1/34

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वास्तुशास्त्र एवं रोग निर्धारण

डॉ. शुभस्मिता मिश्र

मानव की भौतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाला प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र शिल्प एवं स्थापत्य का सर्वाधिक प्राचीन शास्त्र है। स्थापत्यवेद अथर्ववेद का उपाङ्ग[1] होने के कारण वैदिक काल से ही प्रतिष्ठित है। जिसका विकसित रूप वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। पृथ्वी से निर्मित व पृथ्वी पर स्थित सभी निर्माण वास्तु कहलाता है। **'वसति अस्मिन्निति वास्तु'** वास्तु शब्द के इस व्युत्पत्ति से पृथ्वी पर जहाँ भी मनुष्य वास करता है उसे वास्तु कहते हैं। जिसका मुख्य उद्देश्य है 'एक ऐसा आश्रय स्थल बनवाना जिसमें हम सौरमण्डलान्तर्गत सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों की ऊर्जा एवं पञ्चमहाभूतों की ऊर्जा को अधिक से अधिक प्राप्त करके मानसिक, शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के साथ-साथ सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत कर सकें।' मनुस्मृति में लिखा है कि जिस प्रकार प्राण वायु के आश्रय से सभी जीव जीते हैं और जिस प्रकार नदी, नद, सभी समुद्र में मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम) चलते हैं[2]। गृहस्थाश्रमी से ही सभी अन्न प्राप्त करके जीवन निर्वाह करते हैं, अत एव गृहस्थाश्रम ही सबसे श्रेष्ठ है। जैसाकि कहा गया है–

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही[3]॥

गृहस्थ का समस्त वैदिक और लौकिक श्रौत-स्मार्तादि गृह के बिना सफल नहीं है। यथा–

गृहथस्य क्रियाः सर्वा न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।[4]

तथा

---

1. आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः।
   स्थापत्यं चासीत् वेदं क्रमात् पूर्वादिभिमुखैः॥ भागवत, 3.12.38।
2. यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिन्।
   तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ मनुस्मृति, अ. 6, श्लोक, 90
3. मनुस्मृति, अ. 6, श्लोक, 77-78
4. वास्तुसौख्यम, अ,1 ,श्लोक 7

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

परगेहकृतास्सर्वाः श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।[5]

सुख, यश, धन, आरोग्य, हेतु गृह का निर्माण करना चाहिए।

निरूपयामो विदुषां सन्तुष्ट्यै वास्तुनिर्णयम्।
यथामति धनारोग्यसौख्यकीर्तिविवर्द्धये।।[6]

त्रिवर्ग धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन करते हुए धार्मिक समाज का निर्माण करने के लिये गृहस्थ को गृह की परमावश्यकता होती है। जैसाकि कूर्म पुराण में महर्षि व्यास ने कहा है–

त्रिवर्गसेवी सततं देवतानां च पूजनम्।
कुर्यादहरहर्नित्यं नमस्येत् प्रयतः सुरात्।।
विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्।।[7]

गृह वास्तु अनुकूल होना चाहिए जिससे गृहस्थ धन, सुख, यश एवं आरोग्य को प्राप्त कर सके। भारतीय ऋषियों ने गृह की भौतिक उपयोगिता के साथ-साथ आध्यात्मिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए वास्तुशास्त्र की रचना की। जिस शास्त्र के माध्यम से मानव समाज सुखपूर्वक, स्वास्थ्यपूर्ण एवं शान्ति सहित जीवन व्यतीत कर सके। शुभ मुहूर्त में निर्मित गृह सुख, आरोग्यादि प्रदान करता है एवं अशुभ मुहूर्त्त में रोगवृद्धि, सन्तान का अभाव, धनहानि, दुःख, कष्ट आदि बना रहता है। वास्तुशास्त्रोक्त नियमों के पालन से गृहस्थ चिरसुखी, निरोग एवं शान्ति से जीवन व्यतीत करता है। अथर्ववेद में चिन्ता और शोक को भी रोगों का कारण माना गया है। **मा गतानामा दीर्घाया ये नयन्ति परावतम्**[8]। स्वस्थ मन ही स्वस्थ शरीर का निर्माण करता है। सुख की निद्रा और सुखपूर्वक जागना, इन्द्रियाँ प्रसन्नता से युक्त हो, मन प्रसन्नता से युक्त हो, शरीर में बल, वर्ण और आयु की वृद्धि और पाचन क्रिया सही हो, ये सभी गुण स्वस्थता के लक्षण हैं। इससे विपरीत लक्षण अस्वस्थता के परिचायक हैं अर्थात् शारीरिक मानसिक समृद्धि को ही स्वस्थता कहा जाता है।

प्रकृति के हर पदार्थ एवं हर स्थान का अपना गुणधर्म एवं प्रभाव होता है, यही कारण है कि जब हम किसी नये स्थान पर जाते हैं, तो हमारे मन में उत्साह वा दुःख की अनुभूति होती है इसी प्रकार किसी स्थान पर निवास करने से उन्नति होती है तो किसी स्थान पर निवास करने

5. वास्तृसौख्यम, अ,1 ,श्लोक 8
6. वास्तुसौख्यम्, अ,1 ,श्लोक 5
7. कू.पु.2,15,25-26।
8. अ.वेद, 8.1.8

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से अवनति, ठीक उसी प्रकार किसी भवन में निवास करने से स्वास्थ्य लाभ होता है तो किसी भवन में निवास करने से स्वास्थ्य की हानि, वस्तुतः ये सारी स्थितियाँ भूमि एवं उस पर निर्मित भवन के प्रभाव के कारण होता है। आज का मानव एक दूसरे को पीछे छोड़ने के लिए दिन भर कठिन परिश्रम करता है, दिन भर की थकान को मिटाने के लिए अपने घर आता है, किन्तु यदि गृह का वास्तु सही नहीं हो तो शारीरिक थकान मिटने के स्थान पर वह और थक जाते है, जिसके कारण मानव धीरे-धीरे बीमार होता जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि घर का वातावरण स्वास्थ्य के अनुकूल एवं वास्तु की दृष्टि से शुद्ध हो। अतः गृह निर्माण से पहले सर्वप्रथम निवास योग्य भूमि का चयन करना चाहिए। जिस भूमि पर जाते ही मन और आँख प्रसन्न हो जाए वह भूमि वास्तु योग्य है[9]।

1. भूमि परीक्षण के आधार पर रोग विचार–

नैर्ऋत्य कोण, पश्चिम दिशा, दक्षिण दिशा, वायव्य कोण और आग्नेय कोण में तथा मध्य भाग में जो भूमि दबी हुई हो तो वह व्याधि, दरिद्रता एवं मृत्युवाहिका भूमि होती है[10]। विकर्ण भूमि से कान सम्बन्धी रोग होते हैं[11]। वायव्य में भूमि ढालदार हो तो मानसिक उद्वेग उत्पन्न करता है[12]। उत्तर के मध्य में ऊँची भूमि को रोगकारक वास्तु कहते हैं। इस भूमि में वास करने पर रोग का प्रकोप रहता है[13]। दक्षिण दिशा में ऊँची भूमि ही आरोग्य प्रदान करती है[14]। भूमि परीक्षण काल में जला हुआ काष्ठ मिले तो रोग भय होता है[15]। उत्तर में गूलर वृक्ष उदर एवं कुक्षि रोग कारक होता है[16]। भूमि में केश मिले तो रोग[17]। पश्चिम की ओर लम्बी, दक्षिण एवं पश्चिम में ऊँची भूमि नागपृष्ठ भूमि होती है। इस भूमि में निवास करने पर गृहेश का मन हमेशा अशान्त रहता है[18]। वायस नामक आय रोगदायक होता है[19]। भूमि परीक्षण के समय वास्तु पुरुष के पृष्ठ स्थान पर

---

9. मनसश्चक्षुषोर्यत्र सन्तोषो जायते भुवि।
   तस्यां कार्यं गृहं सर्वैरिति गर्गादिसम्मतम्।। वृ. वास्तुमाला, पृ.18, श्लोक 93।
10. स. सू. अ. 48, श्लोक 15
11. वृ. वास्तुमाला, पृ.18, श्लोक 93
12. वृ. वास्तुमाला, पृ.9, श्लोक 39
13. वृ. वास्तुमाला, पृ.15, श्लोक 52
14. वृ. वास्तुमाला, पृ.14, श्लोक 69-70
15. वृ. वास्तुमाला, पृ.15, श्लोक 75
16. वृ. वास्तुमाला, पृ.15, श्लोक 73
17. वृ. वास्तुमाला, पृ.23, श्लोक 112
18. वृ. वास्तुमाला, पृ.17, श्लोक 88
19. वृ. वास्तुमाला, पृ.51, श्लोक 5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

खनन करने से भय, पीड़ा एवं रोग होता है[20]। नगर एवं नगर में वास करने वाले की एक राशि वाले की एक राशि वा परस्पर सप्तम राशि हो तो शत्रुता, तीसरी या छठी राशि हों तो हानि, चौथी, आठवीं एवं बारहवीं राशि हो तो रोग तथा अन्य राशियाँ हो तो शुभ होता है[21]। भवन से जल का प्रवाह दक्षिण दिशा में होने पर गृहपति को रोगभय होता है[22]।

2. भूमि एवं भवन की आकृति के आधार पर रोग-विचार–

भूमि की आकृति वास करने वाले को प्रभावित करती है। यदि भवन दोनों ही अन्तों अर्थात् ऊपर नीचे या दायें-बायें सिकुड़ा हुआ और मध्य में विस्तृत हो तो वह मृदंगाकृति संस्थान कहलाता है, जिसके कारण गृहस्वामी को सर्वदा व्याधियों का भय रहता है[23]। भूमि की आकृति यदि कुम्भकार हो तो कुष्ठ रोग देता है। भूमि की आकृति यदि विषय हो तो शोक देता है[24]। जिस नगर के कोने फटे हों वह छिन्नकर्ण नामक निन्दित पुर है। छिन्नकर्ण एवं सूचीमुखकार वाले निन्दित पुरों में निवास करने वाला व्यक्ति व्याधियों से पीड़ित होता है। सूचीमुखाकार वाले भूमि में निवास करने से गृही भुखमरी जन्य व्याधियों से पीड़ित होता है[25]। व्यंजनाकार वाले पुर चंचलचित्त एवं वातव्याधियों से युक्त होता है एवं शकटद्विसमाकार वाले पुर में भी लोग रोग से पीड़ित होते हैं[26]। साँप की कुण्डली की तरह सर्पचक्राकार वाले पुर में लोग नाना रोग से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं।[27] अतः जो पुर छिन्नकर्णाकार, सूचीमुखाकार, व्यजनाकार, सर्पाकार एवं शकटादि समाकार हों वह वासयोग्य नहीं होता है। ये सभी निन्दित पुर हैं, इस में वास करना रोग को निमन्त्रण देना होता है। वर्त्तुलाकार पुर में रहने वाले लोग अपने स्वामी के साथ ही विविध प्रकार के रोग से पीड़ित होकर क्षय को प्राप्त होते हैं[28]। किसी वास्तु क्षेत्र में जिस अंग पर मार्ग निकाला गया है, उस अंग का वास्तु उससे कटा हुआ माना जाता है। कटे हुए वास्तु पर भवन निर्माण करने से भवन का वह भाग छिन्नांग कहा जायेगा। ऐसा भवन गृहस्वामी के लिए भयप्रद एवं सर्वदोषकारी होता है। ऐसा छिन्नांग युक्त वास्तु गृहस्वामी के भी उसी अंग को भंग करने वाला होता है तथा ऐसे भवन का वेध भी विपरीत फल को देने वाला होता है[29]। चिनाई करते-करते भवन

20. वा. सौ. भा. 4, श्लोक 88
21. बृहदैवज्ञरञ्जन, प्र. 86, श्लोक 20
22. वा.र.अ. 7, श्लोक 74
23. स. सू. अ. 48, श्लोक 15
24. बृहदैवज्ञरञ्जन, प्र. 86, श्लोक 52, 54
25. स. सू. अ. 10, श्लोक 55-58
26. स. सू. अ. 60, श्लोक 60-62
27. स. सू. अ. 10, श्लोक 59
28. स. सू. अ. 10, श्लोक 59
29. स. सू. अ. 48, श्लोक 22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की दक्षिणी दीवार बाहर की ओर निकल जाए तो उससे गृहपति को व्याधि का भय एवं राजदण्ड प्राप्त होता है[30]। विकर्ण भूमि पर गृह निर्माण करने से कान सम्बन्धी रोग होते हैं[31]। देवागार, देवता के मंदिर तथा घर वास्तुपुरुष के सिर के सम्मुख कभी भी नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर नित्य ही रोग और मृत्यु का भय बना रहता है[32]।

3. मुहूर्त्त के आधार पर रोग विचार-

मार्गशीर्ष, फाल्गुन, वैशाख, माघ, श्रावण और कार्तिक मास में गृह आदि का निर्माण करने से पुत्र तथा स्वास्थ्य लाभ होता है[33]। कन्या राशि गत सूर्य में गृह निर्माण रोगदायक होता है[34]। श्रीपति के मत में मीन, धनु, कन्या एवं मिथुन राशिगत सूर्य में गृह निर्माण करने पर रोग और शोक मिलता है[35]। तृतीया तिथि में द्वार स्थापन करने पर रोग होता है[36]। जन्मलग्न एवं जन्मराशि में गृह प्रवेश करने पर रोग का नाश होता है[37]। विपत, प्रत्यरि, निधन तारा के नक्षत्रों में गृहारम्भ वा पिण्डादि निर्माण करने से दुःख और व्याधि का भय होता है[38]। गृहारम्भ ध्वाक्ष (कौवा) आय में करने पर रोग होता है[39]। प्रवेश काल में प्रवेशकर्त्ता का जन्मलग्न और जन्मराशि नवें में हो तो रोग की अधिकता होती है[40]। यदि सूर्य मीन, मेष और वृष राशि पर स्थित हो तब भवनादि का मुख पश्चिम दिशा की ओर नहीं रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर घर की स्त्रियों में महाघोर रोग अतिदारुण रूप से बढ़ने का भय बना रहता है[41]।

4. द्वार के आधार पर रोग विचार-

गृहादि में प्रवेश चार प्रकार के कहे गए हैं-1. उत्संग प्रवेश, 2. पूर्णबाहु प्रवेश, 3. हीनबाहु और 4. प्रत्यक्षाय प्रवेश। उत्संग नामक प्रवेश का उपयोग करने से कुटुम्बी के लिए सन्तान की हानि होती है, उसे धन-धान्य की हानि एवं निश्चित मृत्यु होती है। हीनबाहु संज्ञक प्रवेशोपयोग से गृहस्वामी अल्प बन्धु-बान्धवों वाला होता है। अल्प धन वाला, स्त्रियों के बल पर जीवित रहने

30. स. सू. अ. 48, श्लोक 44
31. स. सू. अ. 48, श्लोक 15
32. अपराजितपृच्छा, सूत्र 62, श्लोक 7
33. वृ. वास्तुमाला, पृ.67, श्लोक 50
34. वृ. वास्तुमाला, पृ.68, श्लोक 54
35. वृ. वास्तुमाला, पृ.69, श्लोक 57
36. वृ. वास्तुमाला, पृ.99, श्लोक 171
37. वृ. वास्तुमाला, पृ.106, श्लोक 15
38. वा. सौ. भा. 6, श्लोक 165
39. दैवज्ञरञ्जन, प्र. 86, श्लोक 78
40. वास्तुसार, गृहदोषप्रकरण, श्लोक 23
41. अपराजितपृच्छा, सूत्र 62, श्लोक 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वाला तथा बीमारियों से पीड़ित रहता है[42]। कुँए से वेधित गृह द्वार अपस्मार रोग को देने वाला होता है[43]। इसी प्रकार द्वार यदि श्वभ्र अर्थात् दरार या खड्ढे से विद्ध हो तो व्याधि एवं धन का क्षय होता है। यदि वापी-बावड़ी से द्वार का वेध हो तो गृहपति को सन्निपात का भय होता है। यदि द्वार का कुल्या अर्थात् नहर एवं जलाशय से वेध हो तो गृहपति को आकृति का दिखाई देना बन्द हो जाता है अर्थात् अंधा हो जाता है। यदि कुलालचक्र द्वार के सामने पड़ता हो तो गृहपति को हृदय रोग होता है। कचकूट अर्थात् कुम्हार के कीचड़-मिट्टी गूँथने के स्थान से द्वार का वेध हो तो गृहपति को रोग-व्याधि एवं आपाक (जहाँ मृदभाण्डों को आग में पकाया जाता है) से विद्ध हो तो सुतक्षय होता है। यदि द्वार के सामने ही ऊखल हो तो अश्मरी रोग होता है एवं भस्म के द्वारा द्वार का वेध होता है तो गृहपति अर्श (बवासीर) तथा मस्सा का रोगी होता है। वास्तुसार के अनुसार भस्म से बवासीर आदि दोष होता है[44]। यदि द्वार पर तुला या उपतुला तिरछी लग जाए तो उससे गृहस्वामी को निर्धनता, व्याधि एवं सन्ताप होता है[45]। गृह निर्माण में द्वार पर इन्द्रकील का प्रयोग नहीं करना चाहिए। शुकनासिका, तुम्बी, अर्धवंश का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सर्वदोषावह कहे गए हैं। गृह का द्वार यदि अपने आप खुलता हो तो उन्माद रोग करता है[46]। स्थापित द्वार के संरोध होने पर गृह-स्वामी को अपस्मार रोग होता है और वहाँ पर द्वार बनाने पर अनर्थ होता है। पूर्व दिशा के द्वार को बन्द कर अन्यत्र नया द्वार बनाने से कानों एवं शिर का रोग होता है। इनमें दोष अधिक समय तक रहता है[47]। भवन में स्थापित द्वार के आगे की ओर रुकावट होने पर गृहस्थ को पथरी रोग की आशंका होती है। द्वार पर अवरोध खड़ा कर दिए जाने पर अनर्थ ही होता है[48]। यदि कोई व्यक्ति पहले के बने हुये द्वार को रोककर नया मार्ग खोलने का प्रयास करता है तो वह अनुचित है। भवन के श्रोत्र अर्थात् दोनों ओर की खिड़कियाँ या कोने रोक दिये जाने पर पथरी रोग होता है, कानों से सुनाई देना बन्द हो जाता है[49]। प्रमाण से कम द्वार चोर भय और शारीरिक कष्ट को देने वाला होता है[50]। चौंसठ पद वास्तु के दक्षिण भाग गत आठ पद में से अष्टम भाग में द्वार नहीं बनाना चाहिए यह द्वार गृहेश के लिए रोग भय करता है[51]। एकाशीति

42. स. सू. अ. 48, श्लोक 30
43. स. सू. अ. 48, श्लोक 84, वृ. वास्तुमाला, पृ.94,श्लोक 155
44. वास्तुसार, गृहदोषप्रकरण, श्लोक 89
45. स. सू. अ. 48, श्लोक 86-87
46. वृ. वास्तुमाला, पृ.94,श्लोक 156,158
47. वास्तुसार, गृहदोषप्रकरण, श्लोक 41-42
48. स. सू. अ. 48, श्लोक 41
49. स. सू. अ. 48, श्लोक 42
50. वृ. वास्तुमाला, पृ.96,श्लोक 165
51. वा. सौ. भा. 9, श्लोक 327

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

पद वास्तु के पश्चिम भाग गत अष्टम पद गत पापयक्ष्मा पर द्वार निर्माण से रोग भय होता है[52]। जिस गृह का द्वार तुला, स्तम्भ एवं गवाक्षों से पीड़ित हो अर्थात् ये गृहद्वार और मुख द्वार के मध्य में पड़ते हों तो गृहेश के लिए रोग, पीड़ा का कारक होता है[53]। भवन पर सूर्य के कारण अर्थात् उदय एवं अस्तकाल में पड़ने वाली किसी पेड़ की छाया अथवा किसी ध्वज की छाया गर्हित होती है। ये छायाएँ यदि द्वार के आगे बढ़ आती हों तो भुखमरी, व्याधि और कलह कराने वाली होती है[54]। यदि द्वार बाहर की ओर झुका हुआ हो तो गृहपति को प्रवास, दिशाएँ भ्रान्त होने पर दस्युओं का भय एवं यदि मूलद्वार अन्य किसी अन्तर-द्वार से विद्ध हो तो गृहपति क्षयरोग से ग्रस्त होता है[55]। अतिपीड़ित द्वार पीड़ा करने वाला होता है। अपने आप उद्घाटित द्वार उच्चाटनकारी होता है। जो द्वार अपने आप बंद हो जाता है वह बड़ा दुःखदायी होता है। आवाज के साथ बन्द होने वाला द्वार भी भयकारक, पाद-शीतल और गर्भ-पातक होता है[56]। स्तम्भों के द्वारा अथवा द्वार मध्यों के द्वारा अथवा तुलाओं, नागपाशकों, वातायनों और नागदन्तों के द्वारा, द्वार-मध्य निपीड़ित होने पर व्याधियाँ बढ़ती हैं[57]। वितथ के पद पर द्वार होने से गृहस्वामी को सदा के लिए बीमारी बनी रहती है, यम के पद पर द्वार बनाने से मृत्युदायक, रोग के पद पर द्वार बनाने से तत्काल उच्चाटन, नाग के पद पर द्वार बनाने से उन्माद रोग होने का भय, पर्वत के पद पर द्वार बनाने से तत्काल उच्चाटन बना रहता है[58]।

5. मर्म के आधार पर रोग विचार–

वास्तुविद्या ग्रन्थानुसार गृह वास्तुकर्म में किसी भी प्रकार कोई मर्म स्थान आहत नहीं होना चाहिए यदि कोई मर्म स्थान पीड़ित होता है तो क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण ही नहीं, अपितु पशुओं को भी पीड़ा होती है। जो शिल्पी त्रुटिवश भी ऐसा करता है तो उसकी सन्तान, पत्नी, भ्राता और सम्बन्धियों को भी पीड़ा पहुँचती है। यदि मूर्धा स्थान अर्थात् ईश पद, मुख अर्थात् आप, कण्ठ अर्थात् आपवत्स, हृदय अर्थात् ब्रह्मपद पीड़ित होते हैं तो उनके फल मरण होता है। उरु अर्थात् महेन्द्रादि स्थान के विद्ध होने पर हृदय रोग, उरु अर्थात् यम-वरुण के स्थान के विद्ध होने पर बन्धुओं या पत्नी की मृत्यु होती है। गुह्य अर्थात् इन्द्र स्थान के विद्ध होने पर पुत्र का नाश और अष्टसूत्र के सन्धि स्थल के विद्ध होने पर गर्भ स्खलन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य पदों के विद्ध

52. वा. सौ. भा. 9, श्लोक 334
53. स. सू. अ. 13, श्लोक 17
54. स. सू. अ. 48, श्लोक 65
55. स. सू. अ. 48, श्लोक 82
56. वास्तुसार, गृहदोषप्रकरण, श्लोक 73-74
57. वास्तुसार, गृहदोषप्रकरण, श्लोक 122-124
58. अपराजितपृच्छा, सूत्र 101, श्लोक 4,5,8,9

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

होने पर शत्रुओं की वृद्धि, चार पदों के विद्ध होन पर स्वजनों का क्षय, पाँच पदों के विद्ध होने पर व्याधि हाती है[59]। वास्तु पुरुष का मर्मस्थान यदि हड्डी से दूषित हो तो रोग भय होता है[60]। वास्तु पुरुष के शिर से हीन गृह में गृह स्वामी धन, धान्य, सुख, समृद्धि एवं आरोग्यादि सभी सुखों को प्राप्त करता है[61]। वास्तु पुरुष का जो मर्मस्थान पात्र, उपकरण, कील, स्तम्भ, पाषाण एवं शल्यादि वस्तुओं से पीड़ित हो गृह स्वामी का वही अंग रोग से पीड़ित होता है[62]। समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि वास्तुपद न्यास के अनुसार गृह में जिस स्थान पर भित्ति, स्तम्भ और तुलादि के कारण मर्मस्थल पीड़ित होता हो, वहाँ भित्ति आदि के प्रमाण में न्यूनाधिक्यता करते हुये मर्मपीड़ा का सर्वसम्भव त्याग करना चाहिए। व्यक्ति को चाहिये कि जहाँ निर्मिति को घटाना हो वहाँ घटाये तथा जहाँ बढ़ाना हो वहाँ बढ़ाए[63]। मर्मस्थानों के अन्तर्गत कायों के विद्यमान रहने से गृहपति की काया को पीड़ा पहुँचती है। यदि सन्धिपाल मर्मस्थ हों तो मित्रों, शुभचिन्तकों का मरण होता है[64]। वास्तुओं में विभाग से हीन एवं पद से हीन रूपस्थान के अन्तर्गत यक्षमातृ क्रिया अर्थात् किंवाड़ की अर्गल क्रिया एवं ताला आदि के क्रियान्वयन पर रोग एवं मृत्यु होने में कोई संशय नहीं जानना चाहिए[65]।

6. मूषा के आधार रोग विचार-

यदि मूषाओं को अपने स्थान के विपरीत, अनुचित स्थान पर योजित कर दिया जाए तो शालाओं के स्वरूप में भेद हो जाता है। ऐसे शाला वा भवनों में रहने वाला रोग सहित दुःख एवं मृत्यु को प्राप्त होता है। षष्ठ, अष्टम के साथ पंचम मूषा सहित बनने वाले भवन दुर्गम गृह कहा जाता है जो व्याधिकारक होता है[66]। प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ एवं सप्तम मूषा वाला गृह रोग संज्ञक होता है, जो रोग एवं कष्ट कारक होता है[67]। प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं आठवीं मूषा वाला गृह क्षय संज्ञक होता है जो समस्त रोगों और भयों को देने वाला होता है[68]। प्रथम, द्वितीय मूषा से संयोजित गृह

---

59. स्थानान्येतानि वास्तोर्गृहकरणविधौ पीडयेन्नैव विद्वान् वर्जयेत् कुड्यमध्ये च नाडीरज्ज्वादिसङ्गमम्।। वास्तुविद्या, अ. 8, श्लोक 18-22
60. वा. सौ. भा. 8, श्लोक 309
61. वा. सौ. भा. 8, श्लोक 319
62. वा. सौ. भा. 8, श्लोक 307
63. स. सू. अ. 24, श्लोक 23-24
64. स. सू. अ. 48, श्लोक 119
65. स. सू. अ. 48, श्लोक 129
66. स. सू. अ. 19, श्लोक 119
67. स. सू. अ. 19, श्लोक 149
68. स. सू. अ. 19, श्लोक 155

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

की संज्ञा होती है, इसमें निवास करने से गृहपति रोग से ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त करता है[69]। द्वितीय, तृतीय मूषा का वहन कर्त्ता गृह काल संज्ञक है, इसमें निवास से गृह स्वामी के पत्नी का विनाश करता है[70]। वैवस्वत नामक गृह में चतुर्थ व प्रथम मूषा होती है, जो रोगकारक कहा गया है।

7. शाल गृह के आधार पर रोग विचार-

मुख्यतया द्विशाल गृहों की संख्या छह हैं- 1. सिद्धार्थ, 2. यमसूर्य, 3. दण्ड, 4. वात, 5. चुल्ली एवं 6. काच। उत्तर-पश्चिम का द्विशाल गृह यमसूर्य संज्ञक होता है, जो सर्वदा मृत्यु या मृत्युतुल्य कष्ट प्रदाता एवं विविध प्रकार के भय देने वाला होता है[71]। वात एवं चुल्ली संज्ञक गृह उद्वेगकारक होता है। वायव्य कोण में हलक गृह को रोग कारक कहा जाता है, जो व्याधियों को बढ़ाने वाला होता है। वास्तुपद न्यास के अनुसार पितृ एवं रोग संज्ञक देवताश्रित कोण पदों पर हलक से बनने वाला गृह भयप्रद नाम वाला होता है, जो रोग और मृत्युदाता होता है[72]। यदि वायव्य, नैर्ऋत्य और ईशान कोणों में शाला हलक सहित हो तो वह लोगों के लिए व्याधिकारक और विनाशकारी सिद्ध होती है[73]। जिस वास्तु परिसर में पश्चिमभिमुख दो शालाओं का नियोजन होता है, उस गृह को विकोकिल कहा जाता है। ऐसे भवन में निवास करने पर आयु क्षीण होती है और पशुधन सहित धान्य का भी नाश होता है। भवन में यदि जयन्तियाँ बीम से मिल जाती है तो गृहपति को सम्पदा एवं आयु की अल्पता तथा अनारोग्य होता है। यदि शहतीर, पाट किसी तरह भी मध्य वेध से दूषित हो तो गृहपति का सिर फूटता है। भवन के अनुवंश वा बीम के नीचे बैठकर कभी भोजन नहीं करना चाहिए। बीम के नीचे शयन भी नहीं करें क्योंकि बीम के नीचे भोजन करने से अर्थ का नाश एवं शयन करने से असाध्य रोग होता है[74]। बीम के नीचे भोजन व शयन से विनाश एवं रोग होता है। शयनागार में नागदन्त के प्रयोग से गृहपति की मृत्य होती है[75]। यदि समृद्धि के कारण गृहपति गृह का विस्तार करना चाहता है तो वृद्धि सभी दिशाओं में करनी चाहिए क्योंकि एक दिशा में गृह की वृद्धि अनिष्ट फल को देती है। गृह का विस्तार केवल उत्तर में किया जाए तो गृहस्वामी को मनस्ताप होता है[76]। नये घर में नूतन काष्ठ एवं पुराने घर में पुराना काष्ठ का प्रयोग

---

69. स. सू. अ. 22, श्लोक 28
70. स. सू. अ. 22, श्लोक 29
71. स. सू. अ. 22, श्लोक 8
72. स. सू. अ. 24, श्लोक 9
73. स. सू. अ. 24, श्लोक 16
74. स. सू. अ. 48, श्लोक 104
75. स. सू. अ. 48, श्लोक 105-107
76. वास्तुराजवल्लभ अ. 5, श्लोक 40

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शुभ माना जाता है। एक गृह में लगे काष्ठ को निकालकर दूसरे गृह में लगाने से गृहस्वामी का गृह में निवास नहीं होता है अर्थात् उद्वेग रहता है[77]। भवनों के अलिन्दों के संयोग से ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, पक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजय अलग-अलग सोलह गृहों के भेद हैं। मनोरम संज्ञक अलिन्द में आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य और गृह स्वामी की मनस्तुष्टि तथा क्रूर संज्ञक अलिन्द में व्याधि का भय होता है[78]। यदि किसी गृह की नैर्ऋत्य दिशा से लगी हुई शाला बाहर की ओर बनी हुई हो तो उसे नैर्ऋत्य वास्तु कहते हैं। इस वास्तु में निवास करने से गृहपति को इतनी व्याधियाँ होती है कि मृत्यु का संकट उत्पन्न हो जाता है[79]।

8. रोग के अन्य कारण–

सूत्र प्रसारण के समय गाड़ते हुए कील अधोमुख हो जाए गृहस्वामी भयंकर रोग से पीड़ित होता है। पूजा के लिए जाते समय घड़ा कन्धे से खिसक जाये तो स्वामी को शिर में रोग होता है[80]। यदि शय्या के ईश के मध्य भाग में छिद्र हो तो वह शय्या मृत्युकारक होती है। तीसरे भाग में छिद्र हो तो व्याधिकारक तथा चौथे भाग में छिद्र हो तो क्लेशप्रद होती है। गृह में योजित स्तम्भ और उनके अंगों, दीवारों व उनके पट्टों, शीर्षक-छतों, आलोकनक, तोरण, छाद्यकों, कन्द-कूटकों, हीरशाखाओं एवं उनके उत्तमांगों, तुला, सन्धिपालकों, अर्गल, वेदिका, व्यालों जालियों आदि के नवीनीकरण आदि के कारण यदि घात होता हो, गिर जाते हों या नष्ट होते हों तो गृहपति को निश्चय ही व्याधि होगी, तद्जन्य बहुत दुःख व पीड़ा होगी और धन की कमी होगी[81]। भवन में लेपरूप या लेप चित्रों में, रङ्गीन चित्रों में पाषाणोत्पातपट्टकम् या एक दूसरे पर पथराव करते हुए, उत्पात मचाते हुए दिखाई देने वाले चित्रपटों को कभी भी प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। ऐसा होने पर भवन में लोगों को सौभाग्यादि नहीं मिलता है। यदि भवन में रहने वाले लोगों को कोई क्लेश या दुःख नहीं हो तो भी वहाँ के लोगों में ऐसे चित्रों के कारण वात रोग होने की आशंका रहती है[82]।

वस्तुतः गृह में पञ्चतत्त्वों का समन्वय परमावश्यक होता है क्योंकि प्रकृति की रचना का मूल स्रोत पञ्चतत्त्व अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु हैं। भारतीय वास्तुशास्त्र के मर्मज्ञों ने मानव जीवन के कल्याणार्थ पर्यावरण की रक्षा, प्रकृति की निकटता से रोगों का उपचार एवं

---

77. वा. र. अ. 6, श्लोक 16-18
78. वास्तुसार, गृहदोषप्रकरण, श्लोक 6-10
79. अपराजितपृच्छा, सूत्र 63, श्लोक 27
80. वा. सौ. भा. 4, श्लोक 53, 54
81. स. सू. अ. 48, श्लोक 133-135
82. तथा च लोपरूपाणि पाषाणोत्पातपट्टकम्। वर्जयेद् राजगेहेषु लक्ष्मीस्तत्र न विद्यते।।
अक्लेशां च वनस्तस्य वातरोगोऽपि जायते। अपराजितपृच्छा, सूत्र 92, श्लोक 26, 27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्वास्थ्य विषयक आवश्यक विषयों को ध्यान में रखकर वास्तु सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों का निरूपण किया क्योंकि प्रकृति में स्थित पञ्चतत्त्वों का सही उपयोग न करने पर, प्रकृति के विरूद्ध काम करने पर हमारी ऊर्जा प्रभावित होती है, जिसके परिणामस्वरूप हम अस्वस्थ हो जाते हैं। अतः इन पञ्चतत्त्वों का संतुलन बनाए रखना परमावश्यक है। गृह निर्माणादि के समय निर्धारित दिशाओं में विचलन होने से वास्तु दोष उत्पन्न होते हैं। ईशान कोण भारी होने से तथा उत्तर का भाग ऊँचा होने से स्त्री वर्ग का स्वास्थ्य खराब होता है। ब्रह्म स्थान का सम्बन्ध आकाश तत्त्व से है। इस स्थान पर कोई भारी वस्तु रखने से गृह में रहने वाले लोग विविध रोगों से पीड़ित होते हैं। वायव्य कोण को खुला रखना चाहिए अन्यथा वायु विकार एवं मानसिक रोग होने संभावना होती है। उत्तर में अधिक स्थान छोड़कर गृह का निर्माण करने से परिवार की महिलाओं को त्वचा संबन्धी रोग होता है। यदि गृह के आग्नेय कोण में जल स्रोत और दक्षिण दिशा में पानी की टंकी हो तो घर में वास करने वाले तनाव, माईग्रेन, हैजा, टीवी आदि रोग से पीड़ित होते हैं। वास्तु उपयोगी भूमि परीक्षण तथा भूमिगत दोष को दूर करके पृथ्वी तत्त्व को सही किया सकता है। गृह में टंकी, बोरिंग, जल भंडार, नल और पानी के बहाव को उत्तर में रखकर जल तत्त्व को सही किया जा सकता है। पाकशाला, खाना बनाने का चूल्हा, स्टोव, माइक्रोवेव, बिजली का मीटर, कम्प्यूटर, टीवी आदि को आग्नेय दिशा में रखकर अग्नितत्त्व को सही किया जा सकता है। गृह की खिड़कियों, रोशनदान, द्वार, कूलर आदि के द्वारा वायु के आगमन एवं निर्गमन की सही व्यवस्था से वायु तत्त्व का एवं गृह के मध्य भाग को स्वच्छ एवं खुला रखकर, दीवार की ऊँचाई को अधिक करके आकाश तत्त्व को सही किया जा सकता है। गृह के दक्षिण भाग में शयनकक्ष बनाना सही होता है। बिजली का मीटर, स्वीच, स्टेवलाईजर, मोवाईल आदि के तरंग से दूर रहना चाहिए। गृह के पूर्व एवं उत्तर में अधिक खिड़कियाँ बनाकर प्रकृति से शुभ ऊर्जा को प्राप्त को प्राप्त किया जा सकता है। ईशान कोण में पूजा गृह बनाना चाहिए तथा पूजा करते समय पूजक का मुँह पूर्व की ओर होना चाहिए। परिवार के सबसे वरिष्ठ व्यक्ति का शयनकक्ष दक्षिण में युवा का शयनकक्ष वायव्य एवं उत्तर के बीच, बच्चों के लिए शयनकक्ष वायव्य में बनाने चाहिए। ईशान एवं आग्नेय कोण में शयनकक्ष कभी भी नहीं बनाना चाहिए क्योंकि ईशान कोण में शयनकक्ष बनाने से धन हानि, कार्य में बाधा, कन्या के विवाह में विलम्ब होता है। अग्नि कोण में शयन कक्ष बनाने से पति-पत्नी में कलह, अनिद्रा एवं अनेक प्रकार की चिन्ताएँ होती हैं। प्राचीन काल से ही उत्तर की ओर सिर रखकर न सोने की प्रथा है। इसका कारण लोगों को पहले से ही ज्ञात था कि उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों के बीच में याम्योत्तर क्रम में चुम्बकीय बल प्रवाहित होता है। यदि कोई व्यक्ति उत्तर की ओर सिर करके सोता है, तो उसके शरीर के चुम्बकीय बल की दिशा और पृथ्वी के चुम्बकीय बल की दिशा एक दूसरे के विपरीत हो जाती है, जिससे शरीर के रक्त संचार में बाधा होने से अनिद्रा, सिर दर्द, तनाव, दुःस्वप्न, वातव्याधियाँ एवं हृदय रोग उत्पन्न होता है। यही कारण है कि भवन के उत्तर

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एवं पूर्व दिशा में अधिक खुला स्थान छोड़ना, अधिक खिड़की, दरवाजे एवं झरोखों का निर्माण करना, जमीन का ढ़लान होना, भवन की ऊँचाई का कम होना, ऊँचे पेड़ का न होना चुम्बकीय बल के उपयोग को दृष्टि में रख कर किया जाता है।

यथार्थ में देखा जाए तो पाञ्चभौतिक शरीर में प्राणों का संयोग होकर जब जीवन क्रिया प्रारम्भ होती है, तब उसके संचालन के लिए त्रिदोष का प्रादुर्भाव होता है। आकाश एवं वायु तत्त्वों के विकार से वातदोष की, अग्नितत्व के विकार से पित्तदोष की एवं जल और पृथ्वी तत्त्वों के विकास से कफदोष की उत्पत्ति होती है[83]। अष्टाङ्गहृदय में कहा गया है सभी रोगों का कारण कुपित वात, पित्त और कफ है। "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता गताः[84]।" वात के प्रकोप से पाचकाग्नि विषम कफ के प्रकोप से मन्द और पित्त प्रकोप से तीक्ष्ण हो जाती है[85]। पित्त के प्रकोप से देह में ताप, जलन, फोड़े, यकृत सम्बन्धी रोग, पेट में अल्सर, अङ्गों में सूजन एवं दर्द उत्पन्न होते हैं। गृह में अग्नि तत्त्व को सही रखने से पित्त सम्बन्धी रोगों से मुक्ति मिल सकती है। वात प्रकोप से पेट में गैस की समस्या, उन्माद, मनोरोग, मूर्छा, क्रोध, सन्धि स्थानों में पीड़ा Arthritis Spondylitis, आदि रोगों से शरीर पीड़ित होता है। अतः यथा सम्भव गृह में आकाश एवं वायुतत्त्व को सही रखना चाहिए। कफ के प्रकोप से शरीर में जुकाम, श्वाँस रोग, प्लूरिसी, दमा, सर्दी, उल्टी, रक्त विकार, न्यूमोनिआ आदि रोग उत्पन्न होते हैं एवं त्रिदोष के प्रकोप से कैंसर, पक्षाघात, हृदयरोग आदि सभी गम्भीर रोग उत्पन्न होते हैं। अतः स्वस्थ शरीर एवं सुखमय जीवन के लिए प्रयत्नपूर्वक गृह निर्माण एवं गृह की आन्तरिक साज-सज्जा वास्तुशास्त्रोक्त नियमों के अनुसार करनी चाहिए।

---

83. षोडशाङ्गहृदयम् अ. 1, श्लोक 29-30
84. अष्टाङ्गहृदय, निदान-1/12
85. अभिनव स्वस्थवृत्त, पृ. 20

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नगरविन्यास योजना

सुश्री नीतू कुमारी

पुरातात्विक अभिलेखों से ज्ञात हुआ है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक न जाने कितने ही भवनों, प्रासादों, मंदिरों, किलों नगरों का निर्माण हुआ होगा जो कालांतर में नष्ट हो गए। वैदिक तथा लौकिक साहित्य पर दृष्टि डालने से विविध नगरों का वर्णन उपलब्ध होता है। प्राचीन भारत में पुर प्रायः दुर्गों के रूप में होते थे।[1] नगर के लिए उस समय जनपद तथा पुर शब्द प्रचलित थे। ऐतरेय[2] तथा गोपथ ब्राह्मण[3] में पुर के अलावा महापुर का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सम्भवतः ये महापुर छोटे-बड़े जनपदों के केन्द्र होते थे। आदिकाव्य रामायण में अयोध्या, किष्किन्धा इत्यादि नगरों का वर्णन प्राप्त होता है।[4] महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत में भी कतिपय नगरों का उल्लेख मिलता है।[5]

अग्निपुराण[6], स्कन्दपुराण[7], गरुड़ पुराण[8], विष्णुधर्मोत्तरपुराणादि[9] में भी नगर निर्माण का विस्तृत वर्णन है। आचार्य शुक्र ने शुक्रनीति में राजधानी नगर का चित्र उपस्थापित किया है।[10] महर्षि पाणिनी के समय तक नगर के निर्माण में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी।[11] नगर एक विशेष योजना के आधार पर तैयार किया जाता था।[12]

---

1. ऋग्वेद, 1.66.8
2. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.23.2
3. गोपथ ब्राह्मण, 2.2.7
4. आदिकाव्य रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 5.10, 13, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 33
5. महाभारत, आदिपर्व, अ. 119, अ. 96
6. अग्निपुराण, अ. 106
7. "स्वयं विश्वकर्मद्वारा निर्मापितमहीनगरस्थापनवर्णनम्।" स्कन्दपुराण, महेश्वर खण्ड, भाग-2, अ. 25
8. गरुड पुराण, अ. 46-47
9. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड 2, अ. 29.12
10. शुक्रनीति, अ. 1.215-222
11. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 85-88
12. अर्थशास्त्र, अधिकरण-2, अ. 3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

उत्तरवैदिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले पालि साहित्य के काव्य ग्रन्थ महाउम्मग्ग जातक में गङ्गा के किनारे पर एक नगर निर्माण का उल्लेख प्राप्त हुआ है।[13] अंशुमद्भेदागम, वैखानसागम, कारणागम इत्यादि आगम ग्रन्थों में नगरों तथा देवालयों से सम्बन्ध रखने वाली स्थापत्य कला वर्णित की गई है। ज्योतिषशास्त्र एवं वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में नगर नियोजन से सम्बन्धित चर्चा प्राप्त होती है। संस्कृत साहित्य की विभिन्न रचनाओं जैसे मेघदूत[14], शिशुपालवध[15], हर्षचरित[16] इत्यादि में नगर सम्बन्धित वर्णनों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों मयमत[17], विश्वकर्मप्रकाश[18], विश्वकर्मवास्तुशास्त्र[19], अपराजितपृच्छा[20], राजवल्लभवास्तुशास्त्र[21], समराङ्गणसूत्रधार[22], मानसार[23] आदि में नगर निवेश से सम्बन्धित अध्याय प्राप्त होते हैं।

इन सभी रचनाओं को देखने से स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि प्राचीन समय से आधुनिक समय तक नगरों का विकास तथा ह्रास दोनों हुआ है। प्राचीन काल में नगरों का निर्माण वास्तुशास्त्र के नियमों के आधार पर एक विशेष योजना के रूप किया जाता था। आधुनिक नगरों का निर्माण जनसंख्या की वृद्धि के कारण आवासों की व्यवस्था भूमि के अभाव को देखते हुए की जाती है, जो वास्तुशास्त्र के नियमों की पूर्णरूप से अवहेलना करते हैं। आधुनिक नगर नियोजकों के लिए नगर विन्यास की वास्तु सम्मत योजना बनाना एक दुष्कर कार्य प्रतीत होता है।

प्रस्तुत लेख में वास्तुशास्त्र की दृष्टि से नगर विन्यास के नियमों के साथ इसके सहायक अङ्गों पर प्रकाश डालते हुए इससे प्राप्त होने वाले परिणामों की भी चर्चा करते हुए नगर नियोजन के विषय में उसके अर्थ, भेद, उचित दिशा निर्देश, भूमिचयन, वास्तुपदस्थापना, देवस्थान इत्यादि आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। ये सभी नगर विन्यास अथवा किसी भी निर्माण कार्य के लिए आधारभूत तत्त्व हैं।

---

13. जातक, भाग-6, पृष्ठ 431
14. मेघदूत, पूर्वमेघ, 31, 33, 35, उत्तरमेघ, 1, 5, 8 आदि।
15. शिशुपालवध, सर्ग 33
16. हर्षचरित, द्वितीय तथा पञ्चम उच्छ्वास
17. मयमतम्, भाग-1, अ. 10, पृष्ठ 74-95
18. विश्वकर्मप्रकाश, पृष्ठ 265
19. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अ. 8, 10 इत्यादि
20. अपराजितपृच्छा, भाग-1, अ. 53-62, 70-75 इत्यादि
21. राजवल्लभवास्तुशास्त्र, पृष्ठ 213-217
22. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 7, 9, 10, 15, 17 इत्यादि
23. मानसार, अ. 10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

1. नगर का अर्थ तथा परिभाषा

'नग इव प्रासादाः सन्त्यत्र' अर्थात् जहाँ नग (पर्वत) के समान प्रासाद (भवन) हों उसे नगर कहते हैं। नग वामन शिवराम आप्टे द्वारा यह अर्थ किया गया है।[24] इसके अन्य अर्थ कस्बा, शहर, पट्टन, पत्तन, पुर, पल्ली इत्यादि भी किए गए हैं।[25]

जनपद की भौगोलिक इकाई के अन्तर्गत मनुष्यों का निवास स्थान 'पुर' अथवा 'नगर' कहलाता है। कुछ विद्वानों ने पुर और नगर में अन्तर प्रदर्शित करते हुए कहा है कि जहाँ अनेक ग्रामों का व्यवहार स्थान अर्थात् विचारालय हो उसे पुर तथा पुरसमूह को नगर कहते हैं।[26] स्थापत्य कोशग्रन्थों के अनुसार पुर और नगर एक दूसरे के पर्याय हैं। पुर तथा नगर मनुष्यों की वह बड़ी बस्ती है, जो ग्राम या कस्बे आदि से बड़ी है, जहाँ अनेक ग्रामों या बस्तियों के लोगों को व्यवहारिक कार्यों के लिए आना पड़ता है और जिसमें अनेक व्यवसायों के लोग एकत्र रहते हैं।[27] जहाँ अनेक शिल्पी और व्यापारियों का व्यवहार होता है, उसे पुर कहा जाता है।[28] अंग्रेजी हिन्दी कोश में इसकी परिभाषा "A population centre large than village but smaller than city" की गई है।[29]

2. नगर के भेद

नगरों के प्रकार वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में विविध रूपों में वर्णित किए गए हैं। समराङ्गणसूत्रधार में भोज ने पुरों के ज्येष्ठपुर, मध्यमपुर, कनिष्ठपुर ये तीन भेद बताए हैं।[30] राजधानी वर्गीय नगर तथा शाखा नगर के रूप में पत्तन, पुटभेदन, निगम, खेट, कर्वट और ग्राम इत्यादि का उल्लेख हैं।[31] विश्वकर्मा ने निगम, स्कन्धावार, द्रोणक, कुब्जक, पटन, शिबिर तथा वाहिनीमुख इन सात नगरों का वर्णन किया है जो राजा के लिए निवास योग्य हैं।[32] इसके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में पद्मक, सर्वतोभद्र, विश्वेशभद्र, कामुक, प्रस्तर, स्वस्तिक, चतुर्मुख, श्रीप्रतिष्ठा, बलिदेव, पुर, देवनगर, मानुषनगर, वैजयन्त, पुटभेदन, गिरिनगर, वारिनगर, गुहानगर, अष्टमुख, नन्द्यावर्त, और राजधानी

---

24. संस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ 506
25 हिन्दी पर्यायवाची कोश, पृष्ठ 311, Sanskrit English Dictionary, page 135, अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ 812, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ 506
26. हिन्दी विश्वकोश, भाग 2, पृष्ठ 336
27. वही, भाग 2, पृष्ठ 336
28. अमरकोश, काण्ड 2, वर्ग 2, पृष्ठ 77
29. अंग्रेजी हिन्दी कोश, पृष्ठ 336
30. समराङ्गणसूत्रधार, 23.1
31. वही, 22.2-5
32. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 8.38-40

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नगर इन बीस प्रकार के नगरों का वर्णन विस्तृत रूप में मिलता है।[33] अपराजितपृच्छा[34] तथा राजवल्लभमण्डन[35] में भी बीस प्रकार के नगरों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उनके नाम भिन्न हैं।

3. नगर (पुर) की आकृति

प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में नगरों की आकृति का वर्णन भी प्राप्त होता है। उपर्युक्त सभी पुरों में 'माहेन्द्र' नगर का आकार चौकोर होता है[36] तथा भोज ने इसे सभी पुरों में श्रेष्ठ आकृति वाला बताते हुए चतुवर्ग का साधक बताया है।[37] मत्स्य पुराण भी इसे शुभ आकृति वाला नगर मानता है।[38] ब्रह्माण्ड पुराण में इसकी गणना प्रशस्त पुरों में की गई है।[39] 'सर्वतोभद्र' उस पुर को कहते हैं जो आयताकार होता है।[40] इस पुर की चर्चा रामायण और महाभारत इत्यादि प्राचीन महाकाव्यों में भी मिलती है। अयोध्या[41] और द्वारका[42] के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये नगर आयताकृति वाले थे। 'सिंहावलोकन' नामक पुर वृत्ताकार होता है जो नागरिकों के लिए रमणीय है।[43] मत्स्य पुराण इस पुर का उल्लेख करता है।[44] 'वारुण' पुर अण्डाकार होता है जो प्रजा की वृद्धि करने वाला है।[45] 'नन्दाक्ष' (नन्दाख्य) नगर कोणरहित तथा 'नन्द्यावर्त' पुर स्वस्तिक चिन्ह के अनुरूप होने के कारण मङ्गलकारी है।[46] जो पुर आठ पङ्खुड़ियों वाले कमल पुष्प सदृश हो, उसे 'पुष्पक' पुर कहा है। इसे देवताओं का पुर भी बताया गया है।[47] 'स्वस्तिक' नगर अष्टकोण वाला तथा 'जयन्त' पुर यव आकृति की तरह होता है।[48] 'दण्ड' नगर दण्ड की भाँति अतिदीर्घ होता है और नगर की वृद्धि करने वाला होता है।[49] 'श्रीपुर' एक परिधिभित्ति तथा 'रिपुमर्दन' पुर

33.. वही, 9.1-4
34. अपराजितपृच्छा, 73.1-4
35. राजवल्लभमण्डन, अ. 4.4-5
36. अपराजितपृच्छा, 73.5
37. युक्तिकल्पतरु, नगरयुक्ति, 147
38. मत्स्यपुराण, अ. 217.1
39. ब्रह्माण्डपुराण, 2, 7.108
40. अपराजितपृच्छा, 73.5
41. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 5.7
42. महाभारत, सभापर्व, परिशिष्ट, पृष्ठ 415
43. राजवल्लभवास्तुशास्त्र, अ. 4.4
44. मत्स्यपुराण, अ. 217.8
45. राजवल्लभमण्डन, 4.4
46. मुक्तकोणं च नन्दाक्षं नन्द्यावर्तं च स्वस्तिकम्। अपराजितपृच्छा, 73.6
47. पुष्पकमष्टदलाख्यम्, अपराजितपृच्छा, 73.6
48. वही, 73.7
49. राजवल्लभमण्डन, 4.4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दो प्राकारों से घिरा होता है।[50] 'स्नाह' पुर पर्वत के उदर भाग में, 'दिव्यक' पर्वत की चोटी पर, 'सौम्य' नदी के वक्ष:स्थल पर तथा 'धर्मक' नगर नदी की दक्षिण दिशा में स्थित होता है।[51] 'शक्र' पुर नदी की पूर्व दिशा में होता है। 'पौरुष' पुर पुरुष सदृश आकार वाला तथा 'महाजय' नगर नदी के आकार के समान होता है।[52]

4. नगर निवेश हेतु भूमि चयन

किसी भी निर्माण की संरचना से पूर्व सर्वप्रथम 'भूमि' की गुणवत्ता को देखा जाता है। समराङ्गणसूत्रधार में भूमि चयन के लिए 'भूमि परीक्षा'[53] और विश्वकर्मवास्तुशास्त्र[54], अपराजितपृच्छा[55], मयमत[56] आदि अन्य ग्रन्थों में इसके लिए 'भूमि संग्रह' 'भू परीक्षा' इत्यादि शब्दों का व्यवहार हुआ है। धाराधिपति भोज ने भूमियों की विभिन्नता अथवा गुण दोषों के आधार पर भूमि के तीन भेद कहे हैं।[57] नगर निवेश हेतु वालिश-स्वामिनी, भोग्या, सीतागोचर रक्षिणी, अपाश्रयवती, कान्ता, खनिमती, आत्मधारिणी, वणिक् प्रसाधिता, द्रव्यवती, अमित्रघातिनी, आश्रेणी पुरुषा, शक्य-सामन्ता, देवमातृका, धान्यशालिनी, हस्तिवनोपेता तथा सुरक्षा ये सोलह प्रकार की भूमियाँ कही गई हैं।[58] रस के आधार पर भूमि छ:[59], वर्ण के आधार पर चार[60] तथा रंग के आधार पर अनेक भेदों वाली कही गई है।[61] इसके अलावा भूमि विभाजन के अन्य भी आधार कहे गए हैं। जनपद, खेटक, ग्राम तथा पुर के लिए प्रशस्त भूमियों के लक्षण अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। जैसे -

जिस भूमि पर सोना, चाँदी इत्यादि खनिज पदार्थों की प्राप्ति सदैव होती हो।[62] अनेक प्रकार के सुन्दर, सुरम्य, कुञ्जों, लताओं, गुल्मों एवं वृक्षों से शोभायमान हों।[63] बड़ी-बड़ी शिलाओं वाली पर्वत श्रेणियों से चारों ओर व्याप्त हो।[64] पवित्र और मीठे जल वाली स्वच्छ नदियाँ बहुतायत में हों

50. राजवल्लभमण्डन, 4.6
51. अपराजितपृच्छा, 73.8
52. वही, 73.9
53. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 10
54. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अ. 5
55. अपराजितपृच्छा, अ. 48
56. मयमतम्, अ. 3
57. समराङ्गसूत्रधार, अ. 10.2
58. वही, अ. 10.10-25
59. मानसार, 4.6
60. मयमत, 3.5
61. अपराजितपृच्छा, 51.50
62. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 10.15
63. वही, 10.27, 40
64. समराङ्गणसूत्रधार, 10.27

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा दक्षिण दिशा में शुद्ध जल वाले जलाशय हों।[65] कोयल अपनी मधुर आवाज से तथा भौंरे अपने गुञ्जार से सुशोभित करें।[66] काँटे रहित वृक्ष, सुन्दर पत्थर और वल्मीक बाँबी न हों।[67] जिन भूमियों की सीमाएँ विभाजित हों तथा जो चारागाहों से युक्त हों।[68] जो भूमियाँ दुष्टों के द्वारा प्रताड़ित न की जा सकें एवं जहाँ पर गृह निर्माण के लिए पर्याप्त भूमि हों।[69] जिन भूमियों का झुकाव (भू-प्लव) पूर्व दिशा में हों।[70] जिस भूमि पर औषधि, दूब, मूँज, कुरुन्द, कुश तथा वल्कल आदि की प्रचुरता हों।[71] जहाँ पर मन शान्ति का अनुभव प्राप्त करे तथा भय, व्याकुलता इत्यादि व्यथित न करें।[72] जिस भूमि पर शिल्पी, यज्ञ, देवायतनों, उद्यान तथा आराम इत्यादि के लिए सामग्री सुलभ हों।[73] जिस भू-प्रदेश पर तड़ाग और वापियों के निर्माण के लिए स्थान हो, वाहन सुखपूर्वक आवागमन कर सकें तथा मिथुनों के रतिप्रद स्थान उपलब्ध हो सकें।[74] ऐसी भूमियाँ नगर निर्माण के लिए प्रशस्त कहीं हैं।

विश्वकर्मा ने शबर, पुलिन्द एवं माँसभक्षियों से युक्त तथा वनों से घिरि भूमि को 'खेट-निवेश' के लिए उपयुक्त कहा है।[75] 'खर्वट' निवेश के लिए आम्र, साल, मौलसरी, बाँस, रक्तलोध्र, कदम्ब, नारियल आदि वृक्षों एवं कमल तथा विविध सुन्दर पुष्पों से युक्त और अनेक प्रकार के वृक्षों की छाया एवं क्रीडोद्यान से युक्त नदी तट प्रदेश हों।[76] 'ग्राम' का नियोजन वनों के मध्य में अथवा पर्वतों के समीप तथा उद्यानों के बीच हों।[77] नदी किनारे या वनों के तटों अथवा पर्वतों के पास 'बस्ती' का सन्निवेश करने पर सभी कालों में सुख की प्राप्ति होती है।[78]

नदियों के तटों पर पुर सन्निवेश करना उत्तम होता है।[79] पर्वत के समीप नगर निर्माण करना चाहिए क्योंकि यहाँ पर निवेशित पुर, पुरवासियों के लिए स्वास्थ्यकारक तथा मङ्गलदायक कहे गए

---

65. वही, 10.28, 41.40
66. वही, 10.29
67. वही, 10.32
68. वही, 10.32
69. वही, 10.34
70. वही, 10.40
71. वही, 10.41
72. वही, 10.34
73. वही, 10.42
74. वही, 10.42-43
75. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 8.20
76. वही, 8.22
77. वही, 8.23
78. वही, 8.27
79. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ 113

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हैं।[80]

कौटिल्य का कथन है कि वास्तुशास्त्री जिन स्थानों को श्रेष्ठ बताएँ, वही नदियों के सङ्गम पर नगर निर्माण करना उचित होता है। यदि नदियों का किनारा न हो तो बड़े-बड़े तालाबों के किनारे या कमल से परिपूर्ण जलाशयों के तट पर नगर सन्निवेश करना चाहिए।[81]

जिस भूमि पर नाना प्रकार के वृक्ष, लता एवं पौधे हों, जो पशु-पक्षियों से युक्त हों, जिसमें जल तथा अन्नादि पदार्थ भरपूर मात्रा में उपलब्ध हों, जहाँ तृण तथा काष्ठ (लकड़ी) सदैव सुलभतापूर्वक प्राप्त हों, जो पर्वत से अति दूर न हो, जिसके समीप नदी तथा समुद्र विद्यमान हों, जो भूमि उपजाऊ और समतल हों वहाँ पर 'राजधानी' नगर की स्थापना करनी चाहिए।[82]

'वारुणी' एवं 'ऐन्द्री' भूमियाँ पुर नियोजन हेतु उचित हैं। विविध प्रकार के वृक्षों से व्याप्त, सुन्दर पुष्पों, जंगलों एवं जलाशयों की दृष्टि से तथा धान्यादि के लिए भूमि की उर्वरता के कारण ये दोनों भूमियाँ प्रशस्त हैं।[83]

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विविध ग्रन्थों में भी निर्माण के लिए भूमि चयन का वर्णन किया गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन सभी तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि नगर ऐसे स्थानों पर बसाये जाने चाहिए, जहाँ जल की पूर्ण सुविधा हो, हरी-भरी उपजाऊ भूमि हो, वनस्पतियों की अधिकता हो। इसी कारण से प्राचीन भारत के अधिकांश नगर या तो सरिताओं के कूलों (तटों) पर अथवा पहाड़ियों से घिरे हुए एवं पर्वतों की तलहटी पर विद्यमान थे। नदियों के तटों पर बसे नगरों में आधुनिक काल में मथुरा, प्रयाग, बनारस इत्यादि नगर दृष्टिगोचर होते हैं।

5. नगर निवेशार्थ भू-प्लवत्व

नगर विन्यास के लिए भू-प्लव का भी विचार किया जाता है। भोज के मत में उत्तर, पूर्व, पूर्वोत्तर या सभी दिशाओं में अवनत तथा मध्य स्थान में समुन्नत, दर्पण सदृश समतल भूमि नगर निवेश के लिए प्रशस्त है।[84] मानसार[85] एवं मयमत[86] में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। मनुष्यालय चन्द्रिका में पूर्व दिशा में झुकी हुई भूमि की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि ऐसी उन्नत भूमि पर समृद्धि की स्थिति क्रमशः बारह, आठ एवं छः वर्ष तक रहती है।[87] पूर्व, उत्तर

80. वही, पृष्ठ 113
81.. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3, पृष्ठ 103
82. शुक्रनीति, 1.213-14
83. शिल्परत्न, 3.9-11
84. समराङ्गणसूत्रधार, 8.65-66
85. मानसार, 4.1-2
86. मयमतम्, 3.1
87. मनुष्यालय चन्द्रिका, 1.19

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

और ईशान कोण में झुकी भूमि पर निवास करने से आयु, बल, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, सन्तति, सुख, सौभाग्य तथा ऐश्वर्य इत्यादि की वृद्धि होती हैं।[88] विश्वकर्मा ने भूमि के पूर्व एवं उत्तर दिशा में ढलान होने पर उसका फल लक्ष्मी की प्राप्ति तथा वंशवृद्धि बताया है।[89] आचार्य भोज ने भी भूमि का ढ़लान पूर्व, ईशान एवं उत्तर की ओर होने पर सुखद कहा है।[90]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि नगर नियोजन के लिए स्थापत्य शास्त्रों में पूर्व, ईशान (उत्तर-पूर्व) अथवा उत्तर दिशा में ढलान उपयुक्त बताया गया है। इसका कारण यह है कि इन दिशाओं में अनवत भूमि पर रहने वाले निवासियों को प्रातः कालीन सूर्य का पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है। वैज्ञानिक आधार पर भी यह सिद्ध हो चुका है कि प्रातःकालीन सूर्य किरणों में पराबैगनी नीलातीत (ultra-violet) रश्मियों की प्रचुरता होती है, जो मानव मस्तिष्क को प्रभावित करके आवश्यक ऊर्जा एवं विटामिन ए तथा डी की प्राप्ति कराती हैं।

6. नगर निवेश हेतु वास्तुपदविन्यास

हमारे प्राचीन वास्तुशास्त्रीय आचार्यों ने पृथक्-पृथक् वास्तु पदों का उल्लेख अपने-अपने ग्रन्थों में किया हैं। प्रायः वास्तु रचनाओं में प्रचलित वास्तुपद चौंसठ (8X8), इक्यासी (9X9) एवं शतपद (10X10) वास्तु हैं। आचार्य मय ने बत्तीस वास्तु पदों की गणना की है।[91] मानसार[92] तथा शिल्परत्न[93] बीस वास्तु पदों का उल्लेख करते हैं। भोज के अनुसार इक्यासी पदवास्तु, शतपद वास्तु तथा चौंसठ पदवास्तु ये तीन वास्तुपद के मुख्य भेद हैं।[94] अपराजितपृच्छा में इसके ग्यारह भेद वर्णित हैं।[95] इन सभी वास्तुपदों में से चौंसठ पदवास्तु को नगर विन्यास के लिए उचित कहा गया है।[96] इस चौंसठ पदवास्तु को वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित अनेक पुस्तकों में देखा जा सकता है।

इस प्रकार से प्रस्तुत वास्तुपद विन्यास में अपने-अपने पदों के स्वामी देवों के सङ्केत से यह बोधगम्य हो जाता है कि भूमि की चारों प्रमुख दिशाओं एवं उपदिशाओं तथा केन्द्र एवं मध्यभाग में कहाँ पर किसका और कैसा निवेश किया जाना उत्तम है।

---

88. विश्वकर्मप्रकाश, 2.15, 16
89. वही, 2.15, 17
90. राजवल्लभमण्डन, 1.17
91. मयमतम्, भाग 1, अ. 7, पृष्ठ 36
92. मानसार, 7.1-25
93. शिल्परत्न, पूर्वभाग, 6.1-7
94. समराङ्गणसूत्रधार, 13.1
95. अपराजितपृच्छा, भाग 1, 57.1-3
96 राजवल्लभवास्तुशास्त्र, अ. 2.4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

7. नगर मापन

नगर मापन के अन्तर्गत विचार किया जाता है कि भूमि के किस-किस भाग पर परिखा, प्राकार, वप्र, मार्ग, प्रतोली, गोपुर, चत्वर, आवासीय भवन तथा वीथी इत्यादि का निर्माण किया जाएगा। यही नगरमापन शब्द का अभिप्राय है।[97] शिल्पकार परिखा, प्राकार इत्यादि के यथास्थान निर्माण के लिए योजना अनुसार सम्पूर्ण नगर की भूमि में धातुनिर्मित कीलों को गाड़ देता था।[98] तदुपरान्त उसे मजबूत धागों से नियमित की गई कीलों से मिलाता था। इस प्रकार से नगर भूमि रेखाङ्कित हो जाती थी जो अपराजितपृच्छा में नगर चिन्हों के नाम से अभिहित है।[99] नगर मापन के लिए पुरविनिवेश, पुरबेशन एवं पुरस्थापन आदि शब्द भी भोज ने प्रयुक्त किए हैं।[100] नगर मापन सम्बन्धी ज्ञान दीर्घनिकाय[101], महाउम्मग जातक[102], मिलिन्दपञ्हो[103], रामायण[104], युगपुराण[105], युक्तिकल्पतरू[106] इत्यादि अन्य प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।

8. नगर प्रमाण

प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में नगरों के प्रमाण के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वास्तुशास्त्र में नगर के प्रमाण 4000 गज से लेकर 8000 तथा 16000 गज तक कहे गए हैं। तीन पुर ही मूल कहे गए हैं। इनमें 1000 गज के नगर अधम, 1500 गज के नगर मध्यम तथा 2000 गज के नगर ज्येष्ठ रूप में वर्णित हैं।[107] भवन निवेश में अधमपुर 1000 चाप, मध्यमपुर 2000 चाप (धनुष) तथा ज्येष्ठपुर 4000 चाप के व्यास का बताया गया है। 4000 से 5000 गज वाला ज्येष्ठ, 4000 गज वाला कनिष्ठ तथा 8000 से 10,000 और 11,000 गज तक के नगर अधम कहे गए हैं। नगर की लम्बाई सवा तथा डेढ़ सहस्त्र गज के अनुसार होनी चाहिए।[108] नगरों का प्रमाण 300 धनुष से प्रारम्भ होकर 100 दण्ड की वृद्धि करते हुए 8000 दण्ड तक प्राप्त होता है। इसके 78 भेद बनते हैं। 100 दण्ड से आरम्भ करके 10-10 दण्ड की वृद्धि करते हुए 300

---

97. महाभारत, आदिपर्व, अ. 199
98. अपराजितपृच्छा, पृष्ठ 123
99. वही, पृष्ठ 124
100. समराङ्गणसूत्रधार, अ. 23, पृष्ठ 105
101. दीर्घनिकाय, 2, महापरिनिब्बानसुत्त, 152
102. महाउम्मगजातक, 6.448
103. मिलिन्दपञ्हो, महावग्गो, पृष्ठ 31
104. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग 101.16
105. युगपुराण, पृष्ठ 30
106. युक्तिकल्पतरु, नगरयुक्ति, 145
107. अपराजितपृच्छा, 70.3
108. वास्तुसारमण्डनम् आयतत्त्वञ्च, अ. 5.1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दण्ड प्रमाण पर्यन्त सभी क्षुद्र नगरों के 21 विस्तार प्रमाण हैं। राजाओं के उत्तम पुरों की परिधि का प्रमाण 16000 यष्टि प्रमाण से 5000 दण्ड कम करते हुए 4000 तक कहा गया है। इस प्रकार इसके कुल 25 प्रमाण भेद हैं।[109] अतः हम देखते है कि नगरों के प्रमाण भिन्न-भिन्न मापसूत्रों के द्वारा निर्धारित किए गए थे।

9. नगर के अनिवार्य अङ्ग

(1) प्राकार - नगर की सुरक्षा के लिए प्राकार (नगरभित्ति) का निर्माण किया जाना अनिवार्य है। **'स च प्राकार इत्युक्तः कण्ठः स्यादङ्गणस्य यः'** अर्थात् आङ्गन के कण्ठ को 'प्राकार' कहते हैं।[110] इसका निर्माण वप्र की पृष्ठभूमि पर किया जाता है। अर्थशास्त्र में भी प्राकार अर्थात् परकोटे का निवेश वप्र के ऊपर करने का निर्देश है।[111] इन्द्रप्रस्थ[112], द्वारका[113], मथुरा[114] आदि सभी प्राचीन पुर प्राकार से घिरे हुए थे। अधिकांश नगरों में प्राकार की संख्या एक वर्णित है परन्तु बड़े नगरों में यह संख्या एक से अधिक भी हुआ करती थी। वैशाली नगर के चारों ओर तीन प्राकार विद्यमान थे,[115] जो अत्यन्त ऊँचे होते थे। तीन प्राकारों (श्रेष्ठ, मध्यम, अधम) का उल्लेख समराङ्गणसूत्रधार में भी किया गया है। श्रेष्ठ प्राकार का विस्तार 12 हस्त (18 फुट) एवं ऊँचाई 17 हस्त (25 फुट), मध्यम प्राकार का विस्तार 10 हस्त (15 फुट) एवं ऊँचाई 15 हस्त (22 फुट) तथा अधम प्राकार की चौड़ाई 8 कर (12 फुट) एवं ऊँचाई 13 हस्त (19 फुट) बताई गई हैं।[116] सम अङ्कों में 12 हाथ से लेकर 14, 16, 18 अथवा 15, 17 इत्यादि तथा विषम अङ्कों में अधिकाधिक 24 हाथ अर्थात् 36 फुट तक प्राकार होने चाहिए। अर्थशास्त्र में उक्त है कि प्राकार का ऊपरी भाग इतना चौड़ा होना चाहिए कि एक रथ आसानी से जा सके।[117] त्रिपुर के प्राकार इतने ऊँचे थे कि वे पर्वत के समान दिखते थे।[118] नगर प्राकार को कदापि 20 हाथ (30 फुट) से ऊँचा नहीं बनाना चाहिए। इसकी ऊँचाई कहीं-कहीं केवल 9 हाथ ही रखी जाती थी ऐसा वर्णन भी प्राप्त होता है।[119] प्राकारों की निर्माण सामग्री मिट्टी से निर्मित, ईंट से निर्मित और पत्थर से निर्मित हुआ करती है।

---

109. मयमतम्, 10.1-11
110. समराङ्गणसूत्रधार, 22.99
111. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3, पृष्ठ 105
112. महाभारत, आदिपर्व, अ. 199, पृष्ठ 790
113. महाभारत, सभापर्व, परिशिष्ट, पृष्ठ 412
114. हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, 54.57
115. जातककथा, 1.105, प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ 77
116. समराङ्गणसूत्रधार, 23.26-27
117. वही, अधिकरण 2, अ. 3, पृष्ठ 105
118. मत्स्यपुराण, 131.22
119. ब्रह्मवैवर्तपुराण, खण्ड 4, 103.67

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(2) परिखा – नगर की सुरक्षा दृष्टि में कृत्रिम उपादानों के अन्तर्गत परिखा (खाई) का स्थान महत्वपूर्ण होता था। नगर के चारों ओर परिखा होने का निर्देश समराङ्गणसूत्रधार में प्राप्त होता है। परिखा को जितनी भूमि में बनाना होता था, उस पर चिन्ह लगा दिया जाता था। परिखा खोदने के लिए नियत भूमि को अष्टाध्यायी में 'पारिखेयी भूमि' कहा गया है।[120] प्राचीन भारतीय नगर जैसे अयोध्या, मथुरा, पाटलिपुत्र इत्यादि परिखा द्वारा परिवेष्टित थे। परिखा की संख्या एक या उससे अधिक भी हुआ करती थी। नगर के चतुर्दिक में तीन परिखाओं का निर्माण करना चाहिए। अर्थशास्त्र में इसकी संख्या तीन बताई गई है। परिखा एक-दूसरे से एक दण्ड अर्थात् 6 फुट की दूरी पर होनी चाहिए।[121] ब्रह्मवैवर्तपुराण में वर्णित एक नगर में सात परिखा होने का उल्लेख मिलता है।[122] परिखा मजबूत होनी चाहिए अतः परिखा के तल को पत्थरों या ईंटों द्वारा बनाया जाना चाहिए। तीनों परिखाओं का निर्माण महारथ्या के प्रमाण से करना चाहिए। महारथ्या का नाप ज्येष्ठादि तीनों पुरों में क्रमशः 12, 10 तथा 8 हस्त (18 फुट, 15 फुट, 12 फुट) बताया गया है।[123] प्राचीन नगरों की परिखा का माप इससे भिन्न-भिन्न है। प्राचीन ग्रन्थों में परिखा की चौड़ाई अत्यधिक होने का विवरण भी मिलता है। महाभारत, हरिवंश, नवसाहसाङ्कचरित आदि में इसकी चौड़ाई अत्यधिक वर्णित है।[124] परिखा की गहराई उसकी चौड़ाई से कम होती थी। कौटिल्य कहते हैं कि परिखा कहीं-कहीं इतनी कम गहरी हों कि वहाँ से जल बाहर की ओर छलके।[125] परिखा जल, पङ्क तथा रिक्त के भेद से तीन प्रकार की होती थी। परिखा के चारों ओर सुन्दरता के लिए नाना वृक्ष, सुन्दर बगीचें इत्यादि बनाए जाते थे। उन परिखाओं में जल के अन्दर भयंकर जलजन्तु भी पुर सुरक्षार्थ छोड़ दिए जाते थे। ऐसा अर्थशास्त्र भी सूचित करता है।[126]

(3) वप्र - नगर की रक्षा के लिए उसके चारों तरफ परिखा तथा उन्नत वप्र (चार दिवारी) अथवा प्राकार का निर्माण आवश्यक समझा जाता है। प्राकार या परकोटे का निर्माण वप्र के ऊपर करने के कारण इसे 'प्राकाराधारवेदिका' भी कहा जाता था। वप्र का निर्माण परिखा को बनाते समय जो मिट्टी निकलती थी, उससे किया जाता था। समराङ्गणसूत्रधार में भी कहा गया है कि घण्टामार्ग के बाहर चारों ओर वप्रभू-विशेषज्ञों द्वारा वप्रभूमि निश्चित करने पर परिखा निर्माण करने के समय खोदी गई मिट्टी से वप्र बनाना चाहिए।[127] इसकी ऊँचाई गज के पेट या पीठ के

120. पाणिनीकालीनभारतवर्ष, पृष्ठ 143
121. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3, पृष्ठ 104
122. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, खण्ड 4, अ. 73, पृष्ठ 640
123. समराङ्गणसूत्रधार, 23.9
124. भारत का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ 379
125. शुक्रनीति, 1.240
126. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3, पृष्ठ 104
127. समराङ्गणसूत्रधार, 23.16

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

बराबर रखनी चाहिए। इसके ऊपरी तल को दृढ़ बनाना चाहिए तथा ऊर्ध्व भाग का निर्माण पत्थरों एवं शिलाओं से किया जाना चाहिए। अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के वप्रों का वर्णन किया गया है।[128] मयमत में इसके पाँच भेद प्राप्त होते हैं।[129] वप्र को बनाने के बाद परिखा को जल से भर देना चाहिए, जिससे वहाँ पर विविध पुष्प सुशोभित हो सकें तथा एकत्र जल मार्ग से बाहर भी निकल सकें।

(6) वीथि -

एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए भूमि पर बनी संरचना को सड़क, रथ्या, पथ, मार्ग एवं वीथि इत्यादि की संज्ञा से जाना जाता है। प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मार्ग निर्माण की विधियों का विवेचन प्राप्त होता है। पुर निर्माण में मार्ग विनिवेश का सम्बन्ध वहाँ के विभिन्न जनसमुदायों से सम्पर्क स्थापित करने की दृष्टि से परम महत्वपूर्ण है। मार्ग इस प्रकार से निर्मित होने चाहिए कि वहाँ के नागरिक परस्पर सम्पर्क स्थापित कर सकें। साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासक पुरातन काल से ही इस प्रशासन कार्य की ओर पर्याप्त ध्यान देते रहे हैं। वेदों में भूमि, समुद्र और अन्तरिक्ष में आवागमन के साधन रथ के मार्ग का सङ्केत प्राप्त होता है।[130] रामायण में भी अनेक स्थलों पर अश्व से जुते हुए रथों के वर्णन के साथ साथ मार्ग निर्माण की विधियाँ वर्णित हैं।[131] महर्षि पाणिनी ने भी अष्टाध्यायी में अजपथ, हस्तिपथ तथा रथपथ का विवेचन किया है।[132] पुर निवेश में मार्गों की योजना बनाना, उसका निर्माण करना स्थापत्य का परम कौशल है। मार्ग इस प्रकार बने होने चाहिए कि नागरिकों के भवनों में प्रातः कालीन सूर्य प्रकाश तथा स्वच्छ वायु सुखपूर्वक प्रवेश कर सकें।

मार्ग नगर में कितनी संख्या में हो इस सम्बन्ध में वास्तु विशेषज्ञों ने पुर की चौड़ाई को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न संख्याओं का निर्धारण किया है। मानसार के रचयिता ने नगर में पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर की तरफ सामान्यतया 1 मार्ग तथा उसमें वृद्धि करते हुए 12 मार्गों तक की कल्पना की है।[133] इसी प्रकार आचार्य मय ने भी पुर के विभिन्न मापों के अनुसार क्रमशः सम संख्या में 12-12, 10-10, 8-8, 6-6, 4-4, 2-2 तथा विषम में 11-11, 9-9, 7-7, 5-5, 3-3 और 1 मार्ग विहित किया गया है। इनके अनुसार 'वेदिभद्रक' एवं 'भद्रक' संज्ञक मार्ग-योजना नगर विन्यास हेतु उपयुक्त कही गई है।[134] मयमत में नगर सन्निवेश में पूर्व से पश्चिम

128. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3, पृष्ठ 105
129. मयमतम्, 10.13
130. ऋग्वेद, 1.20.3; 1.34.2; 1.34.7; 1.163.8; 2.34.7; 2.34.8; 3.15.5; 3.53.4-6 इत्यादि
131. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, सर्ग 69; अयोध्याकाण्ड, सर्ग 16, 71, 80 आदि
132. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 11, पृष्ठ 441
133. मानसार, 10.56-57
134. मयमतम्, 10.58-59, 10.61-62

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तथा उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले सभी मार्गों की संख्या न्यूनतम 2 या 6 तथा अधिकतम 24 बताई गई हैं। तदुपरान्त परवर्ती ग्रन्थ समराङ्गणसूत्रसार में एक आदर्श नगर में पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर की ओर दौड़ने वाले मार्गों की कुल संख्या 34 बताई है।[135] यह संख्या उस काल में आवागमन सुविधा के लिए शुभ सङ्केत थी। मण्डन सूत्रधार ने भी इसी बात को स्वीकार करते हुए उत्तमपुर में 17-17, मध्यमपुर में 13-13, तथा कनिष्ठपुर में 9-9 मार्गों का निर्देश दिया है। इनके साथ ही ग्राम, खेट, कूट तथा खर्वट में निवेशित मार्गों की संख्या भी क्रमशः 9, 5, 3 तथा 2 बताई है।[136]

मार्गों में प्रथम स्थान **राजमार्ग** का आता है। इसका तात्पर्य मार्गों का राजा है। राजमार्ग को बहुत चौड़ा बनाना चाहिए जिससे उन पर सूर्य रश्मि तथा स्वच्छ वायु पूर्ण आ सकें। विष्णुसंहिता भी यही बात स्वीकार करती है।[137] आचार्य भोज द्वारा भी पुर में 24 हस्त (36 फुट), मध्यमपुर में 20 कर (30 फुट) तथा अधमपुर में 16 हस्त (24 फुट) राजमार्गों की चौड़ाई कही गई है।[138] शुक्रनीति में भी 30 हस्त (45 फुट), 20 हस्त (30 फुट) एवं 15 हस्त (22.5 फुट) पुरों के विस्तार पर आधारित राजमार्गों की चौड़ाई है।[139] अन्य ग्रन्थों में भी इस विषय में माप व्यवस्था प्राप्त होती है।[140] राजमार्गों की संख्या का निर्धारण पुर की आवश्यकता के अनुरूप किया जाता था।[141] ये पत्थरों द्वारा पक्के बनाए जाने चाहिए इसकी पुष्टि स्थापत्य शास्त्रों के अनुशीलन से होती है।[142]

राजमार्ग के अनन्तर **महारथ्याओं** का क्रम है। रथ्या शब्द का अर्थ उस मार्ग से है जो रथ आदि वाहनों के सुविधापूर्ण सञ्चार के लिए बनाया गया है।[143] ये वे मार्ग हैं, जो नगर और जनपद को आपस में जोड़ते हैं। आचार्य भोज ने आदर्श पुर में कम से कम 2 महारथ्याएँ होने का निर्देश दिया है, जो पुर के बाहर जनपद-महामार्गों से जुड़ी हुई हों। ये राजमार्ग की चौड़ाई से आधी होती थीं। इसकी स्थापना राजमार्ग के समीप दोनों वंशों पर करनी चाहिए। ज्येष्ठपुर में इसका प्रमाण 12 हस्त (18 फुट), मध्यमपुर में 10 हस्त (15 फुट) एवं कनिष्ठपुर में 8 हस्त (12 फुट) होना कहा गया हैं।[144]

---

135. समराङ्गणसूत्रधार, 23.15
136. राजवल्लभमण्डन, 4.9, 14
137. विष्णुसंहिता, अ. 23
138. समराङ्गणसूत्रधार, 23.7
139. शुक्रनीति, 1.260-261
140. भारतीय वास्तुशास्त्र, वास्तुविद्या तथा पुरनिवेश, पृष्ठ 164-165
141. विष्णु पुराण, 5, 19.12-13
142. शुक्रनीति, 1.263
143. मयमतम्, अ. 9.38-39; शिल्परत्न, अ. 5, पृष्ठ 23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

महारथ्याओं के बाद **यानमार्गों** का स्थान आता है। इसके द्वारा पुर के आन्तरिक प्रदेशों में यानों का सञ्चरण होता है। इनकी चौड़ाई ज्येष्ठादि तीनों पुरों में 4 हस्त (6 फुट) होनी चाहिए।[145] पदातियों के सुसञ्चार के लिए चारों यानमार्गों के दोनों ओर पदाष्टक-पदान्तस्थ दो-दो जङ्घापथ बनाने का निर्देश दिया है। यही आजकल 'फुटपाथ' की संज्ञा से बोध होते हैं। आधुनिक समय में भी बड़े मार्ग के दोनों ओर ये फुटपाथ दिखाई देते हैं। भोज ने इसकी चौड़ाई ज्येष्ठपुर में 3 हस्त (4.5 फुट), मध्यमपुर में 2.5 हस्त (3.75 फुट) तथा अधमपुर में 2 हस्त (3 फुट) निर्धारित की है।[146]

यानमार्ग के बाद आने वाला मार्ग **उपरथ्याएँ-रथ्याएँ** हैं। इसका विनिवेश भी अनिवार्य है क्योंकि यह नगर के आन्तरिक भाग में एक बस्ती से दूसरी बस्ती को जोड़ने के साथ-साथ रवि रश्मियों की सुलभता तथा वायु के उपभोग एवं यातायात की सुविधा तथा सरलता को भी निश्चित करती हैं। ये उपरथ्याएँ (Bye-lanes) एवं रथ्याएँ (Street lanes) नगर को विभिन्न मुहल्लों में विभाजित करती हैं। उपरथ्या प्रमाण से महारथ्या की आधी अर्थात् ज्येष्ठादि पुरों में क्रमशः 6, 5, 4 हस्त (9, 7.5, 4 फुट) अथवा आधी से दो हाथ अधिक अर्थात् 8, 7, 6 कर अर्थात् क्रमशः (12, 10.5, 9 फुट) मानी गई है।[147] रथ्या मार्ग उपरथ्या से छोटा होना चाहिए। ज्येष्ठादि पुरों में क्रमशः 3, 2.5, 2 हस्त अर्थात् (4.5, 3.75, 3 फुट) होता था।[148]

पुर में मार्ग विन्यास के अन्तर्गत अन्तिम मार्ग विन्यास **घण्टा मार्ग** (Ring Roads) हैं। इसके निर्माण के सम्बन्ध में निर्देश है कि ये नगर की परिधि या प्राकारभित्ति से मिले हुए हों। ये नगर बस्ती के चारों ओर फैले हुए होते हैं। इनका गुण तथा प्रमाण राजमार्ग के तुल्य होता है।[149] इस प्रकार ये सभी मार्ग-उपमार्ग पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण से उत्तर की ओर जाते हैं तथा परस्पर समकोण पर कटते हैं। नगर विन्यास में मार्ग सन्निवेश की यही पद्धति वर्तमान में भी अनेक नगरों, महानगरों में दिखाई पड़ती है।

नगर में नियोजित समस्त मार्गों के निर्माण में यह ध्यातव्य है कि नगर के सभी जन निवास, उद्यान, तड़ाग, क्रीड़ा क्षेत्र आदि की योजना में भी स्वास्थ्यप्रदायक वातावरण, सूर्य प्रकाश एवं स्वच्छ समीर का सञ्चार समुचित रूप से प्राप्त हो सकें।

---

144. समराङ्गणसूत्रधार, 23.9
145. वही, 23.10
146. वही, 23.12-13
147. वही, 23.11
148. वही, 23.11
149. समराङ्गणसूत्रधार, 23.14
150. वही, 22.45

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(5) अट्टालिका - जो वेश्म ज्यादा विस्तीर्ण और ऊँचा नहीं होता है, उसे 'अट्टालिका' (बुर्ज) कहते हैं।[150] इसका निर्माण प्राकारों में किया जाता है। ये अट्टालक पुर प्राकार के चारों ओर स्थित होते थे। ये गोपुर द्वारों के सदृश ही विशाल आकृति वाले होते थे। पुर में अट्टालक होने चाहिए यह मत्स्य पुराण भी प्रतिपादित करता है। इसकी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई प्राकार के बराबर होती थी। बुर्ज के ऊपर जाने के लिए सीढ़ियों का निर्माण किया जाता है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि दो अट्टालिकाओं के बीच दूरी 30 दण्ड (180 फुट) होनी चाहिए।[151] भोज ने यह दूरी 100 हाथ (25 दण्ड) बताई है। अट्टालक की चोटियों पर सैनिक तैनात रहते थे, जो शत्रुओं के बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा करते थे। पाटलिपुत्र में 570 अट्टालक थे ऐसा मेगस्थनीज द्वारा कहा गया है।[152]

(6) प्रतोली - जो सुरङ्ग के समान निर्मित है, वह प्रतोली (गली) कहलाती है। अमरसिंह द्वारा प्रतोली, रथ्या और विशिखा का अर्थ गली किया गया है।[153] इसका निवेश पुर तथा दुर्ग के प्रमुख द्वारों में अथवा बाजार आदि के बीच में किया जाता है। दो अट्टालकों के मध्य हर्म्य एवं दो तलों से युक्त रचना ही प्रतोली है।[154] प्रतोली का विन्यास एक द्वार के रूप में किया जाता था। पाटलिपुत्र नगर के परकोटे में अनेक प्रतोली विराजमान थीं।[155] प्रतोली न तो एकमात्र रथ्या है और न ही महाद्वार, बल्कि यह तो पुर के महाद्वार से सम्बन्धित त्रिभौतिक लम्बी रचना है। सभी महाद्वारों पर कपाट, इन्द्रकील एवं अर्गला से युक्त दृढ़ प्रतोली होनी चाहिए। इसमें राजमार्ग के समान ही उससे निकलने के लिए शालाएँ होती हैं। इसे आन्तरिक महाद्वार के प्रमाण में चार द्वारों को कोष्ठकों से संयुक्त किया जाता है।

इसमें द्वार के दोनों ओर शालाएँ तथा दो-दो द्वार मूषा पर होते हैं। इसके दूसरे तल पर द्वार के स्थान पर खिड़कियाँ होती हैं। तृतीय तल पर परिक्रमा एवं हर्म्यकण्ठ होते हैं। यहाँ पर ही नगर सुरक्षार्थ व्यालजाल, शतघ्नी, शस्त्रास्त्र एवं नाना यन्त्रों को रखा जाता था।[156] पुर के चारों तरफ उसकी अभिवृद्धि एवं सुरक्षा के लिए त्रितलों से युक्त प्रतोलियों में विशाल द्वारों का निर्माण करना चाहिए। प्रतोली से सम्बन्धित विवरण अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

(7) चत्वर - मार्गों के परस्पर जुड़ने पर जो स्थान निर्मित होता है उसे 'चत्वर'

---

151. अर्थशास्त्र, अधिकरण 3, अ. 3, पृष्ठ 105
152. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ 50
153. अमरकोश, काण्ड 2, पुरवर्ग 3, पृष्ठ 150
154. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3
155. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 145
156. समराङ्गणसूत्रधार, 23.38-46

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

(चौराहा) कहते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिए चतुष्पथ, शृङ्गाटक आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[157] इन चतुष्पथों पर कहीं सभामण्डप, कहीं पण्यशाला, कहीं देवालय, कहीं जलस्रोत, कहीं वास्तुकृत्य बनाकर उसकी शोभा को बढ़ाया जाता था। चत्वरों की निर्माण संख्या में नौ का निर्देश प्राप्त होता है।[158] कई बार इनकी संख्या नौ से अधिक भी हुआ करती थी क्योंकि यह संख्या नगर के प्रमुख मार्गों पर आश्रित थीं। इस प्रकार जहाँ पर दो मार्ग मिलते थे वहाँ स्वयं ही चत्वरों का निर्माण हो जाता था। समराङ्गणसूत्रधार में नौ चत्वरों का निर्माण राजमार्ग तथा महारथ्याओं के सन्निवेश से ही हुआ है जमदग्नि की नगरी को क्रयविक्रय की नाना वस्तुओं से युक्त तथा विविध सुन्दर चत्वरों से सम्पूर्ण बताया गया है।[159] द्वारका भी सोलह चत्वरों से युक्त अत्यन्त सुन्दर नगरी थी।[160]

(8) गोपुर – पुर के प्राकार में आश्रित द्वार को गोपुर (पुर द्वार) कहते है। इसके लिए गोपुर शब्द का व्यवहार किया गया है।[161] प्राचीन नगरों के प्राकार में प्राय: चार बड़े-बड़े द्वारों का निर्माण किया जाता था।[162] कहीं-कहीं अधिक द्वार संख्या भी प्राप्त होती है जैसे द्वारका नगरी।[163] ये द्वार नगर की चारों दिशाओं में स्थित होते थे। द्वार विशेषज्ञों की मान्यता है कि नगर की चारों दिशाओं में तीन-तीन द्वारों का निर्माण करना चाहिए, जिसमें एक-एक द्वार राजमार्ग पर तथा दो-दो द्वार महारथ्या पर होने चाहिए।[164] इस प्रकार नगर में कुल बारह बड़े द्वार होने चाहिए। इसका विस्तार 9, 8 अथवा 7 हाथ अर्थात् (13.5, 12, 10.5 फुट) तथा महारथ्याओं के द्वार 6, 5, अथवा 4 हाथ अर्थात् (9, 7.5, 6 फुट) होने चाहिए।[165] अष्टाध्यायी से विदित होता है कि पुर द्वार का नाम उस दूसरे पुर के नाम पर पड़ता था, जिसकी ओर उस द्वार से मार्ग निकलता था।[166]

(9) उद्यान - पुर निर्माण में उद्यान का समावेश भी आवश्यक माना गया है। इसका निर्माण परिखा आदि के बाह्यभाग में नगर के चारों ओर किया जाता था। इसमें विभिन्न प्रकार के पुष्पों के वृक्षों तथा पौधों को लगाया जाता है। आचार्य भोज ने भी स्वीकार किया है कि परिखा के चारों ओर फूलों के पौधों और वृक्षों से सुगन्धित उद्यानों को बनाना चाहिए।[167] कालिदास की

---

157. अमरकोश, काण्ड 2.17; वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 17.45
158. समराङ्गणसूत्रधार, 23.4
159. ब्रह्माण्डपुराण, 3, 27.14
160. हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, 100.28
161. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 3; शिशुपालवध सर्ग 13.27, अमरकोश, काण्ड 2, पुरवर्ग, पृष्ठ 82
162. जातक, 1.262; 3.414
163. वायुपुराण, 86.27; ब्रह्माण्डपुराण, 3.61.23
164. समराङ्गणसूत्रधार, 23.35
165. वही, 23. 36-37
166. पाणिनीकालीनभारतवर्ष, पृष्ठ 145
167. समराङ्गाणसूत्रधार, 23.23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

रचनाओं से विदित होता है कि नगर के बाहर स्थित उपवन इतने लम्बे-चौड़े थे कि उनमें एक फल वाटिका, शरीर को शीतल करने के लिए पत्थर, स्फटिक शिला वाली फुलवारी, सुगन्धित पुष्पों वाले तालाब, वापी तथा कूप इत्यादि सभी का समावेश होता था।[168] अयोध्या नगरी तथा लंका नगरी में भी वृक्षों का वन था।[169] अर्थशास्त्रकार कौटिल्य का मत है कि लकड़ी का प्राकार नहीं बनवाना चाहिए क्योंकि उसमें आग लगने का भय सदा बना रहता है। महाभारत में वर्णित इन्द्रप्रथ नगरी के चारों ओर उद्यान थे यह उल्लेख प्राप्त होता है।[170]

जिस प्रकार प्राचीन काल में नगर के चारों ओर पेड़-पौधे, पुष्पलताएँ इत्यादि बनाई जाती थी उसी प्रकार आधुनिक समय में भी नगर निर्माण पद्धति का सर्वस्व उद्यान विन्यास ही है। आज भी स्वच्छ वायु, हरे-भरे वृक्षों एवं लता समूहों के महत्त्व को समझते हुए नगर निवेशकों द्वारा उद्यानों, क्रीडारामों इत्यादि की योजना बनाई जाती है। यहाँ तक कि इसका निवेश आजकल गृह निवेश के समय भी गृहपद में सम्मिलित किया जाता है।

(10) दुर्ग - दुर्ग शब्द से तात्पर्य ऐसे किले से है, जहाँ पहुँचना कठिन हो। मयमत के अनुसार जो दुर्गम, दुरवगाह, दुर्लङ्घ्य हो, उसे दुर्ग (किला) कहते हैं। इसका निर्माण रक्षा के लिए और विजय प्राप्ति के लिए किया जाता है।[171] पहले भी बताया जा चुका है कि प्राचीन समय में नगर दुर्ग रूप में थे। रामायण तथा महाभारत इत्यादि में नगरों को दुर्ग का रूप प्राप्त था।[172] मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों को भी दुर्ग का रूप प्राप्त था, परन्तु कालान्तर में दुर्ग का सन्निवेश नगर के आन्तरिक प्रदेश में या किसी कोण विशेष पर अथवा नगर से कुछ दूरी पर युद्ध के लिए किया जाने लगा।[173] अत: स्पष्ट है कि राजा की आत्मरक्षा का सशक्त साधन दुर्ग था, पुर प्रतिरक्षा का भी एक महत्वपूर्ण विधान था। कौटिल्य ने उन सीमा प्रदेशों में दुर्गों के निर्माण का निर्देश दिया है, जहाँ से नगर की रक्षा की जा सके। काल प्रवाह के साथ-साथ दुर्ग निवेश के लिए भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन विविध ग्रन्थों में प्रतिपादित है।

(11) आपण - आचार्य मय ने परिवारों की आवास पंक्ति के साथ-साथ आपणों (बाजारों) का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार बाजार के चारों ओर चलने योग्य मार्ग हों। उत्तर भाग में कुम्हार की तथा दक्षिण भाग में जुलाहे (वस्त्र निर्माता) की दुकान होनी चाहिए। जो मार्ग ब्रह्मपद को घेरता हो, वहाँ पान, फल तथा सारयुक्त सामग्रियों का हाट (दुकान) बनाना चाहिए।

168. कालिदास का भारत, अध्याय 14, पृष्ठ 65
169. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 5.12; सुन्दरकाण्ड, सर्ग 2.6
170. महाभारत, आदिपर्व, अ. 199.39-41
171. वैदिक सम्पत्ति, चतुर्थखण्ड, पृष्ठ 562
172. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 4, पृष्ठ 111, मयमत, अ. 10.71
173. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 12.1; अपराजितपृच्छा, अ. 72, अर्थशास्त्र, अधिकरण 1, अ. 19, शिल्परत्न, अ. 5

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ईशान से महेन्द्र तक मछली, माँस, सूखे पदार्थ एवं शाक (सब्जी, तरकारी) की दुकान हों। महेन्द्र से अग्निकोण तक खाने-पीने योग्य पदार्थों की दुकान हों। अग्निकोण से गृहक्षत तक बरतन की दुकान हों। गृहक्षत से निऋति तक कांस्य इत्यादि धातुओं की दुकान तथा पितृपद से पुष्पदन्तपद तक वस्त्रों की दुकान होनी चाहिए। पुष्पदन्त से समीर तक चावल, अन्न तथा भूसे के बाजार होने चाहिए। वायु से भल्लाट पद तक वस्त्रादि की हाट होनी चाहिए। नमक इत्यादि पदार्थ तथा तेल आदि की दुकानें भी यहीं होनी चाहिए। भल्लाट से ईश पद तक सुगन्धित पदार्थों तथा पुष्पों की दुकान होनी चाहिए।[174] इस प्रकार नगर में वस्ति विन्यास में चारों ओर नौ प्रकार के आपणों का वर्णन किया गया है। अपराजितपृच्छा[175], राजवल्लभमण्डन[176] इत्यादि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नाना प्रकार के आपणों (बाजारों) का वर्णन किया गया है।

(12) नगर में धार्मिक स्थल - विभिन्न धर्म-जातियों वाले हमारे भारत देश में प्रत्येक कोने, ग्राम, नगर, महानगर में अनेक धार्मिक स्थल देखने को मिलते हैं। इन धार्मिक स्थलों में मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारे इत्यादि समाहित होते हैं। इन सभी का निर्माण खुली जगह पर करना चाहिए तथा आस-पास की जगह को दूर-दूर तक खाली छोड़ना चाहिए। ताकि जनवासियों को भीड़भाड़ तथा शोर-शराबे से कुछ देर तक शाँति की प्राप्ति हो सके। प्राचीन काल में नगर में रहने वाले सम्प्रदाय के अनुसार देवालय या आराधना स्थान बनाए जाते थे। देवालय से अभिप्राय देवों के रहने का स्थान है। इसे देवायतन या मंदिर की संज्ञा भी दी गई है। भोज ने नगर के अन्दर तथा बाहर भिन्न-भिन्न दिशाओं में मंदिरों का निर्माण निवेशित किया है। नगर के अन्दर मध्य में ब्रह्मा, इन्द्र, बलराम तथा कृष्ण के देवायतन होने चाहिए।[177] कौटिल्य द्वारा भी इस भाग में दुर्गा, विष्णु, जयन्त, इन्द्र, शिव, वरुण, अश्विनी कुमार, लक्ष्मी तथा मदिरा का उल्लेख प्राप्त है।[178] विश्वकर्मा भी इसी स्थान पर लक्ष्मी इत्यादि देवियों के मन्दिरों की स्थापना को कहते हैं। देवालय तो तीर्थ स्थान पर, नदी के किनारे पर, पर्वत की चोटी पर, वनों में, उपवनों तथा उद्यानों में, सिद्धि प्रसिद्ध भवनों में और अन्य भी मनोरम स्थानों पर होने चाहिए।[179]

नगर के बाहर मन्दिर उसके प्राकार-परिखा तक 100-100, 1500 या 200 चापों के परिमाण से अपने-अपने पारिवारिक देवताओं से युक्त बनाने चाहिए।[180] मन्दिर निवेश में पूर्व दिशा

---

174. मयमत, अ. 10.78-87
175. अपराजितपृच्छा, 72.32-40
176. राजवल्लभमण्डल, 4.18
177. समराङ्गणसूत्रधार, 23.130
178. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 4
179. शिल्परत्न, 9.1
180. समराङ्गणसूत्रधार, 23.108, 109-10

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

के मन्दिरों का मुख पश्चिम में, पश्चिम दिशा के देवायतनों का मुख पूर्व में तथा उत्तर एवं दक्षिण दिशा में स्थापित मन्दिरों के मुख एक-दूसरे के विपरीत होने चाहिए।[181] अर्थशास्त्रकार चाणक्य भी इसी बात का समर्थन करते हैं।[182]

(13) नगर की आवासीय व्यवस्था - नगर का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग वस्ति विन्यास को कहना सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि नगर में निवेशित विविध संरचनाओं का प्रयोग नगरवासियों की आवश्यकता की दृष्टि से किया जाता है। प्राचीन समय में वस्ति विन्यास का स्वरूप आधुनिक समय की आवासीय व्यवस्था से पूर्ण भिन्न था क्योंकि उस समय सूर्य के अनुरूप विविध भवनों का निर्माण निर्देशित दिशाओं में किया जाता था। जाति का निर्धारण गुण (कर्म) से तथा जन्म से किया जाता था।[183] उस समय पुरों में पृथक्-पृथक् वर्णों एवं विविध व्यवसायों के अनुरूप ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों की आवासीय व्यवस्था नियत थी।[184] अनेक ग्रन्थों में विविध वर्णों तथा विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्ध रखने वाले जनों की निवेश व्यवस्था के प्रसङ्ग में राजेवश्म (राजमहल) का सन्निवेश नगर के केन्द्र में करके अन्य आवासीय भवनों की व्यवस्था दी गई है।[185]

सूत्रधार मण्डन द्वारा नगर के पूर्व में ब्राह्मणों, दक्षिण में क्षत्रियों, मध्य में वाणिज्य कर्म में निपुण वैश्यों तथा उत्तर में शूद्रों को बसाने की बात कही गई है।[186] विश्वकर्मप्रकाश में उत्तर दिशा में ब्राह्मणों को, पूर्व दिशा में क्षत्रियों को, दक्षिण दिशा में वैश्यों को तथा पश्चिम दिशा मे शूद्रों (शिल्पियों) को बसाने का निर्देश प्राप्त होता है।[187] ब्राह्मण जाति के निवास हेतु अधिकांश ग्रन्थों में उत्तर दिशा को ही उत्तम माना गया है। नगर के पूर्व भाग को महत्त्व प्रदान करते हुए भोज ने क्षत्रियों का निवास शुभ कहा है।[188] दक्षिण दिशा में वैश्यों का निवास अधिकतर ग्रन्थों में प्रतिपादित है। शूद्रों के आवास हेतु पश्चिम दिशा को उपयुक्त कहा गया है।[189]

---

181. वही, 23.112-13
182. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 4
183. वैदिक सम्पत्ति, चतुर्थखण्ड, पृष्ठ 562
184. प्राचीन भारतीय पुरनिवेश, अ. 4, पृष्ठ 141
185. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, 12.1; अपराजितपृच्छा, अ. 72, अर्थशास्त्र, अधिकरण 1, अ. 19; शिल्परत्न, अ. 5, शुक्रनीति, अ. 5
186. वास्तुसारमण्डन आयतत्त्वञ्च, अ. 5.6
187. विश्वकर्मप्रकाश, अ. 2, 129-131
188. अपराजितपृच्छा, 23.102
189. अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अ. 4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

आचार्य वराहमिहिर भी इस बात का समर्थन करते हैं कि पुर, ग्राम तथा गृहों के कोनों में निवास करने से दोष होता है, किन्तु अन्त्यज श्वपच (चाण्डाल आदि) जातियों की इस स्थान पर उन्नति होती है।[190]

10. नगर में स्थापित अन्य संरचनाएँ

सरकारी कार्यालयों, फैक्ट्रियों, कारखानों, कार्यालयों, बैंकों, होटलों, कंपनियों, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, संग्रहालयों, पुस्तकालयों, व्यायामशालाओं, स्मारकों, स्मृतिगृहों तथा ट्रस्टों इत्यादि का समावेश व्यवसायिक स्थलों में सम्मिलित है। महानगरों में जहाँ आज विशालकाय सरकारी और गैर सरकारी इमारतों का निर्माण होने लगा है, उसके कारण भूमि का अभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा है। अब अमेरिका, न्यूयार्क इत्यादि देशों की देखादेख भारत में भी 30-40 मंजिलों तथा व्यावसायिक इमारतों का निर्माण होने लगा है। इनमें वास्तु नियमों का उतना ध्यान नहीं रखा जाता जितना हवा, प्रकाश, कोरीडोर, निकास इत्यादि का रखा जाता है। लोहे के सरियों पर टिकी ये बहुमंजिला इमारतें विद्युत अवरोधी होती हैं, परन्तु अज्ञात भूकम्पों के भय से रहित नहीं हैं। प्राय: फैक्ट्रियाँ, कारखानें आदि शहर के बाहर ही बनाए जाते हैं किन्तु भूमि के अभाव के कारण आजकल तो कारखानों के आसपास ही नगर बस जाते हैं। कारखानों की ऊँचाई कम से कम 20 फीट तथा साफ सुथरे जगह पर इसका निर्माण आवश्यक है।

विद्यालयों, विश्वविद्यालयों इत्यादि का निर्माण नगर की हरी-भरी शांत जगह पर होना चाहिए ताकि अध्ययन हेतु शांत वातावरण प्राप्त हो सके। इसका निर्माण भीड़भाड़ से दूर किया जाए तो उत्तम रहेगा। इसमें साफ सुथरा बड़ा मैदान, बड़े-बड़े कमरे, खुली बड़ी एवं चौड़ी खिड़कियाँ बनानी चाहिए। प्राचीन काल में तो विद्याशाला का निर्माण एक शैली तथा एकसूत्र प्रमाण से किया जाता था।[191] लाइब्रेरी में बहुमूल्य पुस्तकों तथा संग्रहालय में पुरातत्व पदार्थों को बड़ी देखभाल से सुरक्षित रखा जाता है। अत: इनका निर्माण एक ऐसी जगह होना चाहिए जहाँ ये दीर्घकाल तक सुरक्षित रह सके। प्राचीन काल में दुर्ग में निवेशित रचनाओं ने अब स्टेडियम, होटलों, क्लबों, अतिथिगृहों, बैंकों इत्यादि का रूप धारण कर लिया है। इन सभी का निर्माण भी पूर्णत: स्वच्छ तथा सामुदायिक केन्द्रों के आस-पास करना चाहिए। मेमोरियल, स्मृतिगृह, सभागार, नाट्यशाला (Hall) इनका निर्माण नगर के किसी भी मजबूत स्थल पर करना चाहिए। अस्पताल, डिस्पेंसरी इत्यादि स्वास्थ्य संस्थानों का निर्माण शहर के भीड़भाड़ वाले वातावरण से कुछ दूर करना चाहिए। नगर में जल भण्डारण (टंकियों) की व्यवस्था ईशान कोण में तथा नाट्यशाला का निर्माण मध्य में सम्मेलन

---

190. समराङ्गणसूत्रधार, 23.130
191. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र अ. 40.1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थल (Auditorium) के निकट करना चाहिए।[192] नगर के ईशान भाग में अथवा उत्तर या दक्षिण भाग में नदी के किनारे ही श्मशान भूमि की व्यवस्था करनी चाहिए।

इस प्रकार नगरों के विषय में विस्तार पूर्वक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगरों के स्वरूप में काल परिवर्तन के कारण पर्याप्त अन्तर हुआ है। आधुनिक समय में न तो पहले की तरह तानाशाही शासन दिखाई देता है और न ही प्राचीन काल के सदृश आवासीय व्यवस्था। आधुनिक समय के नगरों की निर्माण योजना वास्तुशास्त्र के नियमों में निबद्ध न होकर भूमि सुविधा की दृष्टि से सुनिश्चित की जाती है। इसका ध्यान नहीं रखा जाता कि कैसे वास्तुशास्त्र मनुष्यों के कल्याण के लिए स्वस्थ तथा निरोगी काया का आधान करता है। बड़ी दु:खद बात है कि आज वास्तुशास्त्र का महत्त्व केवल कुछ निर्माणों के अधीन ही सिमट कर रह गया है तथा नगर विन्यास में इसकी पूर्णरूप से अनदेखी की जा रही है। निश्चित रूप से नगर निवेश में वास्तुशास्त्र के नियमों का पालन करके मनुष्य सुख-सम्पन्नता द्वारा मानसिक शांति को प्राप्त करके उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ होकर अपना चहुंमुखी विकास कर सकता है।

---

192. वही, अ. 49.2

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऋग्वैदिक वास्तु-व्यवस्था

श्री योगेन्द्रकुमार शर्मा एवं डा. रविन्द्रप्रसाद उनियाल

वास्तुशास्त्र का उद्देश्य सर्वविध सुखी एवं शान्त सुरक्षित जीवन से है जहाँ रहकर व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके। भौतिकवादी दृष्टिकोण से हम एक घर को सुन्दर आकार तो दे सकते हैं परन्तु उसमें व्यक्ति सुखी समृद्ध रहेगा इसकी निश्चित कल्पना नहीं की जा सकती है, जबकी हमारे आचार्यों ने सर्वविध विचार किया है। हम धरती पर गृह बनाते हैं। पृथ्वी हमारी माता है। वह हमें धारण किये हुए है, वह हमारे सौर परिवार की एक सजीव इकाई है जिसमें चतुर्दिक् जीवन फल फूल रहा है। ऐसा ग्रह हमारे सौर मण्डल में एक ही है शायद और भी अधिक जीवित ग्रहों वाले सौर मण्डल होंगे जिनका वर्णन रूपान्तर से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है परन्तु यह समग्र विश्व ब्रह्माण्ड जिस महत् चेतना से व्याप्त है जो इसको संचालित, नियमित और नियन्त्रित करता है वही ईश्वर है। यह कालातीत ईश्वर नित्य, नूतन, पुरातन, स्थिर और परिवर्तनशील भी है। दृश्य और अदृश्य सबका भूत, भविष्य, वर्तमान भी यही है। यही वास्तुपुरुष के रूप में पूजा जाता है। आचार्यों ने मानव की सफलता एवं पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि के लिए गृह की परमावश्यकता को माना है।[1] अर्थात् गृहस्थ की सभी क्रियायें स्वगृह में ही सिद्ध होती है, न कि परगृह में। अतः गृहारम्भ करना चाहिए। अर्थात् दूसरे के घर में किये हुए श्रौत स्मार्तादि शुभ कर्मों का फल प्रायः निष्फल हो जाता है क्योंकि इस प्रकार के कार्यों का फल गृहपति को जाता है।[2]

भारतीय चिन्तन धारा के आदि स्रोत के रूप में वेद ही सभी शास्त्रों के मूल आधार हैं। यह सर्वविदित है कि चारों वेदों के चार उपवेद भी विख्यात हैं। यथा ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व वेद, अथर्ववेद का स्थापत्य वेद। स्थापत्य वेद का अभिप्राय भी निवास योग्य स्थापना से ही है। ऋग्वेद के एक वर्णन में वास्तोष्पति से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे वास्तोष्पते तुम हमको समझो। हमारे घर को नीरोग करने वाले होओ। जो धन हम तुम

---

1. गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं विना।
   यतस्तस्माद् गृहारम्भकर्म यात्राभिधीयते।। वास्तुरत्नावली 1.4
2. परगेहे कृताः सर्वा श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
   न सिद्धयन्ति यतस्तस्माद् भूमीशः फलमश्नुते।। बृहद्वास्तुमाला 1.7

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

से मांगे तुम हमको दे दो। हमारे द्विपद चतुष्पदों के लिए कल्याणकारी होओ।[3]

सहस्रों वर्षों से हमारे आचार्यों ने इस क्षेत्र में अनेकों परिवर्तन एवं परिवर्धन किये। मत्स्य पुराण के अनुसार भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित, विशालाक्ष, पुरन्दर, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र, बृहस्पति एवं अश्विनीकुमारों ने वास्तु की विस्तृत व्याख्या करके अच्छे कीर्तिमान स्थापित किये हैं।[4] अश्विनीकुमार, विश्वकर्मा, मय सर्वाधिक रूप से वास्तु के विख्यात आचार्य रहे हैं। विश्वकर्मा व मय प्रायः वास्तुशास्त्र के समकालीन प्रतिद्वन्द्वी जाने जाते हैं। आज दानव शिल्पी मय का मयमतम् तथा देव शिल्पी विश्वकर्मा का विश्वकर्मा प्रकाश नाम के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उत्तरोत्तर वास्तुशास्त्र पर अनेकों स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इन सभी ग्रन्थों में हर तरह के वास्तु की चर्चा ही नहीं अपितु वास्तु के उद्देश्यों एवं आवश्यकता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया।

स्थापत्य वेद ही उत्तरवर्ती काल में वास्तुशास्त्र के रूप में परिणत हुआ। वैदिक काल में गृहों का निर्माण ही वास्तु माना जाता था। बाद में गृहों के विकास के साथ ही ग्रामों, नगरों एवं महानगरों का विकास होने लगा। ये सभी विकास वास्तु के अन्तर्गत ही हुए, जिसके चलते वास्तु के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भारतीय संस्कृति का मूलाधार देव तत्व है। यहाँ कोई भी कार्य बिना देवत्व के प्रारम्भ नहीं किया गया, कोई भी शास्त्र बिना देवत्व के पठनीय नहीं है। इसमें कोई भी कला बिना देवत्व के ग्राह्य नहीं है। जैसे - नृत्य कला में नटराज शिव, संगीत में नाद ब्रह्म, आलेख में जगन्नाथ के पट चित्र तथा वास्तु में वास्तु पुरुष (वास्तु देवता)। यह संस्कृति सर्वत्र देव भावना से बंधी हुई है। कह सकते हैं कि यही भारतीय स्थापत्य की विशेषता है। हमने कला और विज्ञान को अध्यात्म एवं दर्शन से अलग नहीं रखा। हमारी मान्यता के अनुसार कला का जन्म मनोरञ्जन से नहीं अपितु धर्म और दर्शन से हुआ है। जो विज्ञान और कला आध्यात्म से शून्य तथा दर्शन से अनुप्राणित नहीं है वह कला एवं विज्ञान शुष्क काष्ठ की भाँति दहन योग्य एवं त्याज्य है। कला एवं विज्ञान आसुरी संपदा है, उसे राक्षस नहीं बनने देना चाहिए इसलिए उसे भी देवत्व की भावना से सदैव अनुप्राणित रखना चाहिए जिससे वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यावा, सूर्य, चन्द्रादि के समान जन - मंगल एवं जन - रक्षण कर सके। शुष्क विज्ञान कभी भी भारतीय संस्कृति में ग्राह्य नहीं रहा।

भारतीय वास्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है और महान से महान भी, गृह चिन्तन में अणोरणीयान् हैं तथा ब्रह्माण्ड के चिन्तन में महतोमहीयान्। अतः इस सन्दर्भ में मात्र गृह तक ही चिन्तन करना

---

3. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
   यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। (ऋग्वेद 7.54.1)
4. विश्वकर्माप्रकाश उपोद्घात पृ.6

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अभिशाप होगा। वास्तु भारतीय संस्कृति का वो ओजस्वी अंग है। जिसमें पार्थिव - अपार्थिव दोनों का संगम होता है। इस सन्दर्भ का यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि इस देश में भौतिक पक्ष को गौण माना गया, ऐसा नहीं है। हमने तो सदैव आध्यात्म एवं भौतिक को संतुलित रखा। भौतिक की उद्दाम गति का सदैव आध्यात्म से निरोध होना चाहिए तभी प्रक्रिया सनातन रह सकती है। अन्यथा भौतिकवादी भस्मासुर अपने जनक शिव को ही भक्षण करने का प्रयास करेगा।

भारतीय वास्तुकला का प्राचीनतम स्वरूप ऋक्संहिता में दिखायी देता है। यद्यपि ऋग्वेदकालीन आवासीय व्यवस्था पर मन्त्रों से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है, तथापि उल्लेखनीय है कि इस संहिता में आवास के लिए तीस से कुछ अधिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ शब्द विशेष रूप से गृह के वाचक है और कुछ सामान्य रूप से आवास का बोध कराते है। आवास के अवयव, उपकरण सुरक्षा और प्रकार से सम्बद्ध शब्दों और विवरणों के आलोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ऋग्वेद कालीन आवासों के स्वरूप ओर प्रयोजन आदि के आलोचनात्मक कतिपय महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। ग्राम, पुर, कुल और कुलपति सम्बन्धी शब्द और विवरण इनके स्वरूप की परिकल्पना के द्योतक हैं।

ग्राम और पुर

ऋग्वैदिक आर्य स्पष्ट रूप से नगरों के निवासी नहीं थे। ऋक्संहिता में न 'नगर' शब्द का प्रयोग हुआ है और नहीं सप्तसिन्धु के नगरों का ही कोई उल्लेख है। ऋग्वैदिक आर्य कृषक और पशुपालक होने से ग्रामों में निवास करते थे। वे कृषक थे और अपने पशुओं की अनुकुलता देखकर गाँवों में रहते थे।[5] ऋचाओं में 'ग्राम' शब्द बहुधा प्रयोग में आया है।[6] ग्राम और वन का भेद कभी पशुओं और कभी पौधे के भेद द्वारा व्यक्त किया गया है।[7] ये ग्राम कदाचिद खुले हुए थे, यद्यपि इनके भीतर कभी दुर्ग प्रकार या गढ (पुर) भी बना लिया जाता था।[8] सम्भव है, इस प्रकार के गढ अक्सर बहुत बड़े आकार के होते रहे होंगे क्योंकि एक को चौड़ा (पृथ्वी) और विस्तृत (ऊर्वी)[9] कहा गया है। अन्यत्र पत्थर के बने (अश्ममयी) दुर्ग का उल्लेख है।[10] कई बार लोहे के बने गढों का उल्लेख हुआ है, जिसे आयसी पुः कहा गया है।[11] यद्यपि 'अयस्' को विद्वानों

---

5. राहुल सांकृत्यायन ऋग्वैदिक आर्य इलाहाबाद 1957, पृ. 215।
6. ऋ. 1.44.10, 1.114.1, 1.40.1, 2.21.7, इत्यादि
7. ऋ. 10-90-8,
8. कीथ, वैदिक इण्डेक्स भाग 1(अनूदित) वाराणसी, 1962, पृ. 273,
9. पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी। ऋ. 1-189-2,
10. शतमयश्मन्मयीनां पुराम्। ऋ. 4.30.20, तुलनीस- 'अश्मपुर'। शत. ब्र. 3.1.3.11,
11. ऋ. 7.3.7., 7.95.1 7.15.14, 10.101.8, इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ने तांबे[12] या लोहे[13] के अर्थ में धातु का नाम माना है, तथापि पुर के साथ लोह अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में पुरी, पुर, पु, प्राकार आदि के वर्णन अपेक्षाकृत अधिक हुए हैं, जो वास्तु की दिशा में हुई उन्नति के संसूचक हैं।[14] ऋग्वेदसंहिता में अधिकतर देवों द्वारा प्राथित रक्षा के प्रसंग में आयसी पुः का उल्लेख आलंकारिक रीति से हुआ है तथापि सुरक्षा और दृढ़ता को द्योतित करते हुए इन विवरणों से पुर् के चारों ओर से दीवारों से घिरे होने का संकेत तो ग्राह्य है ही।

कुल और गृह

ऋक्संहिता के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्यो का सामाजिक और पारिवारिक जीवन सन्तुष्ट और सुखद था। लोग अपने-अपने गृहों में रहते थे। जिस स्थान पर परिवार या संयुक्त परिवार और इनके पशु रहते, उसे गृह कहते थे। गृहों के मंगल के लिए, शुभ शकुन और चोरों से निर्भयात् प्रार्थित है।[15] सम्भवतः गृह के भीतर पृथक्-पृथक् हिस्से होते थे, यथा - अग्निशाला, पशुशाला आदि। ध्यातव्य है कि 'शाला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद की संहिता में नहीं हुआ है। गृहाग्नि को गृह के बीच में जलाया जाता था।[16] अथर्ववेदसंहिता के दो सम्पूर्ण सूक्तों में शाला के स्वरूप ओर निर्माण के विवरण है।[17] गृहों का समूह ही ग्राम होता था। एक गृह में एक कुल रहता था। ऋग्वेद में परिवार का वाचक शब्द 'कुल' है। कुल का मूल अर्थ ही 'गृह' है।

गृहपति और वास्तोष्पति

ऋग्वेद में जहाँ परिवार के प्रमुख पुरुष को 'गृहपति'[18] कहा गया है, तो गृहस्वामिनी को 'गृहपत्नि'[20] बताया गया है। दोनों गृह के स्वामी हैं इसलिए दोनों के लिए एक ही शब्द दम्पति[19] भी कहा जाता है। द्वारों की रक्षा के लिए गृह के अधिष्ठाता देवता के रूप में वास्तोष्पति का स्तवन

---

12. Om Prakash, Economy and food in Ancient India, Part I, Delhi, 1987, p. 69.
13. कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग 1 पृ-613, घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान (अनूदित), दिल्ली, 1976, पृ. 138,
14. Jogiraj Basu, India Of The Of The Brahmanas, Caicutta] 1969 P. 74,
15. अव कन्द दक्षिणतो गृहाणाम् ---------- मा नः स्तेन ईशत। ऋ. 2.42.3,
16. Chhanda Chakraborty, Common Life in The Rigveda and Atharvaveda, Calcutta, 1977,p.7.
17. अथर्व. 3.12, 9.3
18. ऋ. 6.53.2,
19. ऋ. 1.127.8, 9.39.2,
20. ऋ. 10. 85.26,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

हुआ है।[21] गृह्यसूत्र में विधान मिलता है कि नवीन आवास में प्रवेश करने से पहले वास्तोष्पति को मनाना चाहिए। यह विधान ऋग्वेदीय सूक्त के साथ मिलकर इस तथ्य की ओर निर्देशक (आवास का स्वामी) अर्थ से भी झलकता है।[22] वास्तोष्पति से निरोगता पशु सम्पत्ति के अतिरिक्त योग और क्षेम को भी चाहा गया है।[23]

ऋक्संहिता में आवासीय अवयवों के अर्थ में कुछ शब्द प्राप्त होते हैं, यद्यपि उनमें से कुछ का अभिप्राय प्रायशः संदिग्ध ही है। 'आता' शब्द का सहिता में तीन बार प्रयोग हुआ।[24] निघण्टु (1-6) में यह दिङ्नामों में आम्नात है और सायणाचार्य ने सर्वत्र इसका दिशाओं से ही अर्थ लिया है, तथापि कीथ और डॉ. सूर्यकान्त ने लैटिन शब्द से तुलना करते हुए इसका तात्पर्य दरवाजे का ढाँचा बताया है।[25] आ पूर्वक अत् धातु से व्युत्पन्न होकर जिसकी ओर मुख करके जाया जाता है[26] अर्थ को देता हुआ आता शब्द भाव की दृष्टि से दोनों ही अर्थो में संगत प्रतीत होता है। निघण्टु में छदिस् शब्द यद्यपि गृहनामों में पठित है तथापि संहिता में एक बार ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है, जहाँ द्यौस् को सूर्या के विवाहरथ का छदिस् बताया गया है।[27] आच्छादनार्थ छद् धातु में इसी प्रत्यय से व्युत्पन्न इस शब्द से छान, छप्पर या आच्छादन का अभिप्राय है, जो द्वार या गाड़ी का हो सकता है।[28] इसी से युक्त द्वार को छदिस् कहा गया है।[29] बाद की संहिताओं में 'छदिस्' का उल्लेख बहुधा हुआ है। संहिता में प्राप्त 'ओपश' शब्द सन्दिग्ध आशय वाला है, और अधिकतर इसका अर्थ चोटी या वेणी ही किया गया है।[30] कीथ की मान्यता है कि अर्थववेद में द्वार की छत का वर्णन करते हुए इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है।[31] दुर् और द्वार शब्दों का ऋग्वेद में और उसके बाद भी बहुधा शाब्दिक या लाक्षणिक रूप में गृह के द्वार के लिए प्रयोग हुआ है। बाद का रूप द्वार इसी आशय में इसी से उद्भूत है। द्वार की यास्क ने तीन निरूक्तियाँ दी है- गत्यर्थ 'जु'

---

21. ऋ. 7.54,7.55.1
22. मैकडॉनल, वैदिक देवशास्त्र (अनूदित), दिल्ली 1982, पृ. 357.58,
23. पाहि क्षेमे उत योगे वरं नः। ऋ. 7.54.3,
24. ऋ. 1.56.5, 1.113.14, 3.43.6,
25. Suryakanta, A Practical Vedic Dictionary, Delhi 1981, P. 132, कीथ, वैदिक इण्डेक्स भाग 1. पृ. 257,
26. आभिमूख्येन गम्यन्ते प्राणिभिः आताः। सायण भाष्य ऋ. 3.43.6,
27. घौरासीदुतच्छदिः। ऋ. 10.85.10, सायण, छदिः उपर्यपिधनम्। वाचस्पत्यम्।
28. उणादिसूत्र 2.268,
29. ऋ. 6.15.3, 6.46.9, 6.67.2,
30. ऋ. 9.71.7, 10.85.5,
31. अथर्व. 6.138.1,2., 9.3.8, कीथ, वैदिक इण्डेक्स भाग 1.पृ. 139,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

या 'द्रु' से द्वार बनता है। निवारणार्थक वारय् से भी द्वार बनता है।[32] यह नित्य बहुवचनान्त है। 'देवीद्वार' एक आप्तो-देवता का नाम है। भारोपीय भाषा में इसके समकक्ष शब्द 'dhuor' और ग्रीक में 'thura' मिलते हैं, जिनके अर्थ भी द्वार ही है।[33] एक अन्य शब्द 'कक्ष' यद्यपि एक बार 'अतिगहनप्रदेश' के अर्थ में भाष्यकारों द्वारा ग्राह्य है[34], इसे ही गृह के कक्ष का पूर्वरूप माना जा सकता है। भवन के आधारभूत खम्भे के लिए 'स्थूण' और उपमित् शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[35]

गृह के उपकरणों में कलश, मुसल, चलनी, सूप आदि बरतनों और सिलबट्टा, औजार आदि वस्तुओं के अतिरिक्त सोने ओर बैठने के लिए प्रोष्ठ, वह्य, तल्प नाम से जिस घरेलू सामग्री का उल्लेख हुआ है,[36] उससे ऋग्वैदिक गृहों की सामग्री का किंचित् सकेत मिलता है। नित्य प्रति के ये उपयोगी उपकरण आवासीय व्यवस्था के आन्तरिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

आवास की सुरक्षा और प्रकार

मानवीय आवासों का सामान्य प्रयोजन सुविधा और सुरक्षा है, परन्तु इसके लिए साधन अपेक्षित हैं। यही कारण है कि आवास के स्वरूप में उसके स्वामी के सामर्थ्य का प्रभाव होता है। ऋग्वैदिक आवास दो प्रकार के अवश्य ही रहे होंगे। अल्प-साधन सम्पन्न जनों के लिए छोटे गृह-जो पत्थर, लकडी, बांस, मिट्टी, घास आदि से बनते थे।[37] धनवान व्यक्तियों के लिए बड़े और विशाल गृह-जो अपेक्षाकृत दृढ़ और सुरक्षित होते होंगे। एक सूक्त में किसी श्रीमान् के भव्य प्रासाद का सांकेतिक विवरण प्राप्त होता है जिसे हर्म्य कहा गया है, जिसमें माता पिता, अन्य सम्बन्धी जन और कई स्त्रियाँ रहती हैं। इसमे कई कोठे है और सुरक्षा के लिए प्रहरी के रूप में कुत्ते भी दरवारजे पर रहते है।[38] ऋषि ने कामना की है कि निवास स्थान उत्तम प्रकार से सुरक्षित (सुप्तावीः क्षय) हो।[39] वह द्रोहकारी निन्दकों से बचा रहे और दीर्घकाल तक टिकने वाला (दीर्घश्रुत् शर्म) हो।[40] अश्विनी से ध्रुव यश और ध्रुव छर्दि प्रार्थित है।[41] अतः घर भी यश की तरह

---

32. द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा। नि. 8.10.1,
33. Varma, the Btymologies of Yaaska, Hoshiarpur, 1953.p.33
34. ऋ. 10.28.4,सायण. अतिगहनदेशात् उद्गीथ.गहनप्रदेशात्।
35. उपमिन्न रोधः। ऋ. 4.5.1, स्थूणेव जनाँ उपमिद् ययन्थ। ऋ. 1.59.1
36. ऋ. 7.55.8,
37. ऋ. 7.89.1, विश्वेश्वरनाथ रेड, ऋग्वेद पर, की ऐतिहासिक दृष्टि, वाराणसी, 1967, पृ. 210,
38. ऋ. 7.55, वेलणकर, ऋग्सूत्रक्तवैजयन्ती।
39. सुप्तावीरस्तु स क्षयः। ऋ. 7.66.5,
40. ताँस्त्रायस्व सहस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छानः शर्म दीर्घश्रुत्। ऋ. 7.16..8,
41. ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या। ऋ. 7.74.5,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

स्थिर होना चाहिए। उपासक धनधन्य से सम्पन्न घर (इरावत् वर्तिः) में ही जाना चाहता है।[42] वह पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न गृहों (प्रजावतीषु दुर्यासु) में रहना चाहता है।[43] सन्तान धन और अन्न से भरे-पूरे घरों की कामना में[44] आवास घर और परिवार लगभग पर्याय हो जाते हैं। स्वाभाविक ही है इस प्रकार की प्रार्थनाएँ प्रभूत रूप से की गयी हों। इससे मात्र यह निष्कर्ष निकालना ही उपयुक्त होगा कि ऋग्वैदिक आर्य अपने आवास-स्थान को प्रत्येक दृष्टि से सुरक्षित सुखपूर्ण और सम्पन्न रखना चाहते थे। सुन्दर, समृद्धि, विशाल और सुरक्षित घर की स्पृहा को सुव्यक्त करने वाले ऋषि वसिष्ठ की उक्तियाँ ही यहाँ उल्लेख योग्य है कि मिट्टी के घर में नहीं रहना चाहता हूँ।[46] हे वरुण! मैं तुम्हारे बड़े परिणाम वाले सहस्र द्वारों वाले घर में जाना चाहता हूँ। मृन्मयं गृहम् और **सहस्त्रद्वारं गृहम्** का भेद आवास विषयक उस ऋग्वैदिक परिकल्पना को उद्घाटित करता है, जिसमें ऋग्वेदकालीन आवासों के प्रकार प्रयोजन और उद्देश्य अन्तर्निहित हैं।

ऋग्वेद की संहिता में भवन-निर्माण के स्वरूप का अत्यन्त संकेतात्मक उल्लेख है। त्वष्ट्रा और ऋभु को गृहनिर्माण करने वाला कुशल कारीगर कहा गया है। कई विद्वानों ने वैदिक गृहों की अनुमानित रूपरेखा और निर्माण-प्रक्रिया प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[47] पशुओं को आश्रय देने वाले विशाल आवास 'गोत्र' कहलाते थे, तो साधारण छप्परनुमा छतों से युक्त गृह 'छदिर' और पक्के गृह 'हर्म्य' कहे जाते थे।

संहिता में प्रयुक्त आवास वाची शब्द

ऋग्वेद में बड़े आकार वाले निवास - स्थानों से लेकर गुहा श्मशान और छाया तक को आश्रय का हेतु या निवास का आधार होने से आवास वाची या गृह वाची माना गया है। यहाँ आवास के अर्थ में लगभग तीस शब्दों का प्रयोग हुआ है - गृहम्, गयः, पस्त्यम्, दुरोणम्, दुर्य, दम/दम्, ओक, योनि, धयन्, निवेशनम्, वसति, छर्दिस्, वर्तिः, वेश्मन्, वरूथम्, शरणम्, वास्तु, शर्मन्, सदनम्, सदस्, सद्म, हर्म्यम्, विदथम्, गुहा, अस्तम्, क्षयः, अया, स्वसराणि, अज्म और छाया। कुछ शब्द आवास के अर्थ में सन्दिग्ध है - गोत्र, स्ति क्षोण। निघण्टु में बाइस गृह पर्याय बताए गए है गयः कृदर गर्तः हर्म्यम् अस्तम् पस्त्यम् दुरोणे, नीलम्, दुर्याः स्वसराणि अया, दये कृत्तिः योनि सद्म

---

42. यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत्। ऋ. 7.67.10, 7.40.5,
43. प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य। ऋ. 7.1.11,
44. अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षों नो अर्वान्युहीत वाजी। ऋ. 7.37.6,
45. मो षु वरूण मृन्मयं गृहं रान्नहं गमनम्। ऋ. 7.89.1, ग्रिफिथ ने मृन्नयं गृहं से कब्र का अर्थ लिया है। Griffith Rigveda (Samhita Translated)
46. बृहन्तं मानं वरूण स्वधवः सहस्त्रद्वारं जगमा गृहं ते। ऋ. 7.88.5,
47. कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग1, पृ. 255.57,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

शरणम् वरूथम् छर्दिः छदिः छाया शर्म अज्म।[48] इनमें से कृदर, ऋग्वेद में अप्राप्त है। गर्तः यद्यपि बहुप्रयुक्त है तथापि स्वयं निरूक्तकार ने उसे गृ (निगलना) से व्युत्पन्न मानकर श्मशान और गृ (प्रशंसा करना) से व्युत्पन्न मानकर रथ के अर्थ में ग्रहण किया है।[49] छदिस् तो आवासीय अवयव का वाचक है ही। 'नीलम्' का प्रयोग एक बार ही हुआ है, जहाँ वह एक स्थान पर रहते हुए यजमानों का बोधक है।[50] कृत्तिः शब्द भी सम्भवतः एक बार ही व्यवहृत हुआ है।[51] वहाँ इसका अर्थ सायण द्वारा यश अथवा अन्न किया गया है। यास्क ने भी कृत् (छेदना) से निष्पन्न मानकर इसको यश या अन्न का वाचक बताया है।[52] इस प्रकार यदि इन पाँच शब्दों को छोड़ भी दें तब भी निघण्टु के सतरह (17) गृह पर्याय संहिता में गृह के बोधक दिखायी देते हैं इनमें से भी यास्क ने गयः, हर्म्यम्, अस्तम्, नीलम्, दुर्याः, सद्म, वरूथम्, छर्दिः, छदिः, छाया- शब्दों की निरूक्ति या कोई चर्चा नहीं की। शेष में से कुछ शब्द ही उनके द्वारा गृह या आवास के अर्थ में व्युत्पन्न किये गये हैं। ऋग्वेद में प्राप्त अन्य आवास वाची शब्दों को निघण्टु में न गिने जाने का कोई तर्क संगत कारण अनुमान योग्य नहीं है। निरुक्तकार की दृष्टि में दूसरे शब्द घर से मित्र आवासों को परिलक्षित करते हैं। अनन्तर संस्कृत साहित्य और संस्कृत भाषा में गृह के अर्थ में दूसरे कई शब्द प्रचलन में आए[53] और ऋग्वेद के पस्त्यम्, वेश्मन्, वसतिः, सदनम्, शरणम्, सद्म आदि कुछ ही इस अर्थ में अधिक व्यवहृत होते रहे हैं।

आवास के विशिष्ट विशेषण संहिता में आवास या गृह के लिए पाँच विशिष्ट विशेषण पदों का उल्लेख हुआ है, जिनकी विवेचना आवासीय परिकल्पना के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। लगभग 25 बार त्रिधातु और लगभग 10 बार त्रिवरूथम् विशेषण शर्मन शरणम् छदिस् आदि गृहनामों के साथ प्रयोग में आए हैं। त्रिधातु शर्म यद्यपि तीन धातुओं का शयन विषय सुख हो सकता है,[54] तथापि जब यह शरणम् और शर्म दोनों के साथ प्रयुक्त हुआ है,[55] तब निश्चित रूप से गृह की विशेषता ही बता रहा है। धातु विभाग या प्रकार को कहते हैं, इसलिए भाष्यकारों ने इससे त्रिभूमिकम् (सायण) त्रिबन्धानम् (वेङ्कटमाधव) तीन मञ्जिल वाला (विलसन) तीन धारक शक्तियों से युक्त (सातवलेकर आदि आचार्यों के अर्थ) हैं। स्वामी दयानन्द ने एक दूसरे मन्त्र (ऋ-6-46-9) में त्रिधातु छदिस् तीन धातुओं - सुवर्ण रजत ताम्र से बने घर को बताया है और

48. निघण्टु. 3.4, निरूक्त 3.13.9,
49. निघण्टु. 3.5
50. स्मान नीलं बृषणो वसानाः। ऋ. 10.5.2,
51. महीव कृत्तिः शरणा त इन्द। ऋ 8.90.6, सायण. कृतिर्यशो अन्ने वा।
52. कृत्तिः कृन्ततेर्यशो वा अन्नं वा। नि. 5.22,
53. हेमचन्द्र, अभिधनचिन्तामणि 4.55.58, हलायुधकोश, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रम..... गृहम् शब्द।
54. ऋ. 1.34.6, सायणभाष्य।
55. स त्रिधातु शरणं शर्मयंसत्। ऋ. 7.101.2,

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सायण ने एक मन्त्र (8-40-12) में इसे तीन पर्वों वाला गृह कहा है। तीन भागों, प्रकारों या भूमियों वाला शर्म या गृह निश्चय ही आवास की विशिष्टता और विशालता को अभिव्यक्त करता है। वरूथम् वरणीय अर्थ में गृहनाम है। अतः 'त्रिःवरूथम्' विशेषण से 'तीन गृहों वाला शर्म'[56] या शील आतप और वर्षा का वारक गृह[57] चाहा गया है। त्रिधातु और त्रिवरूथम् गृह इन्द्र और मरूतों से प्रार्थित है,[58] ऋग्वैदिक आवासीय परिकल्पना का प्रमुख अङ्ग है। इन विशेषणों से गृह-रचना को भौगोलिक उपयोगिता भी प्रकाश में आती है।

ऋक्संहिता में केवल एक बार प्राप्त सहस्रद्वारम् और केवल दो बार प्राप्त सहस्रस्थूणम् विशेषण पदों का आवास की प्रमुख विशेषताओं के प्रतिपादन में महत्व है। वरुण से कहा गया है कि मैं तुम्हारे बडे परिमाण वाले हजार द्वार वाले घर में जाना चाहता हूँ[59] और मित्रावरुण को हजार खम्भों वाले घर में बैठने वाला बताया गया है।[60] द्वार और स्थूल आवासीय अवयव है। यद्यपि ये विशाल दृढ़ और उत्तम सौधारूप गृह देवताओं के सन्दर्भ में ही चर्चा में आए हैं, तथापि निस्सन्देह ऋग्वैदिक आर्य आवासीय अवधारणाओं के अववोधन में पर्याप्त सक्षम हैं। अनेक दरवाजों वाले हजारों खम्भों पर उत्तम और दृढ़ भवन निश्चय ही पक्के मकान हैं- जिनकी ऋग्वेद में परिकल्पना स्पष्ट हैं। निषेधरूप में केवल एक बार प्रयुक्त मृन्मयम् विशेषण मिट्टी के बने उस कच्चे घर की बात करता है, जिसमें उपासक किसी भी दशा में निवास नहीं करना चाहता है।[61]

इस प्रकार ऋग्वैदिक वास्तु-संरचना में छोटे और बड़े, कच्चे और पक्के आवासों की चर्चा के सन्दर्भ है। आवासीय अवयवों के नाम आवास के पर्यायवाची नाम और आवास के प्रमुख विशेषण पदों की अर्थगत मीमांसा से आवासों का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप स्पष्ट होता है। ऋग्वैदिक आवासीय व्यवस्था में सुरक्षा दृढ़ता और विशालता पर बल रहा है। उसकी आन्तरिक परिकल्पना में उसके निवासियों के अपने आवास के प्रति आकर्षण और उससे प्राप्त सुख दुःख साहित्य, विभ्रान्ति सुख और शान्ति की चर्चा हुई है। इस प्रकार प्रासाद, निवास, आयतन, श्मशान, शाला आदि शब्द ऋग्वेद की संहिता में अप्राप्त है। हर्म्य, सहस्रस्थुण और सहस्रद्वारा गृह के उल्लेख तत्कालीन विकसित वास्तुकला को दर्शाते हैं। ऋग्वैदिक आर्यों की विकसित आवासीय व्यवस्था सिन्धुघाटी सभ्यता की आवासीय व्यवस्था से तुलना और साम्य पर पुनर्चिन्तन को बाध्य करती है।

---

56. त्रिवरूथम् शर्म। ऋ. 4.53.6, सायण,वं दयानन्द, त्रीणि वरूथानि गृहाणि स्थानानि यस्य तादृशम्।
57. ऋ. 6.46.9, में सायण. त्रिधातु. त्रिप्रकारं, त्रिभूमिकं, त्रिवरूथम् . त्रयाणं शीतातपवर्षाणं वारकं गृहम्। स्वामी दयानन्द शीतोष्णवर्षासूत्तमम् छर्दिः।
58. त्रिधातु शरणं त्रिवरूथम् स्वस्तिमत्। ऋ. 6.46.9, त्रिवरूथां मरूतो यन्त नश्छर्दिः। ऋ. 8.18.21,
59. ऋ. 7.88.5,
60. ऋ. 2.41.7, 5.62.6,
61. ऋ. 7.89.1

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहारम्भप्राक् विचारणीय कृत्य

श्री शिवप्रसाद रैणा

वास्तुशास्त्र जिसे स्थापत्यवेद के नाम से जाना जाता है, वैदिककाल से प्रादुर्भूत यह शास्त्र समस्त देव दानव व मानव जाति द्वारा प्रयुक्त होता हुआ हमें सुख व यश की सिद्धि की विधि प्रयोग का लाभ प्रदान कर रहा है। वास्तुविद्या के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहनिर्माण कार्यो को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है – निर्माण से पूर्व सम्पादित किये जाने वाले कार्य, वास्तु निर्माण के दौरान किये जाने वाले कार्य और निर्माणोपरान्त होने वाले कार्य। तीनों कार्य शास्त्रानुसार सम्पादित होने पर ही निर्माण फल शुभ होगा। प्रकोप रक्षण, सुखपूर्वक निवास, शुभ निवास द्वारा सुयशादि फल प्राप्ति कथन का विचार ही इसका परमोद्देश्य है अतः लक्ष्य सिद्धि के लिए प्रथम विचार आरम्भ से पूर्व कार्य विषयों की अवहेलना ना करे। वास्तुशास्त्रानुसार वास्तु निर्माण सम्बंधी नियमों का पालन करने पर ही निर्माण विघ्न रहित व शास्त्रानुसार सिद्ध हो जाते है।

भारतीय संस्कृति बड़ी विलक्षण है क्योंकि इसमें दर्शाये गए समस्त कर्म, धर्म से सम्बंधित है और धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के उत्थान व कल्याण के साथ है। आभ्यंतर और बाह्य, आध्यात्मिक या सांसारिक, लोक या परलोक के कल्याण सम्बंधित समस्त क्रियाएँ शास्त्रों में वर्णित है, शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कृत्य सम्पादित कर्म ही सिद्धि एवं यश को प्रदान करता है। वास्तुशास्त्र में गृह निर्माण का वर्णन है जिसमें गृह प्रयोजन निर्दिष्ट है। यथा–

स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥[1]

स्त्रीपुत्रादि के भोग, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला, प्राणियों का सुख स्थान, सर्दी–वायु–गर्मी आदि कष्टों से रक्षा करने वाला गृह ही है। विधिवत् गृह निर्माण कर्ता को बावड़ी, देवालय आदि के निर्माण का पुण्य भी प्राप्त होता है अत एव विश्वकर्मा आदि देव शिल्पियों ने सर्वप्रथम गृह निर्माण का निर्देश किया है।

---

1. बृहद्वास्तुमाला श्लो. 4

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृह निर्माण में तृण, मिट्टी, ईट और पत्थर के प्रयोग का उत्तरोत्तर मुख्य स्थान रहता है। पेड़, पौधे तथा लकड़ियों के प्रयोग द्वारा गृहनिर्माण से करोड़ों गुणा, मिट्टी द्वारा गृह निर्माण करने से दस करोड़ गुणा, ईट द्वारा गृहनिर्माण से सौ करोड़ गुणा तथा पत्थरों के माध्यम से गृह निर्माण करने पर अनन्त गुणा फल की प्राप्ति होती है। यथा-

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम्।
ऐष्टिके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं गृहे।।[2]

वर्तमान समय में अधिकांश घर ईट से निर्मित हो रहे हैं। वास्तुशास्त्रानुसार गृह निर्माण हेतु पक्की ईटो का प्रयोग श्रेयस्कर रहता है। निर्माण कार्य से पूर्व करणीय कार्य वास्तु निर्देशन के अनुसार किये जाए तो निर्विघ्न एवं कल्याणप्रद निर्माण होता है। शास्त्रोक्त विधि से भूनिरीक्षण करें। यदि हो सके तो अपने वर्णानुसार शुभ फल देने वाली भूमि का चयन करें। वास्तुशास्त्र में भूमि संशोधन विषय पर अनेक पूर्वाचार्यो के मत भिन्न भिन्न ग्रंथों में वर्णित है परन्तु वराहमिहिर बृहद्संहिता में उत्तम भूमि लक्षण दर्शाते है। यथा -

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा
स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम्।
अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां
धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।।[3]

वास योग्य ऐसी शुद्ध भूमि का स्वामित्व सिद्ध हो जाने पर दैवज्ञ और वास्तुकार द्वारा शुद्ध मुहूर्त निर्धारित करने पर भूमि पवित्र हो इस भाव से ब्राह्मण का प्रवेश कराये अथवा ब्राह्मण एक रात वहां रहें तो भूमि शुद्ध हो जाती है। यथा -

दृष्टां प्ररूढबीजां गोऽध्युषितां ब्राह्मणैः प्रशस्तां च।
गत्वा महीं गृहपतिः काले सांवत्सरोद्दिष्टे।।
भक्ष्यैर्नानाकारैर्दध्यक्षतसुरभि - कुसुमधूपैश्च
दैवतं पूजां कृत्वा स्थपतीनभ्यर्च्य विप्रांश्च।।
विप्रः स्पृष्ट्वा शीर्ष वक्षश्च क्षत्रियो विशश्चोरू।
शूद्रः पादौ स्पृष्ट्वा कुर्याद्रेखां गृहारम्भे।।[4]

इसी प्रकार आचार्य मय भी सर्वोत्कृष्ट भूचयन के विषय में कहते हैं कि -

---

2. बृहद्वास्तुमाला श्लो.5
3. बृहत् संहिता, वास्तुविद्याध्याय श्लो. 86
4. बृहद् संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लो. 96-98

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्वेतासृक्पीतकृष्णा हयगजनिनदा षड्रसा चैकवर्णा
गोधान्याम्भोजगन्धोपलतुषरहितावाक्प्रतीच्युन्नता या।
पूर्वोदग्वारिसारा वरसुरभिसमा शूलहीनास्थिवर्ज्या
सा भूमिः सर्वयोग्या कणदरहिता सम्मताद्यैरमुनीन्द्रैः॥[5]

एवमेव अस्थि रहित, पूर्व में अधिक जल धारण करने वाली, समतल, कण (धूल, बालू आदि) रहित भूमि सर्वोतम और सबके योग्य है। ऐसी भूमि में खनन आदि कार्य सम्पादित होने पर ही न्यास कर्म करे। न्यास कर्म से पूर्व भूमि पूजन करे। यथा -

परीक्षितायां भुवि विघ्नराजं समर्चयेच्चण्डिकया समेतम्।
क्षेत्राधिपं चाष्टदिगीशदेवान् पुष्पैश्च धूपैर्बलिभिः सुखाय॥[6]

भूमि का मापन शास्त्र सम्मत करना चाहिए। प्राचीन समय में अंगुली व हस्त द्वारा मापन क्रिया सम्पन्न होती थी परन्तु आधुनिक काल में आधुनिक उपकरणों द्वारा मापन क्रिया सर्वजन ज्ञान के लिये श्रेष्ठ होता है। मापन ईकाई कोई भी हो सकती है।

उक्त प्रकार से भूमि की परीक्षा करके श्रीगणेश और भगवती दुर्गा की पूजा करके क्षेत्रपाल तथा आठो दिग्पालों की फल, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से पूजा करनी चाहिए तथा पूर्व-दक्षिण कोण से क्रमानुसार शिला स्थापित करनी चाहिए। यथा -

दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्यः॥[7]

नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा समस्त शिलाओं की विधिवत् स्थापना नाना प्रकार के अशुभ फलों का विनाश करके शुभ फल प्रदान करते हुए निर्माण कार्य में सहायक व सिद्धिप्रद होती है। स्थापना कार्य के उपरान्त सभी दिशाओं में कील से शंकु न्यास करे। कहा जाता है कि जब तक कील भूमि में रहता है तब तक भवन खुशहाल व आबाद रहता है। शिलान्यास करते समय किसी भी पशु-पक्षी, जल, वायु, अग्नि आदि का उन्मादित शब्दवेग, भयकारी ध्वनि आदि शकुन विचार की अवहेलना न करके शकुन शास्त्रानुसार फल की जानकारी करें तथा अरिष्ट हो तो अरिष्ट शान्ति करे।

वास्तुशास्त्रानुसार भवन निर्माण की सामग्री का संकलन गृहारंभ से पूर्व कर लेना शुभफलदायी रहता है किन्तु निर्देशानुसार जो त्याज्य काष्ठ है उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए जैसे पाकर, गूलर, आम, सेहूडा, नीम, बेहडा, जले हुए काष्ठ, कांटेदार वृक्ष, बरगद, पीपल, कैथ, अगस्त, सहजन, ताड़ और ईमली इन वृक्षों के काष्ठ गृहनिर्माण में निंदनीय है तथा दूसरे के घर में लगे काष्ठ को भी नवीन घर में नहीं लगाना चाहिए। यथा -

5. मयमतम्, तृतीयोऽध्यायः श्लो. 20
6. बृहद्वास्तुमाला भित्तिस्थापनविचारः श्लो. 116
7. बृहत् संहिता वास्तुविद्याध्यायः श्लो. 110

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अन्यवेश्मस्थितं दारु नैवान्यस्मिन् प्रयोजयेत्।
न तत्र निवसेत्कर्ता वसन्नपि न जीवति॥[8]

गृहनिर्माण से पूर्व शिल्पी चयन कार्य भी महत्वपूर्ण कार्य है। वास्तुविद् द्वारा चयन किये हुए चारों प्रकार के शिल्पी जैसे स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि एवं तक्षक चारों की योग्यता का परीक्षण कर निर्माण कार्य हेतु नियुक्त करना चाहिए तथा उनका पूजन कर, उचित उपहार से सम्मानित कर गृहनिर्माण हेतु कार्यभार सौंपे। तदुपरान्त विप्रार्चन विधिपूर्वक व सम्मानपूर्वक करना चाहिये।

गृहारंभ से पूर्व तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण जो आरम्भ हेतु ग्राह्य है उन्हें ग्रहण करें और ग्राह्य नहीं हैं उनका परित्याग करना ही शुभ रहेगा। नक्षत्र और योग प्रभाव भी विचारणीय विषय है। अनेक दैवज्ञों व आचार्यों ने भिन्न मत प्रतिपादित किये हैं - पुष्य, उत्तराषाढ़, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, मृगशिरा, श्रवण, आश्लेषा, पूर्वाषाढ़ ये नक्षत्र गुरु युक्त होकर रहे तो गृह राज्यादि सुखों को प्रदान करने वाला होता है। इसी प्रकार योग विचार भी करना चाहिए- वज्र, व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगंड, विषकुम्भ, गंड, परिघ इन आठ योगों का परित्याग गृहारम्भ में करना आवश्यक माना है। यथा -

वज्रव्याघातशूलेषु व्यतीपातातिगण्डयोः।
विष्कुम्भगण्डपरिघे चाष्टयोगे न कारयेत्॥[9]

इसी प्रकार रवि एवं मंगलवार का परित्याग करके अन्य समस्त वारों का ग्रहण करना चाहिए। यथा -

सूर्यारवारराश्यंशाः सदा वह्नि भयप्रदाः।
शेषग्रहाणां वारांशाः कर्तुरिष्टार्थ सिद्धिदाः॥[10]

शुभ लग्न हो तो कार्य श्रेष्ठता की और अग्रसर रहता है। पूर्वारम्भ कार्य में विशेष विचार वास्तु चक्र और भूमि की शयनादि अवस्थाओं का करना चाहिये। समयाभाव और शीघ्रता के कारण मानव जीवन में समस्त कार्यों का सम्पादन कठिन होता जा रहा है।

भूखण्ड शास्त्र सम्मत होने से समस्त प्रकार के सुख व धर्मशास्त्रानुसार कहे गए शुभ फल प्राप्त होते हैं। यथा -

क्षेमवृद्धिकरं नृणां बहुपुत्रफलप्रदम्।

---

8. बृहद्वास्तुमाला निषिद्ध-ग्राह्यकाष्ठानि श्लो. 128
9. बृहद्वास्तुमाला, गृहारम्भयोगाः श्लो. 117
10. बृहद्वास्तुमाला, आयविचारः श्लो. 11

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देव प्रतिमा लक्षण

श्री विजय कुमार

विश्व में आदिकाल से ही मानव सभ्यता की आस्था का सम्बन्ध देवालयों से बना हुआ है। वास्तव में मन्दिर (देवालय) भारतीय जीवन एवं दर्शन की आधारशिला हैं।[1] देवालयों में आत्मशक्ति के साथ पराशक्ति का अद्‌भुत सामञ्जस्य देखा जा सकता है। आस्थावान् व्यक्ति ईश्वर को देवालयों में देखने की आकांक्षा भाव से ही इनके सामने श्रद्धाभाव से नतमस्तक होता है। वास्तव में देखा जाय तो देवालयों अर्थात् देव वास्तु का उद्‌भव वैदिककाल से ही हो चुका था, जब चैत्यों, चत्वरों तथा वृक्षों तक में देवस्थान की परिकल्पना की गई। समय के साथ-साथ देववाद की धारणा के विकास होने के साथ-साथ उनके निवास एवं प्रतिष्ठास्थलों के सम्बन्ध में भी धारणा का विकास होने लगा।

आत्मवाद के साथ ही परमात्मा की सर्वोच्चता की स्वीकारोक्ति ने देवालयों को भी सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् सिद्ध करने के लिए समाज के उर्वर कल्पनाकारों, स्थपतियों को नियुक्त किया जिन्होंने देवरूप, कार्य और प्रकृति के साथ ही स्थानीय लोक मानसिकता, धार्मिकता, अनुयायियों विचारों और देशाश्रित प्रकृति के अनुरूप देवालयों को परिकल्पित किया। पुरुष के आकार की भाति ही परमपुरुष को विराट देवपुरुष के रूप में देखा और देहायतन की तर्ज पर देवालय का विधान किया।[2]

देवालयों के निर्माण की कई विशेषताओं में तथ्य ये भी मिलते हैं कि कालक्रम के अनुसार तृण, मृत्तिका, पाषाण व धातु-रत्नों का देवालय निर्माण में प्रयोग किया जाता है । साथ ही देवालय निर्माण के लाभादि के विषय में भी कहा गया है -

यश्च देवालयं कुर्यात् स्वर्लोके लभते ध्रुवम्।
क्रीडा सह सुरस्त्रीभिर्मानवो देवता लभेत्।।[3]

वास्तु ग्रन्थों में देवालयों के कई पर्याय मिलते हैं। जैसे- प्रासाद, देवायतन, देवालय,

---

1. प्रासादमण्डन उपोद्‌घात् पृ. 01
2. वही भूमिका पृ.01
3. प्रासादमण्डन उपोद्‌घात

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

देवनिकेतन, देवदरबार, देवकुल, देवागार, देवरा, देवकोष्ठक, देवस्थान, देवगृह, ईश्वरालय इत्यादि।

1. देवप्रतिमा विचार

मानव शरीर में जिस प्रकार हृदय में आत्मा का निवास माना जाता है उसी प्रकार देवालय के गर्भगृह में परमात्मा की प्रंतिमा के रूप में अवस्थिति कही गई है।[4] जैसा कहा भी गया है-

ब्रह्मस्थानं यदैतच्च तन्नाभिः परिकीर्तिता ।
हृदयं पीठिका ज्ञेया प्रतिमा पुरुषः स्मृतः।।[5]

सामान्यतः देखा जाए तो ईश्वर के साकार रूप के ध्यान करने व यथेष्ट देव के प्रति एकाग्रचित्त होकर आस्था व श्रद्धा प्रकट करने का माध्यम मूर्ति (प्रतिमा) को माना जा सकता है। शास्त्रोल्लिखित प्रतिमा स्वरूप के अनुसार ही शिल्पियों द्वारा मूर्तियों (प्रतिमाओं) का निर्माण किया जाता है। पुराणों में भी प्रत्येक देवता का स्वरूप बताया गया है। पुराणोक्त व शास्त्रोक्त ही देवप्रतिमादि का निर्माण किया जाता है जो कि आवश्यक भी है।

वास्तव में भारतीय संस्कृति में बिना देव कल्पना के कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं होता है। वैदिक धरातल पर आधारित सभी शास्त्रों में व शास्त्रविहित सभी कार्यों में देव भावना समाहित रहती है। जैसे वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष, संगीत में नादब्रह्म, आलेख में जगन्नाथ के चित्रपट, अध्ययन में माँ सरस्वती, धन-सम्पत्ति में माँ लक्ष्मी, शौर्य में माँ शक्ति तथा नृत्य में नटराज शिव आदि।[6]

मानव सभ्यता के विकास के साथ ही शिल्पादि कार्यों का विकास भी होता रहा है। इसका स्पष्ट उदाहरण हमें प्राचीनकाल के शिल्पि कार्यों से प्राप्त होता है। प्राचीनकाल में पत्थर या धातु की प्रतिमाएँ नहीं बनतीं थीं, तब प्रायः मिट्टी या लकड़ी की बनीं होतीं थीं।

इसी सन्दर्भ में चैत्य शब्द का प्रयोग भी हुआ है। जिसकी व्युत्पत्ति चिता या चिती अथवा बोधिवृक्ष से मानी गई है। यह भी तर्कसंगत है कि हिन्दु मन्दिरों का उद्भव चैत्यों से हुआ है क्योंकि भारतीय साहित्य में कई जगह स्तूप के लिए चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। अमरावती स्तूप लेखों में स्पष्टतः स्तूप को चैत्य कहा गया है, किन्तु चैत्य का अर्थ भिन्न-2 रूप में भी लिया गया है। ईट-पत्थर से जो निर्माण होता रहा उसे भी चैत्य कहा जाता है।[7]

---

4. प्रासादमण्डन उपोद्घात, पृ.03
5. क्षीरार्णव-01/.03
6. वास्तुशास्त्रविमर्श सप्तमपुष्प पृ.186
7. वास्तुशास्त्रविमर्शचतुर्थ पुष्प पृ.104

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

वैशाली के छः चैत्यों के नाम उदेन, गोतमक, सतम्बक, बहुपुत, सरदन्द तथा चपल बताए गए हैं।[7]

सामान्यतः तीन प्रकार की प्रतिमाओं का वेदों में निर्देश मिलता है। जिसमें सात्विक, राजसी व तामसी प्रतिमाएँ हैं-

सात्विकी राजसी देव प्रतिमा तामसी त्रिधा।
विष्णवादीनां च या यत्र पूज्या तु तादृशी।।[8]

1.1 सात्विकी प्रतिमा -

जो प्रतिमा स्वाभाविक अवस्था में स्थित, योगमुद्रा, वरदान एवं अभयदान देने वाली मुद्रा से युक्त जिसके हाथ हों तथा इन्द्रादि देवता जिनकी स्तुति करते हुये नमन कर रहे हों ऐसी मूर्तियाँ सात्विकी होतीं हैं-

योग मुद्रान्विता स्वस्था वराभयकरान्विता।
देवेन्द्रादिस्तुतनुता सात्विकी सा प्रकीर्तिता।।[9]

1.2 राजसिकी प्रतिमा-

जो वाहन पर सवार, नाना प्रकार के आभूषणों से सज्जित, हाथों में अस्त्र शस्त्र-धारण की हुई तथा अभयदान की मुद्रा में बनी हुई हो ऐसी प्रतिमाएँ राजसिकी प्रतिमाएँ कहलातीं हैं -

तिष्ठन्ति वाहनस्तथा वा नानाभरणभूषिता।
या शास्त्रास्त्राभयवर-करा या राजसी स्मृता।।[10]

1.3 तामसी प्रतिमा-

ऐसी प्रतिमाएँ जिनका स्वरूप शस्त्र तथा अस्त्रों से दैत्यों को मारने वाला हो, उग्र रूप धारण किए हों व सदा युद्ध के लिए उत्सुक मुद्रा में हों, ऐसी प्रतिमाएँ तामसी प्रतिमाएँ होतीं हैं-

शस्त्रास्त्रैर्दैत्यहन्त्री या ह्युग्ररूपधरा सदा।
युद्धाभिनन्दिनी सा तु तामसी प्रतिमोच्यते।।[11]

---

7. वास्तुशास्त्रविमर्श चतुर्थ पुष्प पृ.104
8. शुक्रनीति अ.04 श्लोक 80
9. वही श्लो. 81
10. वही श्लो. 82
11. वही श्लो.83

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

2. प्रतिमा लक्षण विचार

प्रतिमा लक्षण विचार प्रतिमाओं के प्रमाण, ताल, वर्ण, आसन, वाहनादि के अनुरूप किया जाता है। प्रतिमा निर्माण में प्राय: दोषादि से रहित पाषाणों का प्रयोग किया जाता है। भागवतमहापुराण में अष्टविध प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है-

शैलीदारूमयी लौहीलेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता।।[12]

शास्त्रों में प्रतिमा माप के विषय में भी वर्णन मिलता है। जैसा कि आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि समङ्गुल प्रतिमा की स्थापना नहीं करनी चाहिए। विषमाङ्गुल प्रतिमा की स्थापना शुभ कही गई है।

एक अङ्गुल प्रतिमा श्रेष्ठ, दो अङ्गुल धन नाश करने वाली, तीन अङ्गुल सिद्धि देने वाली, चार अङ्गुल पीडा देने वाली, पाँच अङ्गुल वृद्धि करने वाली, षडाङ्गुल उद्वेग करने वाली, सप्ताङ्गुल गौरव वृद्धि करने वाली, अष्टाङ्गुल हानिकर, नवाङ्गुल पुत्रवृद्धि कारक, दशाङ्गुल धन नाशक, ग्यारह अङ्गुल सर्वकार्यसिद्धिदायक होती है।[13]

सोना-चाँदी-ताँबादि धातुओं से निर्मित प्रतिमाएँ श्रेष्ठ होती हैं। काँसा-सीसा की प्रतिमाओं की स्थापना कभी नहीं करनी चाहिए। मिश्र धातुओं में पीत्तल धातु की स्थापना का कोई दोष नहीं है। जैसाकि कहा भी गया है-

स्वर्णरूप्य ताम्रमयं वाच्यं धातुमयं परम्।
कांस्य सीसबङ्गमयं कदाचिन्नैव कारयेत्।।

तत्र धातुमये रीतिमयमाद्रियते क्वचित्।
निषिद्धो मिश्रधातुः स्याद् रीतिः कैश्चिच्च गृह्यते।।[14]

पद्मासन में स्थित प्रतिमा मान 56 अङ्गुल माना जाता है। ललाट-मुख-नासिका-कण्ठ-हृदय-नाभि-गुह्य-जंघा-जानु-पिण्डली-चरणादि ये प्रतिमा के एकादश अङ्ग माने गए हैं। आसन में स्थित प्रतिमा के आठ अङ्ग होते हैं जैसे- कपाल-नासिका-मुख-कण्ठ-हृदय-नाभि-गुह्य-जानु आदि। मत्स्यपुराण में नवताल प्रतिमा निर्माण के विषय में भी कहा गया है-

---

12. भागवतम् 11/27/12
13. आचारदिनकर, वास्तुसर्वस्वम् पृ. 229
14. वास्तु सर्वस्वम् पृ. 229, 230

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नवताल प्रमाणस्तु देव-दानव-किन्नराः।[15]

इसी विषय में शुक्रनीति में भी कहा गया है-

वामनी सप्तताला स्यादष्टताला तु मानुषी।
नवताला स्मृता दैवी राक्षसी दश तालिका।।[16]

विविध वास्तुशास्त्र ग्रन्थों में नवताल प्रतिमा निर्माण के विषय में कहा गया है किन्तु रूपमण्डन में राम-रुद्र-बलि की प्रतिमाओं के विषय में दशताल प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। साथ ही हनुमत् प्रतिमा के लिए एकादशताल विधि का वर्णन मिलता है-

अष्टांशा पार्वती देवी सर्वे देवा नवांशकाः।
दश तालो भवेद्रामो बलिसूर्ध्वो जिनस्तथा।।[17]
ताल एकादश स्कन्दे हनुमान् भूत चण्डिका।[18]

हनुमत्, स्कन्द, भूत व चण्डी की प्रतिमा का निर्माण एकादश ताल में करना चाहिए। जैसा कि निम्न चक्र में दर्शाया गया है-

ताल	प्रतिमा
1	ग्रासवक्र, जलचर
2	पक्षी
3	कुञ्जर
4	किन्नर, अश्व
5	सुर, शूकर, वामन
6	गणनायक
7	मानव
8	पार्वती, वृष
9	सभी देवों की प्रतिमाएँ
10	राम, रुद्र, बली, जिन

15. मत्स्यपुराण वा.स. पृ. 230
16. शुक्रनीति 04/41
17. रूपमण्डन वा.स.पृ.231
18. वास्तुसर्वस्वम् पृष्ठ 231

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

11	स्कन्द, हनुमान, चण्डिका
12	वेताल
13	राक्षस
14	दैत्य
15	भृगु
16	क्रूर देवताओं की प्रतिमा

वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में प्राय: मान प्रमाणानुसार ही प्रतिमा निर्माण की बात कही गई है। जैसा कि शुक्रनीति में कहा गया है-

देवालये मानहीनां मूर्तिभग्नां न धारयेत्।[19]

मयमतम् ग्रन्थ में भी इस विषय में कहा गया है कि प्रतिमा निर्माण से पूर्व देवी-देवता के वर्णायुध-वाहन-भूषणादि का विचार कर लेना चाहिए क्योंकि प्रत्येक देवी-देवता के वाहन-भूषणादि भिन्न होते हैं।

आकारवर्णवरभूषणवाहनानां।
स्थानध्वजायुधनिजासनमार्गमेवम्।।
ब्रह्माहरीश्वर कुमार मुखामराणां।
प्रोक्तं हि विश्वमखिलागमलोकनानाम्।।[20]

प्रतिमा लक्षण को वास्तुशास्त्र के अप्रतिम ग्रन्थ मयमतम् में इस प्रकार दर्शाया गया है जिसका वर्णन निम्नवत् किया गया है-

2.1 ब्रह्मा प्रतिमा लक्षण-

महा कमलनाल पर आसीन, चतुर्मुख व चतुर्हस्त सृष्टि कर्ता ब्रह्मा की मूर्ति को बनाना चाहिए। तप्त स्वर्ण वर्ण, सिर पर केशों का बन्धित मुकुट व विद्युत रश्मियों के सदृश प्रभविष्णुयुक्त ब्रह्मा की मूर्ति का निर्माण किया जाना चाहिए।

साथ ही कानों में कुण्डल, हाथों पर भुजबन्ध, गले में हार, मृगचर्म का उत्तरीय (ग्रीवा से कटि पर्यन्त) धारण किए हुए, पिङ्गल वर्ण की मौञ्जिक शुचि स्वरूप वस्त्रों से अलङ्कृत दोनों हाथों में सृष्टि क्रमानुसार अक्षमाला व कुशा संग्रह (कूर्च), बाएँ दोनों हाथों में कमण्डल एवं कुशा,

19. शुक्रनीति वा. सं.पृ.232
20. मयमतम् 36/315

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

दक्षिण (दाएं) दोनों हाथों में स्रुक् अथवा स्रुवा होनी चाहिए। यह भी ध्यातव्य है कि वे बाएँ हाथों में आज्य स्थली या घृतपात्र अथवा कुशा भी धारण करते हैं।

आज्यस्थलीं कुशा वाऽपि वामहस्ते प्रदापयेत्।[21]

ब्रह्मा अपने दोनों नीचे के हाथों में वरद और अभय मुद्रा व वाम भाग में सावित्री व दक्षिण में भारती(सरस्वती) विराजित रहती हैं। ऋषि परिवार सहित हंसारूढ व सदैव पद्मासन पर विराजमान हों, ऐसा ब्रह्मा की मूर्ति का स्वरूप है।

2.2 विष्णु प्रतिमा लक्षण-

विष्णु प्रतिमा किरीटमुख, केयूर, या भुजबन्ध, कटकादि अलङ्करणों से युक्त अलङ्कृत, पीत वस्त्रों से युक्त, चतुर्भुजधारी, जिसमें दोनों हाथों में वरद और अभय मुद्रा व दो हाथों में शङ्ख व चक्र धारण किए हों, बायीं ओर पृथ्वी व दायीं ओर रमा हो व प्रतिमा को सिंहारूढ़ कमलासन पर उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। ग्रामादि में प्रासाद के मध्य में और आठों ही दिशाओं में विष्णु प्रतिमा की स्थापना का विधान कहा गया है-

ग्रामादिषु च मध्ये च दिशाष्टास्वन्तरालके।
सागराणां तु पार्श्वे वाप्यरण्ये नदीतीरकं।।[22]

विष्णु के दश अवतार कहे गए हैं, जिनमें कालान्तर से बुद्ध व कल्कि को भी शामिल किया गया है। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण प्रमुख हैं। हिन्दू धर्म में दशावतारों को प्रमुख माना जाता है। विष्णु का स्वरूप मानवाकार, जिनके दो पङ्ख हैं व गरूड जिनका वाहन है। बायाँ पैर थोडा टेढा और दायाँ पैर जानु से पीछे मुडकर पृथ्वी पर स्थित (गरूड़ासन मुद्रा) है-

वामाग्रे कुञ्चितः पश्चादन्यपादस्तु जानुना।
पृथिवीं संस्थितो यत्र गारूडं स्यात्तदासनम्।।[23]

विष्णु प्रतिमा के साथ लक्ष्मी प्रतिमा भी स्थापित की जाती है जो कि चतुर्मुखी व कमलासनी हैं। लक्ष्मी विष्णु की शक्ति व ऐश्वर्य की द्योतक हैं। इस युग्म मूर्ति को लक्ष्मी नारायण कहा जाता है-

---

21. मयमतम् .36 श्लो.05
22. रौरवागम् 26(1-2)
23. रूपमण्डन अ.3 श्लो.51

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

लक्ष्मीनारायणो देवस्त्रिभिश्चक्रैर्व्यवस्थितः।
पूजनीयः प्रयत्नेन भुक्तिमुक्तिफलप्रदः।।[24]

2.3 शिव प्रतिमा लक्षण-

महेश्वर (शिव) की प्रतिमा आठ या दसभुजा वाली, सर्वालङ्कारों से युक्त दक्षिणी भुजाओं में क्रमानुसार शक्ति-शूल-असि-गदा व अग्नि तथा वाम हस्त में क्रम से नाग-खटवाङ्ग-खेटक-कपाल व नागपाश का निर्माण करना चाहिए। उरू मांसल, जटा पर रश्मि युक्त चन्द्र व तीन नेत्र वाली प्रतिमा होनी चाहिए।[25]

शिव प्रतिमा के साथ-साथ शिवलिङ्ग पूजन का भी बडा माहात्म्य है। इनमें द्वादश मुख्य ज्योतिर्लिङ्ग हैं-सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकालेश्वर, ओंकारेश्वर, केदारनाथ, भीमाशङ्कर, विश्वनाथ, त्र्यम्बकेश्वर, वैद्यनाथ , नागेश्वर, रामेश्वर तथा घुश्मेश्वर।

लिङ्ग दो प्रकार के होते हैं चल व अचल। चल लिङ्ग के द्रव्य भेद से कई भेद होते हैं। ये भेद मृण्मय, लोहज, रत्नज, दारुज, शैलज, व क्षणिकादि संज्ञाओं से जाने जाते हैं। अचल लिङ्गों की कोटि में स्वयम्भू, दैवत, गाणपत्य, असुर, पुराण, राक्षस, मानुष तथा बाण लिङ्ग आते हैं। शैव समाज में बाणलिङ्ग का वही महत्त्व है जो वैष्णव सम्प्रदाय में शालिग्राम का है। शिव के देवालयों में दुर्गा, कार्तिकेय तथा गणेश के अतिरिक्त वीरभद्र एवं भैरव की भी मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं।[26]

2.4 दुर्गा देवी प्रतिमा लक्षण-

दुर्गा प्रतिमा चतुर्भुजी व अष्टभुजी दोनों का विधान है। चतुर्भुजी प्रतिमा पद्मासन पर अवस्थित अधोस्त वरद एवं अभय मुद्रा युक्त व ऊर्ध्वहस्त में शङ्ख व चक्र होने चाहिए। अष्टभुजी प्रतिमा में बाण-मूसल-शूल-खड्ग-महिषचर्म-वराखेट-धनुष व अङ्कुशधारी दुर्गाप्रतिमा का निर्देश किया गया है।

चतुर्भुजयुता देवीं पङ्कजासन् संस्थिता।
वरदाभयहस्ता च शङ्खचक्रधरा स्मृता।।
खेटक-शक्तिहीनाष्टक बाहुका शुकधारिणी।
सा दुर्गा दुर्गदेशे तु ग्रामादिषु विशेषतः।।[27]

24. वास्तुशास्त्र विमर्श सप्तमपुष्प पृ. 159
25. मयमतम् अ.36 श्लो. 36-40
26. वास्तुशास्त्रविमर्श सप्तमपुष्प पृ. 160-61
27. मयमतम् अ. 36,263-264

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

ऐसे ही शिल्परत्न में दुर्गाप्रतिमा वर्णन इस प्रकार है-

शङ्खारिचापभिन्नकरां त्रिनेत्रां।
तिग्मेतरांशुकलया विलसित्किरीटाम्॥

सिंहस्थितां सासुरसिद्धनतां च दुर्गां।
दुर्वानिभां दुरितगर्वहरां नमामि॥[28]

2.5 वराह प्रतिमा विचार-

वरदाभयहस्तौ च भुजोद्धृतवसुन्धरा।
पदाक्रान्तोरगाधीशस्तप्तकार्तस्वरप्रभः॥
पीतयज्ञोपवीताश्च सर्वालङ्कार संयुतः।
प्रोक्तो वराहमूर्तिस्तु.....॥[29]

3. मूर्ति स्थापन में दिक् विचार-

गणेश, भैरव, चण्डी, नवग्रह, मातृदेवता तथा कुबेर इन सभी देवताओं का मुख दक्षिण दिशा में शुभ फलदायी है।

वानरेश्वर हनुमान का मुख सदैव नैऋत्य दिशा में व अन्य किसी देवता के मुख की विदिशा में नहीं होना चाहिए।[30]

राजवल्लभ वास्तुशास्त्र में कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, सूर्य और कार्तिक स्वामी आदि देवता पूर्व या पश्चिम दिशामुखी श्रेष्ठ होते हैं। इसमें भी शिव, तीर्थंकर, विष्णु व ब्रह्मा का मुख किसी भी दिशा में श्रेष्ठ है। चामुण्डा, ग्रह, षोडश मातृकाओं एवं कार्तिकेय का मुख दक्षिणामुखी श्रेष्ठ है।[31]

4. देव प्रदक्षिणा क्रम

प्रदक्षिणा के विषय में कहा गया है कि चण्डी की एक, सूर्य की सात, गणेश की तीन, विष्णु की चार व शिव की आधी प्रदक्षिणा करनी चाहिए-

---

28. शिल्परत्न 24/01
29. उद्धृत वास्तुतत्त्वविचार पृ. 220
30. प्रासादमण्डन अ.02 श्लो. 39,40
31. वही पृ. 57

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

एकं चण्डया रवेः सप्त तिस्त्रो दद्याद्विनायके।
चतस्त्रो विष्णुदेवस्य शिवस्यार्धा प्रदक्षिणा।।[32]

शिवलिङ्ग के अर्ध प्रदक्षिणा का कारण है कि प्रणालादि से निकलते जल का उल्लङ्घन करने से महापाप लगता है-

स्नानकृते महत्पुण्यं लिङ्गादिषु दिशं प्रति।
लङ्घिते च महत्पापं शिवस्नानोदके नृणाम्।।[33]

5. देव प्रतिमा स्थापन काल

उत्तरायणगे सूर्ये प्रतिष्ठा शोभना भवेत्।
दक्षिणायनगे सूर्ये प्रतिष्ठा नैव शोभना।।[34]

शैवसिद्धान्त में स्थापना के विषय में कहा गया है कि-

श्रेष्ठोत्तरे प्रतिष्ठा स्यादयने मुक्तिमिच्छताम्।
दक्षिणे तु मुमुक्षूणां मलमासे न सा द्वयोः।।[35]

5.1 देव प्रतिष्ठा में शुभमास विचार

पौषे राजविवृद्धिः स्यान्माघमासे तु सम्पदः।
फाल्गुने द्रव्यलाभश्च चैत्रे मासि शुभावहा।।

अतीव सौख्यं वैशाखे ज्येष्ठे मासे जयावहः।
आषाढे स्थापितो देवो यजमानविनाशनः।।

सौरमानेन विज्ञेयः श्रावणे राज्यराष्ट्रहा।
कार्तिके शत्रुवृद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे तथैव हि।
सर्वेषामपि वर्णानां वसन्तश्शोभनो भवेत्।।[36]

श्रावण मास में शिवलिङ्ग, आश्विन मास में भगवती, मार्गशीर्ष मास में विष्णु, पौष मास में शेषनाग की स्थापना करनी चाहिए,यह मतान्तर से है-

---

32. प्रासादमण्डन अ.02 श्लो. 33
33. वही पृष्ठ 54
34. बृहदवास्तुमाला पृ. 171
35. द्रष्टव्य 171 पृष्ठ
36. वृहदवास्तुमाला देव प्रतिष्ठाप्रकरणम् श्लो.4-7

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्रावणे स्थापयेल्लिङ्गमाश्विने जगदम्बिकाम्।
मार्गशीर्षे हरिं चैव सर्पान् पौषेऽपि केचन।।[37]

उग्र प्रकृति के देवी-देवताओं का प्रतिमा स्थापन के विषय में विशेष कहा गया है। भैरव-वाराह-नारसिंह-त्रिविक्रम-महिषासुर मर्दिनी दुर्गादि की स्थापना दक्षिणायन में कर सकते हैं-

मातृभैरववाराह - नारसिंह - त्रिविक्रमाः।
महिषासुरहन्त्री च स्थाप्या वै दक्षिणायने।।[38]

5.2 विप्रादि वर्णों के लिए देव प्रतिमा स्थापन के लिए शुभवारादि विचार

विप्राणां शुभदौ वारौ स्थापने गुरुशुक्रयोः।
वारौ दिवाकरेन्दोश्च क्षत्रियाणां शुभावहौ।।

वैश्यानां बुधवारः स्यात् सुरसंस्थापने शुभः।
मन्दवारस्तु शूद्राणां प्रतिष्ठायां शुभावहः।।

जीवशुक्रबुधानां च सर्वेषां शोभनवहा।
पापग्रहाणां वाराश्च बलिनः शुभदाः स्मृताः।।[39]

पूर्वाह्णकाल में प्रतिष्ठा उत्तम, मध्याह्न में मध्यम व सांयकाल में अधम होती है। अशुभ चन्द्रमा निषिद्ध कहा गया है। सत्ययुग में रात्रिकाल में भी देवप्रतिष्ठा होती थी किन्तु कलियुग में रात्रि में देवप्रतिमा स्थापन अशुभ कहा गया है-

पूर्वाह्णे चोत्तमं प्रोक्तं मध्याह्ने मध्यमं बुधैः।
सायाह्ने चाधमा प्रोक्ता स्वगृहे चाशुभे विधौ।।

कदाचिन्निश्यभिप्रेता प्रतिष्ठा च कृते युगे।
कलौ युगे तु दोषाय प्रतिष्ठा निशि मानवैः।।[40]

प्रतिमादि निर्माण वास्तुशास्त्र की दृष्टि से करना ही श्रेयस्कर होता है। प्रतिमा के साथ-2 भवन व प्रासाद निर्माण भी वास्तुशास्त्रोक्त होना चाहिए। भारतीय वैदिक पौराणिक शास्त्रों में भवन-प्रतिमादि निर्माण व प्रतिष्ठा के निमित्त वास्तुशास्त्र की उपयोगिता को देखा जा सकता है। वर्तमान समय में भी इसका ही एक विकसित रूप वास्तुकला के रूप में देखा जा सकता है।

---

37. वही पृ.172 श्लो.09
38. वही पृ.172 श्लो. 08
39. वही पृ.172
40. वही देवप्रतिष्ठाप्रकरण श्लो. 22-23

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृह निर्माण में मुहूर्त विचार

डॉ. नवीन राजपूत

वेद निहित वैज्ञानिक व लोक कल्याणकारी ज्ञान धाराओं में वास्तु विज्ञान का उत्तम स्थान है। वास्तुशास्त्र में भूमि एवं भवन में निवास तथा कार्य करने वाले लोगों को अधिकतम सुविधा प्राप्ति के सिद्धान्तों, नियमों, विधियों एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया जाता है। यह शास्त्र पञ्च-महाभूतों के तालमेल एवं प्राकृतिक शक्तियों के प्रबन्धन द्वारा मानव जीवन में उसकी सुविधा एवं सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है।

मनुष्य के ऊपर जीवन पर्यन्त उसके आवास का प्रभाव पड़ता है। गृह निर्माण का जीवन में अत्यन्त महत्व है अतः इसका निर्माण विचारपूर्वक एवं अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिए। वास्तुशास्त्र में विधान आया है कि सूत्र-स्थापन करने में, भूमि शोधन करने में, द्वार बनाने में, शिलान्यास करने में और गृहप्रवेश करने के समय, इन पांच कर्मों में वास्तु-पूजन अवश्य करना चाहिए।[1] इस संदर्भ में सर्वप्रथम गाँव, नगर और राजगृह के निर्माण में 64 (चौसठ) पद वाले वास्तु पुरुष का; गृह निर्माण में 81(इक्यासी) पद वाले वास्तुपुरुष का; देव मन्दिर के निर्माण में 100 (सौ) पद वाले वास्तुपुरुष का ; जीर्णोद्धार में 49 (उनचास) पदवाले तथा कूप, वापी, तड़ाग तथा वन के निर्माण में 196 (एक सौ छियानवे) पद वाले वास्तुपुरुष का पूजन करना चाहिए।[2] गृहारम्भ और गृहप्रवेश के समय कुलदेवता, गणेश, क्षेत्रपाल, वास्तुदेवता और दिक्पति की विधिवत पूजा करें। आर्चाय द्विज और शिल्पी को विधिवत सन्तुष्ट करें।[3] शिल्पी को वस्त्र और अलंकार दें। ऐसा करने से घर में सदा सुख रहता है। जो मनुष्य सावधान होकर शुभ मुहूर्तो में गृहारम्भ या गृहप्रवेश के समय वास्तु पूजा करता है वह आरोग्य, पुत्र, धन और धान्य प्राप्त करता है। जो बिना मुहूर्त के गृहारम्भ करता है या गृह प्रवेश करता है वह नाना प्रकार के रोग, क्लेश तथा अशान्ति को प्राप्त होता है।

किसी भी कार्य को शुभ मुहूर्त में करने से उसका परिणाम सफलता दायक और सुखद होता है तथा निषिद्ध काल में किए गए कार्य का परिणाम भी निष्फल तथा दुःखदायी होती है। यही

1. भवन भास्कर अध्याय 7,पृ.22
2. भवन भास्कर अध्याय 7,पृ.22
3. भवन भास्कर अध्याय 8,पृ.25

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

कारण है कि हमारी हिन्दू संस्कृति में प्रत्येक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, पारिवारिक, व्यावसायिक एवं राजनैतिक आदि सभी कार्य शुभ मुहूर्त में करने की परम्परा वैदिक काल से प्रचलित है। इस शुभ मुहूर्त का निर्धारण करने के लिए वैदिक ऋषियों ने मनुष्य की क्षमता को ध्यान में रखकर ऐसे शास्त्र का निर्माण किया जिसमें काल का स्वरूप, उसके अवयव एवं गुणधर्म का मानवीय गतिविधियों पर उसके प्रभाव का सांगोपांग विचार कर ही ऐसे सुमान्य नियमों, सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिसे मुहूर्त शास्त्र कहा जाता है। यह शास्त्र बताता है कि कौन-कौन सा कार्य कब करना चाहिए और क्यों करना चाहिए और क्यों निषिद्ध काल में कार्य नहीं करना चाहिए?[4]

वास्तुशास्त्र के प्रत्येक कार्य को शुभारम्भ करने के लिए मुहूर्तशास्त्र की प्रत्येक पग पर आवश्यकता पड़ती है क्योंकि वास्तुशास्त्र के प्रत्येक कार्य में समय अथवा काल का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः गृहनिर्माण प्रकिया में मुहूर्त शास्त्र की उपयोगिता का अक्षरशः वर्णन मिलता है।

गृह निर्माण में सामान्यता जो बातें विचारणीय होती है उन में सबसे महत्त्वपूर्ण गृहनिर्माण के लिए प्रथमतः ग्राम एवं नगरादि स्थान का चयन करना एवं गृहकर्ता के लिए उसकी अनुकूलता का विचार करना है। तत्पश्चात् क्षेत्र की परीक्षा (गन्ध, वर्ण, स्वाद, प्लव, वातावरण स्थिति) करने के बाद आय-व्यय विचार कर पूर्णरूप से संतुष्ट होने के पश्चात् भूमि को क्रय किया जाता है। भूमि क्रय करने से पूर्व भूमि क्रय मुहूर्त का विचार किया जाता है।[5] यथा-

भूमि क्रय मुहूर्त

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्लपक्ष की 5,6,10,11,15 तिथियाँ शुभ होती है।

वार : गुरु, शुक्रवार शुभ होते हैं।

नक्षत्र : मृगशिरा, पुर्नवसु, आश्लेषा, मघा, विशाखा, अनुराधा, तीनों पूर्वा, मघा एवं रेवती नक्षत्र शुभ नक्षत्र है। भूमि क्रय करने से पूर्व भू-क्रेता के चन्द्रबल का विचार कर ही भूमि क्रय करनी चाहिए।

इष्टिकादि-चयन मुहूर्त

भूमि क्रय मुहूर्त का विचार के पश्चात् गृहारम्भ करने हेतु पत्थर, ईटों, सीमेन्ट, चूना इत्यादि विभिन्न वस्तुओं एवं उपस्करों के संग्रह के लिए शोधनीयकाल का निर्धारण किया जाता है जो इस प्रकार है[6]:-

4. संस्कार एवं ज्योतिष अध्याय 1,पृ.28
5. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 214
6. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 215

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्लपक्ष की 2,3, 5,6,7,8,10,11,12,13,15 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : सूर्यवार, गुरुवार तथा शुक्रवार संग्रह हेतु शुभ होते हैं।

नक्षत्र : अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुनर्वसु, तीनों उत्तरा, हस्त, अनुराधा, ज्येष्ठा, चित्रा एवं रेवती नक्षत्रों में इष्टकादि का चयन करना चाहिए।

लग्न : 2,5,8,11 राशिलग्न उत्तम हैं।

पत्थर काष्ठ विदारण मुहूर्त

गृहनिर्माण करने हेतु पत्थरों तथा लकड़ी आदि का उपयोग होता है। अतः उपर्युक्त मुहूर्त में पत्थर के टुकडें करना, लकडी को चीरना तथा तत्सम्बन्धी कर्म शुभावह है।[7]

तिथि : 4,8,9,11,12,13,14 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : सूर्यवार, मंगलवार तथा शनिवार शुभ होते हैं।

नक्षत्र : अश्विनी, कृतिका, आश्लेषा, अनुराधा, स्वाति, विशाखा, मूल, तीनों पूर्वा, तीनों उत्तरा, हस्त, ज्येष्ठा, चित्रा एवं रेवती नक्षत्र शुभ नक्षत्र हैं।

लग्न : 1,5, 8,10,11 राशिलग्न उत्तम हैं।

ग्राम निर्माण मुहूर्त

ग्राम निर्माण मुहूर्त में पुर- बस्ती- उपनिवेश इत्यादि बसाना तथा विधिवत् निर्माण करने के समय का निर्धारण होता है।[8] यथा-

मासः मेष(वैशाख), वृष(ज्येष्ठ), मिथुन (आषाढ) आश्विन(तुला), मार्गशीर्ष (वृश्चिक) पौष(मकर) माघ (मकर, कुम्भ), फाल्गुन(कुम्भ), चैत्र (मेष) आदि सौर चन्द्र मास शुभ होते हैं।

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्ल पक्ष की 2,3,5,7,10,11,12,13 तिथियाँ शुभ हैं।

वार : सूर्यवार, सोमवार, गुरुवार तथा शुक्रवार शुभ होते हैं।

नक्षत्र : अश्विन, रोहिणी, मृगशिरा, पुर्नवसु, पुष्य, तीनों उत्तरा, हस्त, अनुराधा, ज्येष्ठा, चित्रा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा एवं रेवती नक्षत्र शुभ नक्षत्र हैं।

---

7. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 215
8. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 215: वृहद्वास्तुमाला, श्लोक 10-12 पृ. 3

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गुर्वस्त शुक्रास्त, सिंह मकरस्थ व वक्री गुरु, क्षयाधिमास, क्षीण चन्द्र, भद्रा, दुष्टयोग अग्निबाण तथा लुप्ताब्दादि दोषों में ग्राम निर्माण का प्रारम्भ करना वर्ज्य है।

ग्राम वास चक्र (सूर्यभात्)

नक्षत्र	3	4	4	3	4	4	3	2
वत्सांग न्यास	मस्तक	अग्रपाद	पृष्ठपाद	पीठ	वम कुक्ष	दक्षिण कुक्ष	पुच्छ	नासिका
फल	श्री प्राप्ति	त्याग वध	स्थिरत्व	धन लाभ	दारिद्रय	धनागम	हानि	स्वामिक्षय
शुभाशुभ	शुभ	अशुभ	शुभ		अशुभ	शुभ	अशुभ	

मानव जीवन काल को ऋषि-मुनियों ने चार आश्रमों में विभाजित किया है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इनमें गृहस्थाश्रम को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। गृहस्थाश्रम की सुसम्पन्नता के लिए स्वीय-निकेतन का होना परमावश्यक है। क्योंकि स्वातिरिक्त अधिकार प्राप्त गृह में करिष्यमाण कर्म अपना यथेष्ट फल नहीं देते हं॥ कहा भी गया है-

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिध्यन्ति गृहं विना।

परगेहे कृताः सर्वाः श्रौत स्मार्त्त क्रियाः शुभाः॥

निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते॥[9]

अतः स्वाधिकार प्राप्त निवास स्थान का निर्माणारम्भ मुहूर्त का यहां उल्लेख किया गया है। **गोचर शुद्धि** गृहारम्भ मुहूर्त निर्णय में सर्वप्रथम गृहस्वामी की जन्मराशि से गोचरस्थ सूर्य, चन्द्र, गुरु और शुक्र का प्रबल होना अनिवार्य है इनके निर्बलत्व के फल इस प्रकार है।[10]

निर्बल ग्रह	सूर्य	चन्द्र	गुरु	शुक्र
फल	स्वामिनाश	स्त्रीनाश	सुखनाश	द्रव्यनाश

9. भविष्य पुराण
10. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 216

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

गृहारम्भ को और भी सरलीकृत करते हुए वर्ण परत्व गोचर फल का शोधन भी किया जा सकता है।[11]

वर्ण	विप्र	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
ग्रहबल	गुरु-शुक्र	सूर्य-मंगल	चन्द्र-बुध	शनि

गृहारम्भ में मास विचार- गृहारम्भोदित सौर चन्द्र मासों के सामञ्जस्य से विचार कर वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष सर्वदा शुभ होते हैं।[12] अन्य मासों का वर्णन निम्न हैं-

चन्द्रमास	चैत्र	ज्येष्ठ	आषाढ	भाद्रपद	अश्विन	कार्तिक	पौष	माघ	फाल्गुन
सौरमास	मेष	वृष	कर्क	सिहं	तुलार्क	वृश्चिक	मकर	मकर-कुम्भ	कुम्भ

अन्य मासों में कृष्ण पक्षादि तथा कार्तिक, माघ के कृष्णपक्ष में क्रमशः कन्या, धनु, संक्रान्तियों का प्रायः अभाव होने के कारण शुक्ल पक्षादि से इसकी प्रवृत्ति जाननी चाहिए।[13]

द्वार मुखानुसार मास ग्रहणः- जिस गृह का मुखपूर्व एवं पश्चिम में होता है उसको श्रावण, भाद्रपद, माघ, फाल्गुन सौरमास शुभ है तथा उत्तर-दक्षिणाभिमुखगृह का मुख वैशाख, ज्येष्ठ, कार्तिक, और मार्गशीर्ष सौरमास में शुभ है।[14]

पूर्व-पश्चिमाभिमुख	उत्तर दक्षिणाभिमुख
सौर श्रावण, भाद्रपद, माघ, फाल्गुन	सौर वैशाख, ज्येष्ठ, कार्तिक और मार्गशीर्ष

मेष, वृष, कर्क, सिंह, तुला, वृश्चिक, मकर और कुम्भ- इन राशियों के सूर्य में गृहारम्भ करना चाहिये। मिथुन, कन्या, धनु और मीन- इन राशियों के सूर्य में गृह-निर्माण आरम्भ नहीं करना चाहिये।

चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ, भाद्रपद, आश्विन, पौष और माघ- ये मास गृहारम्भ के लिये निषिद्ध कहे गये हैं। वैशाख, श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष और फाल्गुन - ये मास गृहारम्भ के लिये उत्तम कहे गये है।[15]

---

11. विश्वकर्मा प्रकाशअध्याय 1
12. भवन भास्करअध्याय 8,पृ.26
13. मुहूर्त चिन्तामणि 12.17
14. मुहूर्त चिन्तामणि 12.17, राजाभोज
15. वास्तुशास्त्र विमर्श पृ. 136

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूर्यमास से गृहारम्भ का फल		चन्द्रमास से गृहारम्भ का फल	
सूर्यमास	फल	चन्द्रमास	फल
मेष	शुभ फल	चैत्र	रोग और शोक की प्राप्ति
वृष	धन की वृद्धि	वैशाख	धन-धान्य, पुत्र तथा आरोग्य
मिथुन	मृत्यु	ज्येष्ठ	मृत्यु तथा विपत्ति प्राप्ति
कर्क	शुभ फल	आषाढ	पशुओं की हानि
सिंह	सेवकों की वृद्धि	श्रावण	पशु, धन और मित्रों की वृद्धि
कन्या	रोग	भाद्रपद	मित्रों का ह्रास, दरिद्रता तथा विनाश
तुला	सुख	आश्विन	पत्नी का नाश, कलह तथा लडाई झगडा
वृश्चिक	धन की वृद्धि	कार्तिक	पुत्र, आरोग्य एवं धन की प्राप्ति
धनु	महान हानि	मार्गशीर्ष	उत्तम भोज्य-पदार्थों की तथा धन की प्राप्ति
मकर	धन लाभ	पौष	चोरों का भय
कुम्भ	रत्न लाभ	माघ	अग्नि का भय
मीन	रोग तथा भय	फाल्गुन	धन तथा सुख की प्राप्ति और वंश की वृद्धि

ईट- पत्थर द्वारा निर्मित गृह में ही मास दोष का विचार करना चाहिए। घास- फूस एवं लकडी का घर बनाने में मासदोष नहीं लगता है।[16]

पक्षः गृहारम्भ में शुक्ल पक्ष ही ग्राह्य है। शुक्लपक्ष में गृहारम्भ करने से गृहस्वामी को सुख और कृष्णपक्ष में गृहारम्भ करने से उस घर में स्वामी को सदा चोरभय बना रहता है अर्थात् चोरी होने की सम्भावना सदा बनी रहती है। इस हेतु अपनी भलाई (कुशल) चाहने वाले गृहस्वामी इसका विचार कर ही गृहारम्भ करें।[17]

16. व्यवहार समुच्चय
17. वास्तु रत्नाकर 9.22

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तिथिः गृहारम्भ में द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी और पूर्णिमा ये तिथियां शुभ फल देने वाली होती है। किन्तु प्रतिपदादि में गृहारम्भ करने से दारिद्रय, चतुर्थी में धन की हानि, अष्टमी में उच्चाटन (उद्वेग), नवमी में अन्न-धननाश, चतुर्दशी में पुत्र और स्त्रियों का नाश तथा अमावस्या तिथि में राजभयजन्य अशुभादि फल प्राप्त होता है।[18] सारांश यह कि गृहारम्भ में 2,3,5,6,7,10,11,12,13,15(शु) तिथियां शुभ है और 1,4,8,9,14 तिथियाँ अशुभ होती है। **ज्योतिसारसंग्रह** अनुसार 5, 6,10,11 आदि तिथियाँ वर्ज्य है।[19] यथा-

अर्थनाशो भवेत् षष्ठ्याम् एकादश्यां विघट्टनम्।

पंचम्यां चौरभयाप्तिः स्याद् दशम्यान्तु नृपाद्भयम्।।

पूर्णमास्यां चार्थनाशो भार्यानाशस्तथैव च।।

मास शून्य, पक्ष छिद्रा एवं मलग्रहादि तिथियों का भी यथा सम्भव त्याग करना चाहिए।

वार : गृहारम्भ में रविवार और मंगलवार को छोडकर अन्य वारों में गृहारम्भ करना शुभ कहा गया है। अर्थात सोम, बुध, गुरु, शुक्र एवं शनिवार गृहारम्भ मे अति प्रशस्त कहे गये है।

नक्षत्र : गृहारम्भ के शुभ नक्षत्र में मतान्तर दृष्टिगोचर होता है। आचार्यों ने अपने मतानुसार नक्षत्र के समावेश गृहारम्भ में किया है। पाराशर के मतानुसार[20] अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, अनुराधा, मूल, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, उत्तराभाद्रपद और रेवती- ये नक्षत्र गृहारम्भ में श्रेष्ठ माने गये है। इन नक्षत्रों से अतिरिक्त अन्य नक्षत्रों में गृहारम्भ नहीं करना चाहिए।

योग : विष्कुम्भ, अतिगण्ड, शूल, गण्ड, व्याघात, वज्र, व्यतीपात, परिघ, और वैधृति योग त्याज्य हैं तथा अन्य योग ग्राह्य हैं।

करण : बव, तैतिल, गर, वणिज, शकुनि तथा किस्तुघ्न करण गृहारम्भ में प्रशस्त कहा है। तथा अन्य करण त्याज्य हैं।

शुभ लग्न : आचार्यों ने गृहारम्भ में एकमत होकर स्थिर एवं द्विस्वभाव लग्न राशि को प्रशस्त कहा

---

18. वास्तुशास्त्र विमर्श पृ. 136, मुहूर्त चिन्तामणि 12.16
19. अर्थनाशो भवेत् षष्ठयाम् एकादश्यां विघट्टनम्।
पंचम्यां चौरभयाप्ति स्याद् दशम्यान्तु नृपाद्भयम्।।
पूर्णमास्यां चार्थनाशो भार्यानाशस्तथैव च।। ज्योतिसारसंग्रह
20. मुहूर्त चिन्तामणि 12.18

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

है।

स्थिर लग्न : वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ हैं। किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि सिंह स्थिर लग्न होते हुए भी गृहारम्भादि में पूर्णतः अशुभ है। **द्विस्वभावलग्न**-मिथुन, कन्या, धन और मीन हैं। अतः ऐसी स्थित में सात लग्न गृहारम्भ हेतु दोष रहित एवं शुभ हैं।**लग्न शुद्धिः**3,6,11वें भाव में पापग्रह, शुभ स्थानों में शुभ ग्रह। 6,8 भाव रिक्त (कोई भी ग्रह न हो), दशमभाव में सबल सौम्य ग्रह हो। चन्द्रमा 1,6,8,12वेंभाव में न हो।

दिग्द्वारारम्भ चक्र (सप्तशलाका चक्र)

जिस दिशा में गृह का मुख्यद्वार रखा जाना है, उस दिशा वाले या उससे ठीक विपरीत दिशा वाले उपर्युक्त चक्र में लिखित नक्षत्रों में गृहारम्भ नहीं करना चाहिए। यथा- पूर्व या पश्चिम दिशा में मुख्यद्वार वाले गृह के आरम्भ के समय पूर्व या पश्चिम दिशा वाले चक्र में निर्दिष्ट नक्षत्रों कृत्तिकादि तथा अनुराधा आदि 7-7 नक्षत्रों में चन्द्रमा नहीं होना चाहिए। इनके अलावा अन्य नक्षत्रों में चन्द्र होने पर पूर्वाभिमुख या पश्चिमाभिमुख गृह का आरम्भ करना चाहिए।[21]

चन्द्रनक्षत्र तथा गृहनक्षत्र ये दोनों ही निम्न चक्र में एक ही दिशा वाले या परस्पर विरुद्ध दिशा वाले नक्षत्रों में हों तो भी गृहारम्भ नहीं किया जा सकता। यथा- कृत्तिकादि और अनुराधा आदि सात-सात नक्षत्रों में से कोई एक ही अथवा कोई दो अलग-अलग नक्षत्र चन्द्रनक्षत्र हों तो पूर्वद्वार या पश्चिम द्वार वाले गृह का आरम्भ अशुभ होता है। इसी प्रकार मघादि तथा धानिष्ठादि सात-सात नक्षत्रों में से कोई एक ही अथवा कोई दो अलग-अलग नक्षत्र चन्द्रनक्षत्र तथा गृहनक्षत्र हों तो दक्षिणद्वार या उत्तरद्वार वाले गृह का आरम्भ अशुभ होता हैं।

---

21. मुहूर्त चिन्तामणि 12.06

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सप्तशलाका चक्र

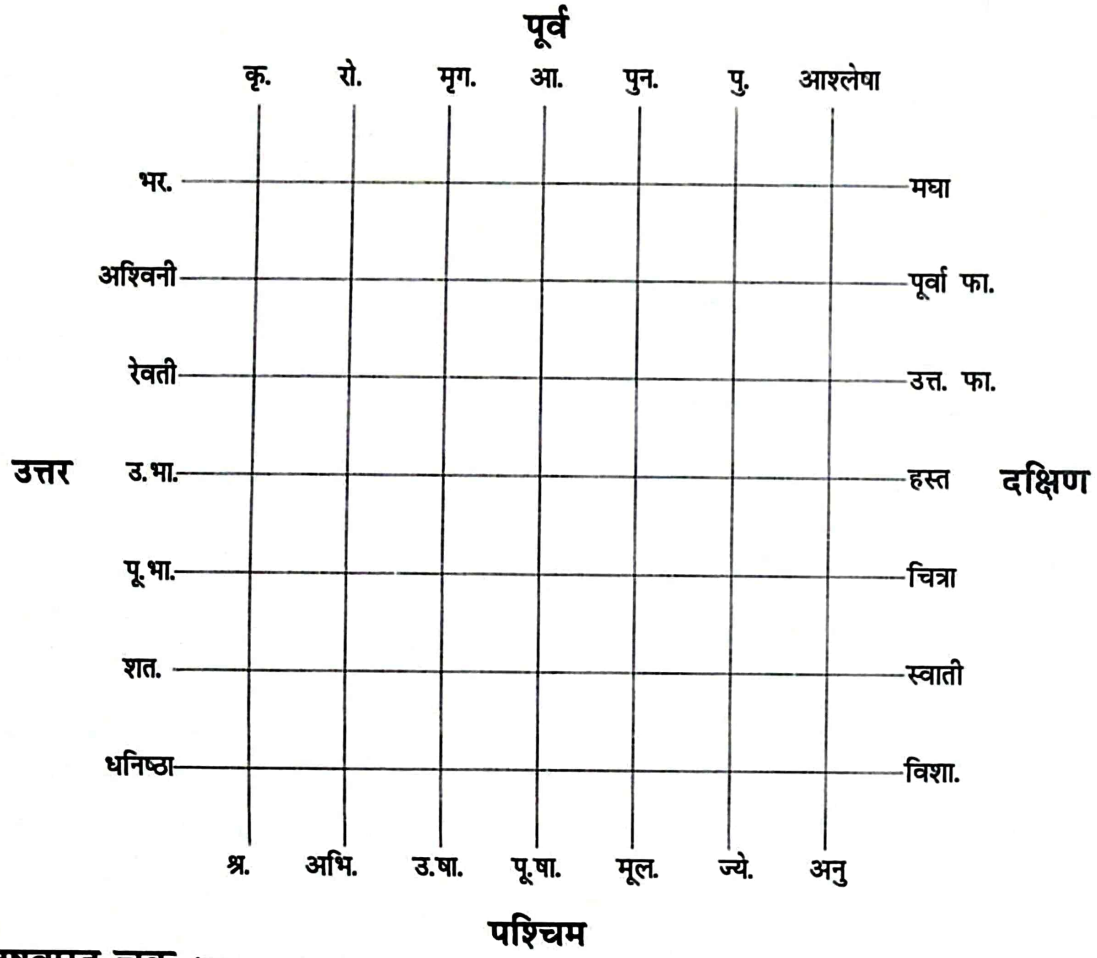

वृषवास्तु चक्र :-

गृहारम्भ के लिए वृषवास्तुचक्र पर भी विचार करना चाहिए। सूर्य जिस नक्षत्र पर स्थित हो वहां से 3 नक्षत्र शिर पर, उससे आगे के 4 नक्षत्र अगले पैरो पर होते हैं। ये सातों नक्षत्र क्रमशः अग्निदाह तथा शून्यफलकर्ता हैं। अतः इनमें गृहारम्भ नहीं करना चाहिए। इसके आगे के क्रमशः चार नक्षत्र पिछले पैर, तीन नक्षत्र पीठ तथा चार नक्षत्र दाहिनी कोख में रहतें है।इनमें गृहारम्भ करने से क्रमशः स्थिरता, धनप्राप्ति तथा लाभ प्राप्ति होती है। इन ग्यारह नक्षत्रें में ही गृहारम्भ करना चाहिए। इसके बाद शेष बचे तीन नक्षत्र पूंछ पर, चार नक्षत्र बायीं कोख में तथा तीन नक्षत्र मुख में होते हैं। इनका फल क्रमशः स्वामीनाश, दरिद्रता तथा पीडादायक रहता है अतः इन नक्षत्रों में भी गृहारम्भ नहीं करना चाहिए।[22]

22. मुहूर्त चिन्तामणि 12.13-14, वास्तुशास्त्र विमर्श अध्याय 23, पृ.123, वास्तुरत्नावली 9, पृ. 108

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

सूर्य नक्षत्र	3	4	4	3	4	3	4	3
अंग	मस्तक	अग्रपाद	पृष्ठपाद	पीठ	दक्षिण कुक्ष	पुच्छ	वाम कुक्ष	मुख
फल	दाह	शून्यता	स्थिरत्व	श्रीप्राप्ति	लाभ	स्वनाश	दारिद्रय	पीड़ा
शुभाशुभ	अशुभ		शुभ			अशुभ		

भूमिशयन : गृहारम्भ के समय भूमि सोयी हुई नही होनी चाहिए। इसका विचार हम निम्न प्रकार से करते हैं। सूर्य नक्षत्र से चन्द्र नक्षत्र पांचवाँ, सातवाँ, नवाँ, बारहवाँ, उन्नीसवाँ, तथा छब्बीसवाँ (5,7,9,12,19,26वां) होने पर भूमि का शयन रहता है।[23]

शकुन : गृहारम्भ के समय मांगलिक ध्वनि, वेद मंत्रों का उच्चारण, वैवाहिक गीत, आरती, शंख, घडियालों की ध्वनि तथा अपनी-अपनी दिशाओं में हो रहे शकुन शुभ रहते हैं। मन्द व शीतल बयार (हवा के झोंके), इष्ट जनों का सान्निधय, मन में उल्लास, परिवार में उत्साह, कर्णप्रिय समाचारों की प्राप्ति भी शुभ रहते हैं।[24]

स्वर : गृहारम्भ व शिलान्यास के समय वाम स्वर माना जाता है। अतः प्रयत्नपूर्वक वामस्वर प्रधान होनेपर ही गृहारम्भ करना चाहिए।

राहु खात दिशा निर्णयः

गृहारम्भ मुहूर्त शोधन के अन्तर्गत सर्वप्रथम ग्रह बल तथा मास शुद्धि देखकर वृषभ वास्तु चक्र द्वारा नक्षत्र चयन कर लेना चाहिए। साथ साथ पंचांग दोष तथा लग्न शुद्धि का विचार करके गृहारम्भ संज्ञक खातारम्भ करना चाहिए।[25]

विभिन्न सूर्य संक्रान्तियों में राहुमुख से पृष्ठवर्तिनी दिशा में घर की नींव खोदना शुभता का द्योतक है।

---

23. विश्वकर्म प्रकाश अध्याय 1.71-77
24. विश्वकर्म प्रकाश अध्याय 1.71-77
25. मुहूर्त चिन्तामणि 12.19, मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 220:

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

राहु मुखदिशा	आग्नेय	नैऋत्य	वायव्य	ईशान
सूर्य राशि	2 , 3 , 4	11 , 12 , 1	8 , 9 , 10	5 , 6 , 7
खातदिशा	नैऋत्य	वायव्य	ईशान	आग्नेय

विश्वकर्मा द्वारा कहा गया है कि कालसर्प का मुख ईशान में, उदर वायव्य में, पुच्छ नैऋत्य में मानी गई है अतः सामान्य रूप से अग्निकोण ही खात के लिए सर्वदा ग्राह्य है।

शिलान्यास मुहूर्त

गृहारम्भ की शुभ बेला में खनित नींव को प्रस्तुत शिलान्यास मुहूर्त के दिन विधिवत् पत्थरों से पूरित कर देना चाहिए। तदर्थ ग्राह्य तिथ्यादि शुद्धि इस प्रकार है।[26]

तिथि : 1(कृष्ण पक्ष), 2,3,5,7,10,11,12,13(शुक्ल पक्ष) तिथियाँ शुभ होती है।

वार : सोमवार, बुधवार, गुरुवार शुक्रवार तथा शनिवार शुभ होते है।

नक्षत्र : आश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुर्नवसु, तीनों उत्तरा, हस्त, श्रवण एवं रेवती नक्षत्र शुभ नक्षत्र है।

सम्यक् समय में ब्रह्मा, वास्तुपुरुष, पंचलोक पाल, कर्म, गणेश तथा स्थान देवताओं का शिष्टाचार पूर्वक पूजन एवं स्वस्ति पुण्याहवाचनादि के साथ तथा स्वर्ण एवं गंगादि पुण्य स्थानों की रेणु सहित मुख्यशिला का उचित कोण में स्थापना करे। तदन्तर प्रदक्षिण क्रम से अन्य पत्थरों को जमाने का कार्य करें।

अलिन्द निर्माण मुहूर्त[27]

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्ल पक्ष की 2,3,5,6,7,8,10,11,12,1315 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : सोमवार, बुधवार, गुरुवार शुक्रवार तथाशनिवार शुभ होते हैं।

नक्षत्र : अश्विनी, भरणी, कृतिका, रोहिणी, आर्द्रा, मृगशिरा, आश्लेषा, पुर्नवसु, पुष्य, तीनों उत्तरा , हस्त, अनुराधा, ज्येष्ठा, श्रवण, शतभिषा एवं रेवती नक्षत्र शुभ नक्षत्र है।

---

26. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 220: विश्वकर्म प्रकाश अध्याय 4.55
27. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 224

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

अलिन्द चक्र

साभिजित् नक्षत्र	4	3	4	3	4	3	4	3
फल	शून्यता	कल्याण	अग्निभय	बुद्धिमान	भय	राजसुख	चौरभय	सौम्य

गाँव में पंचायत के लिए सभास्थल के निर्माणार्थ भी यही काल शुद्धि उपयुक्त है।

द्वार स्थापना मुहूर्त

मुख्य द्वार हमारे जीवन को सर्वदा प्रभावित करता है इसलिए इसका निर्माण पूर्णतया शास्त्र सम्मत होना चाहिए। भवन में एक ही द्वार बनाना अभीष्ट हो तो पूर्व में ,दो द्वार अभिष्ट हों तो पूर्व और पश्चिम में , तीन द्वार अभीष्ट होने पर पूर्व, पश्चिम व उत्तर में तथा चार द्वार अभीष्ट हों तो चारों दिशाओं में द्वार बनाना शुभ रहता है। यथा सम्भव दक्षिण में द्वार से बचना चाहिए। द्वार निर्माण व चौखट लगवाने में भी व्यक्ति को मुहूर्त का ध्यान रखते हुए काल शुद्धि पर विचार करना चाहिए। उचित दिशा में द्वार निर्माण व चौखट स्थापन में उपयुक्तकाल शुद्धि का विचार करें।[28]

वार : सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार शुभ होते हैं।

तिथि : पंचमी, सप्तमी, अष्टमी, नवमीतिथियाँ शुभ होती हैं।

नक्षत्र : अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, तीनो उत्तरा, हस्त, स्वाति, श्रवण, रेवती नक्षत्र शुभ नक्षत्र है।

लग्न : स्थिरलग्न या द्विस्वभाव शुभ होते हैं।

करण : भद्रा छोड़कर अन्य शुभ हैं।

कुयोग, निर्बलचन्द्र, मासान्तदिन में द्वार स्थापन वर्ज्य है। चन्द्र शुभ नक्षत्र में हो।

द्वारचक्र- सूर्य नक्षत्र का ज्ञान कर अभीष्ट दिन (जिस नक्षत्र में स्थापना करना हो)के नक्षत्र तक गिनने से प्राप्त नक्षत्र, सूर्य नक्षत्र से पहले 4 नक्षत्र शुभ उससे अगले 8 नक्षत्र अशुभ उससे अगले आठ नक्षत्र शुभ तीन नक्षत्र अशुभ तथा चार नक्षत्र शुभ माने गए है।[29]

---

28. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 224
29. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 225:गृहरत्न भूषण पृ. 76

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

द्वार देहली चक्र

सूर्यभात् नक्षत्र	4	8	8	3	4
फल	श्रीप्राप्ति	निर्धनता	सुखप्राप्ति	निधन	सौख्य
स्थान	शिर	चतुष्कोण	चतु. शाखा	देहली	अवकाश

गृहाच्छादन (छत डालने का) मुहूर्त[30]

गृहारम्भ में छत निर्माण करते समय मुहूर्तों में पांच बाणों का विचार किया जा सकता है।ये हैं-

1.रोग, 2.अग्नि, 3.नृप, 4.चोर, 5 मृत्यु।

सूर्य के भुक्तांश को अलग-अलग 5 स्थानों पर रखकर क्रमशः उनमें 6,3,1,8,4 जोड़कर 9 का भाग देने से यदि 5 शेष बचे तो उपर्युक्त क्रम वाला बाण होता है। सभी शेषांकों के योग में 9 का भाग देने से शेष 5 बचे तो सशल्य बाण होता है। अग्निबाण के होने पर उस समय गृहारम्भ नहीं करना चाहिए। कुछ आचार्यो के मत से लकड़ी से अतिरिक्त सामग्री द्वारा छत डालने के समय ही अग्निबाण का समय त्यागना चाहिए। तृण निर्मित गृह में धनिष्ठा पंचक त्याज्य है।

तिथि : शुक्लपक्ष की 2,3,5,7,8,10,12,13 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : चं. बु. गु. शु.। मतान्तरेण सु. श. शुभ।

नक्षत्र : अश्वि.,रो., मृ., आ., पु., आश्लेषा, उत्तरा. 3, ह., चि., अनु., मू., श्र. नक्षत्र शुभ होते है।

लग्न : 2,3,4,6,7,9,12 राशि का लग्न तथा जब केन्द्र शुभ ग्रह से युत हो।

स्तम्भारोपण मुहूर्त

मनुष्य जब गृह निर्माण करता है तो वह चिरकाल तक घर की स्थिरता की कामना करता है। गृह को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिए उसका आधार(स्तम्भ) दृढ़ होना चाहिए। अतः स्तम्भारोपण का समय भी उपयुक्त हो, इसलिए मुहूर्त का विचार अवश्य करना चाहिए।[31] यथा-

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्लपक्ष की, 2,3,5,6,7,8,10,11,12,13 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : चं. बु. गु. शु. शुभ होते हैं।

---

30. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 225
31. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 225:विश्वकर्म प्रकाश अध्याय 4.55

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

नक्षत्र : रो. पु. उत्तरा. 3 धनि. शत. तथा गृहारम्भोक्तनक्षत्र शुभ नक्षत्र है।

विशेष- घर में स्तम्भों की संख्या सम (4,6,8,10 आदि) होनी चाहिये। पंचक, भद्रा तथा कुयोगों से रहित दिन को अग्निकोण में प्रथम स्तम्भारोपण करना चाहिये।

स्तम्भ चक्र-सूर्यार्क्ष से चन्द्रार्क्ष तक साभिजित् गणना और फल-

नक्षत्र	6	20	2
फल	अशुभ	शुभ	अशुभ

गृह-सज्जामुहूर्त [32]

गृह निर्माण सम्पूर्ण हो जाने पर उसे नाना प्रकार से सुशोभित करना चाहिये। तदन्तर कुछ रमणीक चित्रादि बनाने चाहिए जिससे व्यक्ति का मन शांत हो तथा घर आने के पश्चात् सुखानुभूति हो, व्यक्ति स्वतः स्फूर्त हो जाए। ऐसे चित्र कदापि नहीं लगवाने चाहिए जिससे मन उद्वेलित हो जाए। व्यक्ति को देखा-देखी नहीं अपितु स्वविवेक से वास्तुसम्मत चित्रों को दीवारों पर लगाना चाहिए।

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्ल पक्ष की 6,11 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : चं. बु. गु. शु. शुभ होते है।

नक्षत्र : अश्वि. रो. मृ. पुन. पु. ह. चि. स्वा. अनु. पूषा. श्र. ध. श. रे. नक्षत्र शुभ नक्षत्र है।

विशेष-रामायण के चित्र घर मे कभी नहीं बनवाने या लगवानें चाहिये। यथा-

चित्रं नानाविधं रम्यं शिल्पी रामायणं बिना। (मुहूर्तगणपति)

पुनश्च, महाभारतादि युद्ध के दृश्य खड्ग, इंद्रजाल, पर्वत-वन युक्त दृश्य, राक्षस सम्बन्धी भयानक चित्र व दीन, नम्र, रुदित नर-नारी और सूअर, व्याघ्र, चीता, सियार, सर्प, गिध, उल्लू, कबूतर, खरगोश, हिरण, गोह एवं बाज पक्षी के चित्र गृह की दीवारों में नहीं बनवाने चाहिये अपितु ये तो मंदिर, मठ, विशाल-भवन, तथा दर्शनीय स्थानों में ही शोभनीय होते हैं।

वंदनमाल बन्धन मुहूर्त

नगर, ग्राम, निकेतनादि को वंदनमालिका से वेष्टित करने तथा नाना प्रकार से सुशोभित करना चाहिये। वंदनमालिका बन्धन में संयोज्य-कालशुद्धि निम्न प्रकार से करें।[33]

32. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 225
33. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 226

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्ल पक्ष की 2,3,5,7,10,11,13 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : सूर्य, चंद्र, गुरु, शुक्रवार शुभ होते हैं। बुध, शनि मध्यम होते हैं।

नक्षत्र : अश्वि. रो. मृ. पु.उत्तरा. 3 ह. चि. अनु. ज्ये. श्र. रे. नक्षत्र शुभ नक्षत्र है।

चूल्हा स्थापना-मुहूर्त[34]

तिथि : कृष्ण प्रतिपदा तथा शुक्लपक्ष की 2,3,5,6,7,8,10,11,12,13,15 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : चं. बु. गु. शु. शुभ होते हैं।

नक्षत्र : अश्वि. रो. मृ. पु.उत्तरा. 3 ह. चि. स्वा. अनु. श्रवणनक्षत्र शुभ नक्षत्र हैं।

विशेष नक्षत्र शोधन - (रविभाद साभिजित् गणना)

संख्या	6	4	8	5	2	3
फल	श्रेष्ठ	नेष्ट	श्रेष्ठ	नेष्ट	श्रेष्ठ	नेष्ट

घर में देव प्रतिष्ठा मुहूर्त[35]

मास : उत्तरायण तथा गुरु–शुक्रोदय युक्त मास ग्राह्य हैं।

तिथि : शुक्ल पक्ष की 2,3,5,7,10,11,12,13 तिथियाँ शुभ होती हैं।

वार : सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, शुक्र, शनिवार शुभ होते हैं।

नक्षत्र : मघा व उत्तराषाढ़ा वर्जित, अन्य नक्षत्र ग्राह्य हैं।

विशेष- गृहाधिपति का चन्द्र प्रबल होना चाहिए।

अतः सार रूप से यह सिद्ध होता है कि वास्तुशास्त्र के प्रत्येक कार्य को शुभारम्भ करने के लिए मुहूर्तशास्त्र की प्रत्येक पग पर आवश्यकता पड़ती है क्योंकि वास्तुशास्त्र के प्रत्येक कार्य में समय अथवा काल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक मनुष्य को गृह निर्माण करते हुए उपर्युक्त प्रकार से सभी मुहूर्तों का विचार आवश्यक रूप से करना चाहिए तभी मनुष्य सुखी रह सकता है।

---

34. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 226
35. मुहूर्त पारिजात, प्रतिष्ठाकाण्ड, पृ. 237

CC-0. In Public Domain. Digtized by Muthulakshmi Research Academy

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

CC-0. In Public Domain. Digitized by Muthulakshmi Research Academy